नाम-भक्ति :
गोस्वामी तुलसीदास

राधास्वामी सत्संग ब्यास

नाम-भक्ति :
गोस्वामी तुलसीदास

काशीनाथ उपाध्याय
पंचानन उपाध्याय

राधास्वामी सत्संग ब्यास

समर्पण

मोरें तुम्ह प्रभु गुर पितु माता।
जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता॥
बालक ग्यान बुद्धि बल हीना।
राखहु सरन नाथ जन दीना॥

मानस, 7.17(ख) 2-3

अन्नपूर्णा ®
Charitable Trust
WZ-5A/1, Ram Nagar,
Choukhandi Chowk,
New Delhi-110018

विषय सूची

प्रकाशक की ओर से 11
प्रस्तावना 13

प्रथम खंड
गोस्वामी तुलसीदास : जीवन और शिक्षा

जीवन 29
तुलसी की शिक्षा की गूढ़ता 48
रामकथा के माध्यम से संतमत के गूढ़ रहस्य का उपदेश 48
मानस नाम का गूढ़ अर्थ 54
मानस की प्रचलित व्याख्या 59
राम से तुलसी का तात्पर्य 67
मन, इंद्रिय, बुद्धि और वचन से परे अविनाशी राम 68
अपने अंशमात्र से अनेकों त्रिदेवों को
उत्पन्न करनेवाला जगत-कर्ता 71
अनादि, अनंत, परम प्रकाशमय और आनंदमय राम 79
राम : अनामी स्वरूप 82
राम : चराचर-स्वामी 84
राम : दयाल पुरुष 87
दीनदयाल, भक्तवत्सल, प्रणतपाल और पतित-पावन राम 90
सर्वव्यापी राम 97
हमारे अंदर ही राम का निवास 99
हृदय-निवासी राम को हृदय में बसाने की प्रार्थना क्यों? 101
अब मन निर्मल कैसे हो? इसके विकार कैसे दूर हों? 103

बंधन 105
जीव के बंधन का कारण 105
बंधन में पड़े जीव की दुर्दशा 108
मन और माया की प्रबलता 115
संसार का भ्रमजाल 130
कर्म का अटल नियम 137
मानव जीवन : बंधन से छूटने का दुर्लभ अवसर 143
मानव जीवन की दुर्लभता 143
मानव जीवन की क्षणभंगुरता 148
मानव जीवन की सार्थकता 150
मानव जीवन की निरर्थकता 157
निर्मल जीवन: परमार्थ का आवश्यक अंग 161
सतगुरु 169
सतगुरु और परमात्मा की एकरूपता 169
परमात्मा की प्राप्ति के लिए सतगुरु की आवश्यकता 175
संत-सतगुरु के लक्षण 188
संत-असंत का अंतर 202
संत-सतगुरु से मिलाप का फल 207
सत्संग 213
संगति का प्रभाव 213
सत्संग की महिमा 216
नाम 226
नाम का रहस्य 226
नाम की महिमा 245
नाम का सुमिरन और भजन 257
भजन-सुमिरन से रहित जीव 267

भक्ति 271
भक्ति ही प्रभुप्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन 271
भक्ति की श्रेष्ठता के कारण 278
ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता 288
मुक्ति भक्ति की चेरी 300
सेवक स्वामी भाव 305
प्रीति की रीति 314
मन का नियंत्रण 330
मन की चंचलता और इसे रोकने का उपाय 330
मन के रोग और उनकी दवा 336
कर्मकांड, बाहरी आडंबर और जाति-पाँति 342
कर्मकांड की निरर्थकता 343
बाहरी आडंबर और गृहत्याग की व्यर्थता 352
जाति-पाँति की निस्सारता 357
निष्कर्ष 362

द्वितीय खंड
कुछ संकलित पद

कुछ संकलित पद 367
मानव जीवन 367
भक्ति 378
नाम 388

पदानुक्रमणिका 401
परमार्थ संबंधी पुस्तकें 403

प्रथम खंड

गोस्वामी तुलसीदास : जीवन और शिक्षा

जीवन

संत उदय संतत सुखकारी। बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी॥

मानस, 7.120(ख).11

(जैसे चंद्रमा और सूर्य का उदय संसार के लिए सुखदायी होता है, वैसे ही संतों का आगमन भी संसार के लिए सदा सुखकारक होता है।)

वास्तव में संत ही सच्चे परोपकारी होते हैं। वे जीवों को सच्ची भक्ति सिखलाकर और उन्हें जन्म-मरण के चक्कर से छुड़ाकर परमात्मा से मिलाते हैं। जीवों के कल्याण के लिए संतजन सदा संसार में आते रहते हैं। संत तुलसीदास जी भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए संसार में आए थे।

संत-महात्माओं के जीवन के बारे में यथार्थ और प्रामाणिक जानकारी बहुत कम मिलती है क्योंकि वे अपने आप को समाज की मान-बड़ाई से अलग रखते हैं। इसी लिए लोगों को उनके व्यक्तिगत जीवन के बारे में विशेष पता नहीं चल पाता। वे न तो अपनी आत्मकथा स्वयं लिखते हैं और न दूसरों को इसके लिए प्रेरणा देते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। फिर भी उनकी रचनाओं में प्रसंगवश कुछ छिटपुट घटनाओं का उल्लेख मिलता है जिससे उनके जीवन की कुछ जानकारी प्राप्त होती है।

तुलसीदास जी के जीवन के संबंध में अनेक भक्तों और विद्वानों ने लिखा है। उन्होंने तुलसीदास जी के जन्म के संबंध में तीन संवतों का उल्लेख किया है: संवत् 1554, 1583 और 1589। अधिकांश विद्वान जॉर्ज ग्रियर्सन की खोज के आधार पर निश्चित किए गए संवत् 1589 (सन 1532) को ही अब तुलसीदास जी का जन्म-संवत् मानने लगे हैं। यह जन्म-संवत् तुलसीदास जी के मृत्युकाल, संवत् 1680 (सन 1623) के अधिक अनुकूल लगता है जो प्राय: सर्वसम्मति से स्वीकृत है। उनके मृत्युकाल के संबंध में यह दोहा प्रसिद्ध है:

सम्वत् सोरह सै असी, असी अंग के तीर।
सावन सुकला सप्तमी, तुलसी तजेऊ सरीर॥

घट रामायण के रचयिता परमसंत तुलसी साहिब के निम्नलिखित दोहे से भी इसी मृत्यु-तिथि की पुष्टि होती है:

सम्मत सोलासै असी, नदी बरुन[1] के तीर॥
सावन सुकला सप्तमी, तुलसी तज्यो सरीर॥
घट रामायण, भाग2, पृ. 188

घट रामायण द्वारा गोस्वामी तुलसीदास जी के जन्म-संवत् 1589 की भी पुष्टि होती है:

संबत पंद्रा सै नावासी। भादौं सुदी मंगल एकादसी॥...
राजापुर जमुना के तीरा। जहँ तुलसी का भया सरीरा॥
घट रामायण, भाग2, पृ. 186

1. असी और बरुन नदियाँ गंगा नदी में ही मिलती हैं और इन दोनों के बीच बसे होने के कारण काशी का प्राचीन नाम 'वाराणसी' है।

इस जन्म-संवत् को स्वीकार करने पर घट *रामायण* के उक्त पद के अनुसार भादों सुदी मंगल एकादशी तुलसीदास जी की जन्म-तिथि मानी जा सकती है।

तुलसी साहिब के उक्त पद से यह भी पता चलता है कि तुलसीदास जी का जन्म यमुना नदी के तट पर स्थित राजापुर नामक स्थान में हुआ था। यह स्थान उत्तरप्रदेश के वर्तमान बाँदा ज़िला के अंदर आता है। अधिकांश विद्वान इस विचार से सहमत हैं।

तुलसीदास जी की माता का नाम हुलसी और पिता का नाम आत्माराम दुबे प्रसिद्ध है। *विनय-पत्रिका* में उन्होंने संकेत किया है कि उनका ब्राह्मण परिवार में जन्म हुआ था।

दियो सुकुल जनम, सरीर सुंदर, हेतु जो फल चारि को।
विनय-पत्रिका 135.1

यहाँ 'सुकुल' (सुंदर या उत्तम कुल) ब्राह्मण कुल का सूचक लगता है। तुलसीदास जी के जन्म लेने के तुरंत बाद ही उनकी माता का देहांत हो गया और उनके पिता भी उन्हें अबोध बालपन में ही छोड़कर चल बसे। उन्होंने अपनी रचनाओं में कई जगह इस बात का संकेत किया है। *कवितावली* में वह कहते हैं:

मातु-पिता जग जाइ तज्यो, बिधिहुँ न लिखी कछु भाल भलाई।
कवितावली, उत्तरकाण्ड 57

इनके माता-पिता की मृत्यु के बाद चुनियाँ नामक एक दाई ने उन्हें अपने पास रखा पर वह भी थोड़े समय के बाद चल बसी।

माता-पिता के बचपन में ही मर जाने से उनका विधिवत नामकरण भी शायद किसी ने नहीं किया था। वह बचपन में राम-राम कहा करते थे। इसी से संभवत: लोग उन्हें 'रामबोला' या 'रामबोलवा' कहने लगे। तभी तो वह कह उठते हैं कि यह 'रामबोला' नाम मेरे प्रभु राम का ही दिया हुआ है। लगता है, शिष्य बनने के बाद उनके गुरु ने उनका नाम

रामबोला से बदलकर तुलसीदास रखा होगा क्योंकि गुरु को तो उन्होंने अपना नाम 'रामबोला' ही बताया था और कहा था कि मैं राम का ग़ुलाम हूँ तथा मेरा काम बस यही है कि कभी-कभी दो-चार बार राम का नाम ले लेता हूँ:

राम को गुलाम, नाम रामबोला राख्यौ राम,
काम यहै, नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं।

विनय-पत्रिका 76

कवितावली में भी उन्होंने अपने इस नाम का उल्लेख किया है:

रामबोला नामु, हौं गुलामु राम साहि को॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 100

विनय-पत्रिका के ऊपर दिए गए पद से यह भी पता चलता है कि गुरु से मिलने के समय तक उनके मन में विवाह की कोई चाह नहीं थी। लोग उन्हें नीची निगाह से देखते थे। वह जाति-पाँति से कोई मतलब नहीं रखते थे। उनका अपना कोई सगा-संबंधी भी नहीं था और वह निष्कपट भाव से शीघ्र गुरु की शरण लेने को तैयार थे। गुरु की कृपा हुई। उन्होंने दयापूर्वक इनकी पीठ थपथपाई और सेवक को सुखी बनाने की अपनी टेक को निभाते हुए उन्हें बाँह से पकड़कर अपना लिया:

बूझ्यौ ज्यौं ही कह्यो, मैं हूँ चेरो ह्वै हौ रावरो जू
मेरो कोऊ कहूँ नाहिं, चरन गहत हौं।
मींजो गुरु पीठ, अपनाइ गहि बाँह, बोलि
सेवक-सुखद, सदा बिरद बहत हौं॥
लोग कहैं पोच, सो न सोच न सँकोच मेरे
ब्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हौं।

विनय-पत्रिका 76

तुलसीदास जी का अपने सतगुरु से मिलाप बाल्यावस्था में ही हुआ। उन्हें दु:खी देखकर गुरु ने उन्हें बहुत दिलासा दिया और बताया कि शरण में आ जाने पर परमात्मा बड़े से बड़े पापियों की भी सँभाल कर लेता है। यद्यपि तुलसीदास जी को गुरु के प्रति अभी पूरी प्रीति-प्रतीति नहीं हुई थी, फिर भी गुरु से नाम प्राप्त करके और अपने आप को उन्हें समर्पित करके वह सुखी हो गए। तुलसीदास जी कहते हैं कि यह नाम का ही प्रताप था कि उन्हें नीचा समझनेवाले लोग बाद में उनकी महिमा को देखकर लज्जित होने लगे तथा उन्हें ईर्ष्या की दृष्टि से देखने लगे:

दुखित देखि संतन कह्यो, सोचै जनि मन माहूँ।
तोसे पसु-पाँवर-पातकी परिहरे न सरन गये, रघुबर ओर निबाहूँ॥
तुलसी तिहारो भये भयो, सुखी प्रीति-प्रतीति बिनाहूँ।
नाम की महिमा, सील नाथ को,
मेरो भलो बिलोकि अब तें सकुचाहुँ, सिहाहूँ॥

विनय-पत्रिका 275

तुलसीदास जी को नाम का भेद देकर कृतार्थ करनेवाले यह गुरु कौन थे और किस गुरु-परंपरा के थे, इस संबंध में तुलसीदास जी के जीवन-चरित्र लिखनेवालों में कुछ मतभेद हैं। पर जब हम *रामचरितमानस* के प्रारंभ में तुलसीदास जी द्वारा की गई गुरु-वंदना पर विचार करते हैं, तब हम पाते हैं कि उन्होंने बड़े ही सुंदर ढंग से इसमें अपने गुरु के नाम और उनके स्वरूप का संकेत कर दिया है। वह कहते हैं:

बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि।

मानस, 1.सोरठा 5

गुरु के प्रति असीम श्रद्धा और भक्ति भाव होने के कारण वह अपने गुरु नरहरिदास जी का नाम स्पष्ट न लेकर इसका संकेत नर और हरि के बीच रूप शब्द डालकर करते हैं। साथ ही यह कहते हुए कि वह कृपा के

समुद्र तथा मनुष्यरूप में साक्षात् परमात्मा हैं, वह अपने गुरु का वास्तविक स्वरूप भी बता देते हैं। यही नरहरिदास नरहर्यानन्द के नाम से प्रसिद्ध हैं जो स्वामी रामानन्द जी के शिष्य स्वामी अनन्तानन्द जी के शिष्य माने जाते हैं।

रामानन्द जी के प्रसिद्ध बारह शिष्य-प्रशिष्यों में कबीर, रैदास, पीपा आदि के साथ अनन्तानन्द और नरहरि का भी नाम आता है। इन शिष्य-प्रशिष्यों का नाम गिनाते हुए नाभादास जी ने रामानन्द जी की तुलना स्वयं राम से की है और कहा है कि जैसे राम ने समुद्र को पार करने के लिए पुल बनवाया, वैसे ही रामानन्द जी ने भी भक्तजनों को संसार-सागर से पार ले जाने के लिए अपने अनेक शिष्य-प्रशिष्यों का एक दूसरा पुल खड़ा कर दिया:

अनन्तानन्द कबीर सुखा सुरसुरा पद्मावति नरहरि।
पीपा भवानन्द रैदास धना सेन सुरसुर की धर हरि॥
औरो शिष्य प्रशिष्य एक ते एक उजागर।
विश्व मंगल आधार सर्वानन्द श्रधा के आगर॥
बहुत काल बपु धारि कै प्रणत जनन कौ पार दियो।
श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियो॥

भक्तमाल, पृ. 32

भक्तमाल के अनुसार नरहरिदास जी अनन्तानन्द जी के शिष्य थे।

अनन्तानन्द पद परिस के लोकपाल एते भए॥
योगानन्द गयेश करमचन्द अल्ह पैहारी॥
सारी रामदास श्रीरंग अवधि गुण महिमा भारी॥
तिनके नरहरि उदित मुदित महा मंगलातन॥

भक्तमाल, पृ. 32

उक्त छप्पय की अंतिम पंक्ति में प्रयुक्त 'तिनके' शब्द से कुछ लोग 'अनन्तानन्द जी का' अर्थ न कर 'श्रीरंग जी का' अर्थ करते हैं और इस

प्रकार नरहरिदास जी को अनन्तानन्द जी का प्रत्यक्ष शिष्य न मानकर उनके शिष्य श्रीरंग जी का शिष्य मानते हैं। पर बाबा वेणी माधवदास रचित मूल गुसाईं चरित में नरहरिदास या नरहर्यानन्द को अनन्तानन्द का ही शिष्य माना गया है।

प्रिय शिष्य अनन्तानन्द हते। नरहरियानन्द सुनाम छते।

मूल गुसाईं चरित

इस प्रकार कबीर साहिब, गुरु रविदास, पीपा जी आदि की तरह तुलसीदास जी भी रामानन्द जी की ही प्रभावशाली शिष्य परंपरा से संबंधित सिद्ध होते हैं।

गुरु की शरण में आने के बाद गुरु की कृपा से तुलसीदास जी का प्रभुप्रेम जाग उठा। वह गुरु के साथ ही रहने लगे। बाल्यावस्था में अपने गुरु के मुख से ही उन्होंने गंगा के तट पर स्थित शूकर क्षेत्र में रामकथा सुनी थी। उस समय उनकी बुद्धि पूरी विकसित नहीं हुई थी। जैसा कि वह स्वयं लिखते हैं:

मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥

मानस, 1.30(क)

गुरु के साथ रहने के कारण उन्हें बार-बार उनसे रामकथा सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जिससे रामायण का गूढ़ रहस्य कुछ-कुछ उनकी समझ में आया।

तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥

मानस, 1.30(ख).1

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कितने वर्षों तक वह गुरु के पास रहकर अध्ययन करते रहे। अनुमान किया जाता है कि वह क़रीब पंद्रह साल तक गुरु के पास रहे और उन्होंने वेद, वेदांत, दर्शन, पुराण आदि

का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लिया। उनकी रचनाओं से उनके सूक्ष्म शास्त्र-ज्ञान, अद्‌भुत पांडित्य और विलक्षण काव्य-प्रतिभा का स्पष्ट परिचय मिलता है।

कहा जाता है कि गुरु की मृत्यु के बाद युवा तुलसीदास अपने जन्म-स्थान राजापुर लौटे। तब तक उनके कुल-परिवार के प्राय: सभी जाने-पहचाने व्यक्तियों का देहांत हो चुका था। युवा तुलसीदास ग्रामवासियों के आग्रह पर कुछ समय राजापुर में ही रहे। इसी बीच उनका विवाह तारपिता नामक गाँव में दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ। विवाह के बाद तुलसीदास जी अपनी जीविका चलाने के लिए खेती और कुछ अन्य व्यवसाय करने लगे। निम्नलिखित पद से इस बात का संकेत मिलता है:

मध्य बयस धन हेतु गँवाई, कृषी बनिज नाना उपाय।

विनय-पत्रिका 83

शुरू में तुलसीदास जी को अपनी पत्नी के प्रति बहुत ही आसक्ति थी। कहा जाता है कि एक बार अपनी पत्नी के मायके चले जाने पर तुलसीदास इतने आतुर हो उठे कि वह वर्षाकाल की रात में एक मुर्दे के सहारे नदी को पार करके अपने ससुराल चले गए। इस घटना का उल्लेख रानी कमलकुँवरि देव जी ने अपनी पुस्तक *गोस्वामी तुलसीदास का काव्य और जीवन-चरित* में इस प्रकार किया है:

बनिता से अति प्रेम लगायो। नैहर गई सोच उर छायो॥
सुरसरि पार गये घबराई। एक मुरदा की नाव बनाई॥

गोस्वामी तुलसीदास का काव्य और जीवन-चरित पृ.49

अपने पति को ऐसी स्थिति में इतनी व्यग्रता के साथ आया देख उनकी पत्नी को बहुत ही लज्जा आई। उन्होंने कुछ रूखे स्वर में तुलसीदास जी के वासनात्मक प्रेम की तुच्छता बताते हुए इस आशय की बात कही:

काम वाम की प्रीति जग, नित नित होत पुरान।
राम प्रीति नित ही नई, वेद पुरान प्रमान॥
लाज न लागत आपको, दौरे आयहु साथ।
धिक् धिक् ऐसी प्रीति को, कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि चर्ममय देह मम, तामें ऐसी प्रीति।
तैसी जौं श्रीराम महँ, होति न तौ भवभीति॥

श्रीभक्तमाल सटीक, भक्ति सुधास्वाद तिलक, पृ.766

पत्नी की इस फटकार का तुलसीदास के दिल पर गहरा असर हुआ। उनकी मनोदशा पलट गई और वह मन ही मन आजीवन प्रभुभक्ति का व्रत लेकर उलटे पाँव काशी लौट आए। वेणी माधवदास ने अपने मूल गुसाईं चरित और रघुबरदास ने अपने तुलसी चरित में भी इस वृत्तांत का उल्लेख किया है।

अनुपम रामभक्ति की धारा बहानेवाली अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *रामचरितमानस* का प्रारंभ तुलसीदास ने अपने सतगुरु के चरण-कमलों का ध्यान करके संवत् 1631 में किया। जैसा कि वह लिखते हैं:

श्रीगुरु चरन सरोज रज निज मनु मुकुरु सुधारि।[1]
बरनउँ रघुबर बिमल जसु जो दायकु फल चारि[2]॥

मानस, 2 दोहा

एहि बिधि सब संसय करि दूरी। सिर धरि गुर पद पंकज धूरी॥

मानस, 1.33.1

संबत सोरह सै एकतीसा। करउँ कथा हरि पद धरि सीसा॥

मानस, 1.33.2

---

1. **श्रीगुरु...सुधारि**=श्री गुरु जी के आंतरिक चरण-कमलों की धूलि से अपने मनरूपी दर्पण को पवित्र करके। 2. **फल चारि**=धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष

इस ग्रंथ की लोकप्रियता के कारण परंपरावादी धर्म के आचार्यों और पंडितों के मन में तुलसीदास जी के प्रति द्वेष की भावना जाग उठी। वे दल बाँधकर उनकी निंदा करने लगे। यहाँ तक कि वे इस ग्रंथ को नष्ट कर देने के प्रयास में भी लग गए। पर अपने कुचक्रों को तुलसीदास पर सफल न होते देखकर पंडितों ने सुप्रसिद्ध विद्वान श्री मधुसूदन सरस्वती से कहा कि वह तुलसीदास के *रामचरितमानस* को पढ़कर उस पर अपनी सम्मति दें। मधुसूदन सरस्वती ने *मानस* पर गहराई से विचार किया और इसके गूढ़ रहस्य को समझकर संत तुलसीदास जी की प्रशंसा में यह श्लोक लिखा:

आनन्दकानने ह्यस्मिन् जंगमस्तुलसीतरु:।
कविता मञ्जरी यस्य राम-भ्रमर भूषिता॥

प्राप्त नहीं

अर्थात् रामचरितमानस-रूपी आनंदवन में तुलसीरूपी एक चलने-फिरने वाला पौधा है जिसकी कवितारूपी मंजरी रामरूपी भँवरे से सुशोभित है।

काशिराज महाराज ईश्वरी प्रसाद नारायणसिंह ने इस श्लोक का हिंदी अनुवाद इस प्रकार किया है:

तुलसी जंगम तरु लसै, आनंद कानन खेत।
कविता जाकी मञ्जरी, राम भ्रमर रस लेत॥

प्राप्त नहीं

उस समय के समाज में यह धारणा फैली हुई थी कि उत्तम धार्मिक ग्रंथों की रचना देववाणी अर्थात् संस्कृत में ही की जानी चाहिए। पर तुलसीदास जी के मन में इस प्रकार की भाषा-संबंधी कोई संकीर्णता नहीं थी। उनका विचार इस संबंध में बहुत ही उदार और पक्षपात रहित था। वह किसी भाषा विशेष को महत्त्व न देकर हृदय के भाव को महत्त्व देते थे। जैसा कि वह कहते हैं:

का भाषा[1] का संसकृत, प्रेम चाहिऐ साँच।
काम जु आवै कामरी का लै करिअ कुमाच[2]॥

दोहावली 572

तुलसीदास जी को समाज में फैली इस भाषा-संबंधी संकीर्णता का भान अवश्य था। तभी तो *रामचरितमानस* को प्रारंभ करते समय वह कहते हैं कि वह अनेक पुराणों, वेदों, शास्त्रों तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त ज्ञान को केवल अपने निजी आनंद के लिए भाषा में प्रस्तुत करते हैं:

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्त:सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

मानस, 1 श्लोक 7

वह फिर कहते हैं:

भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरें मन प्रबोध जेहिं होई॥

मानस, 1.30(ख).1

दीनता और नम्रता का भाव तुलसीदास जी में कूट-कूटकर भरा हुआ था। जब उनकी अद्‌भुत प्रतिभा, विलक्षण काव्य-कौशल और निश्छल रामभक्ति से प्रभावित होकर लोगों ने उन्हें सम्मान देना शुरू किया, तब भी उन्होंने कभी गर्व नहीं किया और अंत तक दीन भाव ही अपनाए रहे। वह इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि जिस तरह क़तार बाँधकर चलनेवाली भेड़ें बिना समझे-बूझे एक दूसरे के पीछे चलती हुई दलदल में धँसती चली जाती हैं, ठीक उसी भेड़िया-धँसान की तरह अधिकांश जनता मूर्खतावश एक दूसरे की देखा-देखी किसी का मान या अपमान करने लगती है। पर कुछ लोग सम्मान पाते ही अभिमान के शिकार हो जाते हैं और अभिमान उनका सर्वनाश कर डालता है। तुलसीदास जी कहते हैं:

---

1. स्थानीय हिंदी भाषा का बोधक है 2. एक प्रकार का रेशमी वस्त्र

तुलसी भेड़ी की धँसनि जड़ जनता सनमान।
उपजत ही अभिमान भो खोवत मूढ़ अपान॥

दोहावली 495

मान-बड़ाई और अधिकार पाकर अभिमान से बचे रहना इस संसार में शायद ही किसी के लिए संभव हो। जैसा कि वह लिखते हैं:

नहिं कोउ अस जनमा जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥

मानस, 1.59.4

इस मर्म को जानने के कारण ही राजाओं द्वारा पूजित होने पर भी तुलसीदास जी ने अपने संत-सुलभ सहज दीन भाव का त्याग नहीं किया और अपनी मान-बड़ाई को वह अपने प्रभु की महिमा और रामनाम का प्रताप ही मानते रहे। सच्ची दीनता वास्तव में संतों के पास ही होती है। निम्नलिखित पदों में तुलसीदास जी के मनोभाव की स्पष्ट झलक मिलती है:

नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु॥

मानस, 1.26

राम का नाम कल्पतरु (मनचाहा पदार्थ देनेवाला) है और इस कलियुग में यह कल्याण का घर है, जिसके सुमिरन से भाँग जैसे (तुच्छ) तुलसीदास तुलसी जैसे (पवित्र) बन गए।

पतितपावन राम-नाम सो न दूसरो।
सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो॥

विनय-पत्रिका 69

रामनाम के जैसा पापियों को पवित्र करनेवाला कोई दूसरा नहीं है, जिसका सुमिरन करके तुलसीदास जैसा ऊसर ज़मीन भी सुंदर उपजाऊ खेत बन गया।

हौं तो सदा खर को असवार, तिहारोइ नामु गयंद चढ़ायो॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 60

मैं तो सदा से गधे पर ही चढ़नेवाला (अत्यंत नीच आचरणवाला) था, केवल आपके नाम ने मुझे हाथी पर चढ़ा दिया (अत्यंत महान बना दिया)।

तुलसी सो साहेब समर्थ को सुसेवकु है,
सुनत सिहात सोचु बिधिहू गनक को।
नामु राम! रावरो सयानो किधौं बावरो,
जो करत गिरीतें गरु तृनतें तनक को॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 73

तुलसी उस समर्थ प्रभु राम का सुसेवक है—इसे सुनकर ब्रह्मा जैसे गणक (सभी कर्मों का हिसाब रखनेवाले) को भी चिंता और ईर्ष्या होती है। हे राम! आपका नाम ऐसा ज्ञानी या दीवाना बना देनेवाला है जो तृण से भी तुच्छ मनुष्य को पहाड़ से भी भारी बना देता है।

लहइ न फूटी कौड़िहू को चाहै केहि काज।
सो तुलसी महँगो कियो राम गरीब निवाज॥

दोहावली 108

जिस तुलसी को एक फूटी कौड़ी भी नहीं मिलती थी और जिसको किसी भी काम के लिए भला कोई क्यों चाहता, उसी तुलसी को ग़रीबों पर कृपा करनेवाले प्रभु ने महँगा कर दिया अर्थात् उनका गौरव बढ़ा दिया।

अपने ऊपर कष्ट आने पर भी तुलसी अपने परम कृपालु प्रभु के प्रति कृतज्ञता का ही भाव रखते थे और अपने कष्टों को अपनी भूल और प्रभु के प्रति अपनी कृतघ्नता का फल मानते थे। एक बार उन्हें एक भारी बरतोर (बालतोड़) घाव हुआ जिससे उन्हें काफ़ी कष्ट था और घाव से मवाद निकलने लगा था। उस समय तुलसीदास जी ने कहा कि

जिस परमात्मा ने अपनी स्वाभाविक दयावश मुझ नीच को अनाथ से सनाथ बनाया, उसे मैं मान-बड़ाई पाकर भूल गया था। इसी नमकहरामी का यह फल है कि शरीर से फूट-फूटकर प्रभु का खाया हुआ नमक बाहर निकल रहा है:

तुलसी अनाथ सो सनाथ रघुनाथ कियो,
दियो फल सीलसिंधु आपने सुभाय को॥
नीच एहि बीच पति पाइ भरुहाइगो[1],
बिहाइ[2] प्रभु-भजन बचन मन काय को॥
तातें तनु पेखियत[3] घोर बरतोर मिस[4],
फूटि फूटि निकसत लोन[5] रामराय को॥

हनुमान बाहुक, 41 पृ.33-34

वह फिर कहते हैं कि यह तुलसी अपने पिछले बुरे दिनों को भूलकर अब गुसाईं गोस्वामी (इंद्रियों को जीतनेवाला या जितेंद्रिय) बना फिरता है। उसी का यह अंत में फल मिल रहा है:

तुलसी गोसाईं भयो भोंड़े[6] दिन भूलि गयो,
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं॥

हनुमान बाहुक, 40 पृ.33

इसी प्रकार एक बार उन्हें बाँह में असह्य पीड़ा हुई पर तुलसी ने इसे अपने ही पाप का फल, कर्म की कठिनाई या काल की करालता माना और अपने प्रभु को भूलकर भी इसके लिए दोष नहीं दिया। कठिन से कठिन दु:ख या संकट की घड़ी में भी उनके मन में अपने प्रभु के प्रति कभी अभाव नहीं आया और उन्होंने कभी किसी और की शरण लेने की बात नहीं सोची। वह सदा एकमात्र अपने प्रभु की शरण में रहने के

1. अभिमान में बहक जाना 2. छोड़कर 3. दीखना 4. बहाने
5. नमक 6. बुरे

संकल्प पर दृढ़ बने रहे। अपनी बाँह की पीड़ा से मुक्त होने के लिए प्रभु से विनती करते हुए वह कहते हैं कि यदि मेरा यह कष्ट दूर न हो और मेरी बाँह बिलकुल नष्ट हो जाए, तब भी मैं लूला बना आपके ही दरबार में पड़ा रहना चाहूँगा:

श्रीरघुबीर निवारिये पीर रहौं दरबार परो लटि लूलो॥

हनुमान बाहुक, 36 पृ.30

वेद, पुराण तथा अन्य शास्त्रों के एक प्रकांड विद्वान होते हुए भी तुलसीदास जी केवल पुस्तकों के पठन-पाठन या शास्त्रीय वाद-विवाद को महत्त्व नहीं देते थे। उनके अनुसार नाम को भुलाकर केवल धार्मिक पुस्तकों को पढ़ना और उन पर वाद-विवाद करना कुकाठ फाड़ने के समान व्यर्थ का परिश्रम करना है। वह कहते हैं:

कीबे कहा, पढ़िबे को कहा फलु, बूझि न बेद को भेदु बिचारैं।
स्वारथ को परमारथ को कलि, कामद राम को नामु बिसारैं॥
बाद-बिबाद बिषादु बढ़ाइ कै, छाती पराई औ आपनी जारैं।
चारिहु को, छहु को, नव को, दस-आठ को पाठु कुकाठु ज्यों फारैं॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 104

जिसने इस कलियुग में स्वार्थ-परमार्थ सबको पूरा करनेवाले परमात्मा के नाम को भुला दिया, उसने आख़िर किया ही क्या? उसके पढ़ने का भला क्या फल प्राप्त हुआ? उसने न वेद के रहस्य को समझा और न उस पर विचार किया। वाद-विवाद द्वारा आपसी रंजिश बढ़ाकर उसने नाहक़ ही अपनी और दूसरों की छाती जलाई। चारों वेद, छहों शास्त्र, नवों व्याकरण और अठारहों पुराणों का पढ़ना या उनका पाठ करना कुकाठ फाड़ने के समान केवल व्यर्थ का परिश्रम है।

इसमें संदेह नहीं कि तुलसीदास जी एक अति कुशल लेखक थे। पर उनकी रचनाओं की संख्या के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। बेनी माधवदास, पंडित रामगुलाम द्विवेदी और माताप्रसाद गुप्त ने उनके बारह ग्रंथ माने हैं।

भागीरथप्रसाद दीक्षित ने चौदह, शिवबिहारी लाल ने सोलह, शिवसिंह सेंगर ने अठारह, रामनरेश त्रिपाठी ने इकत्तीस, 'खोज रिपोर्ट' ने छत्तीस तथा उदयभानु सिंह ने इक्यावन ग्रंथ माने हैं। पर अभी तक अधिकांश विद्वानों के अनुसार केवल निम्नलिखित बारह ग्रंथ ही प्रामाणिक सिद्ध हुए हैं:

1. *रामचरितमानस,* 2. *विनय-पत्रिका,* 3. *रामलला नहछू,*
4. *वैराग्य-संदीपनी,* 5. *बरवै-रामायण,* 6. *पार्वती-मंगल,*
7. *जानकी-मंगल,* 8. *दोहावली,* 9. *कवितावली,* 10. *गीतावली,*
11. *कृष्ण-गीतावली* और 12. *रामाज्ञा-प्रश्न।*

तुलसीदास जी की रचनाओं को पढ़ने से यह सहज ही पता चलता है कि उन्होंने संस्कृत के प्रमुख ग्रंथों का बड़ा गहरा अध्ययन किया था। वह केवल वेदों, उपनिषदों, दर्शनों और पुराणों के ही ज्ञाता नहीं थे बल्कि काव्य, नाटक, छंदशास्त्र, इतिहास, ज्योतिष आदि पर भी अधिकार रखते थे। अकेले *रामचरितमानस* के चौपाइयों, दोहों, सोरठों और छंदों में उन्होंने संस्कृत के अनेक ग्रंथों के सैकड़ों श्लोकों का निचोड़ बड़े ही सहज और रोचक ढंग से भर दिया है। साथ ही संतों के निजी अनुभव पर आधारित ज्ञान को भी उन्होंने इसमें बड़े सुंदर ढंग से सजाया है। तभी तो वह कहते हैं: मैं "अनेक पुराणों, वेदों, शास्त्रों से सम्मत, वाल्मीकि रामायण में वर्णित तथा अन्यत्र से भी" प्राप्त ज्ञान को रामकथा के रूप में प्रस्तुत करता हूँ:

नानापुराण निगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।

मानस, 1.श्लोक 7

यहाँ 'अन्यत्र से भी' से तुलसीदास जी का तात्पर्य मुख्यत: संतमत से है, जैसा कि उन्होंने बाद में बिलकुल खोलकर कहा है:

बेद पुरान संत मत एहू।

मानस, 1.26.1

इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ। बेद पुरान संत मत भाषउँ॥

मानस, 7.115(ख).1

गहरी नाम-भक्ति के प्रभाव से तुलसीदास की विद्वत्ता और काव्य-शक्ति चमक उठी। इस पुस्तक की प्रस्तावना में यह पहले ही बताया जा चुका है कि तुलसीदास जी का *रामचरितमानस* भारत का सर्वाधिक लोकप्रिय धार्मिक ग्रंथ है। साथ ही साहित्य की दृष्टि से यह हिंदी जगत का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य भी माना जाता है।

तुलसीदास जी की रचनाओं से यह विदित होता है कि वह जहाँ-तहाँ भ्रमण के लिए भी जाया करते थे। उनके अयोध्या, काशी, चित्रकूट, प्रयाग आदि जाने का स्पष्ट संकेत उनके ग्रंथों में मिलता है। पर इससे उनके भ्रमण का कोई क्रमबद्ध परिचय नहीं मिलता।

अन्य संतों के समान तुलसीदास जी कभी भी चमत्कार दिखाने की शक्ति का दावा नहीं करते थे। उनकी रचनाओं में प्राय: सर्वत्र उनकी भक्त-सुलभ दीनता और ग़रीबी का ही भाव दीख पड़ता है। पर बाद के भक्तों की रचनाओं और जनश्रुति के आधार पर उनके संबंध में कई चमत्कारिक कथाएँ कही जाने लगी हैं। उनको सत्य या असत्य सिद्ध करना कठिन है पर उनमें से अधिकांश तुलसीदास की इस मूल धारणा को सिद्ध करती हैं कि नाम की शक्ति और प्रभु की कृपा का कोई अंत नहीं है।

तुलसीदास की महिमा उनके विषय में प्रचलित चमत्कारों के वर्णन से नहीं बढ़ती। उनकी महिमा उनकी अद्‌भुत प्रतिभा, विनय, शील, मर्यादा और विशेषकर उनके अविचल प्रभुप्रेम और नाम-भक्ति में है। तुलसीदास जी के समकालीन भक्त और विद्वान उन्हें बहुत ही श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते थे। अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना उनके घनिष्ठ मित्रों में थे जिनसे समय-समय पर कविता में उनका पत्र-व्यवहार हुआ करता था। इसके अतिरिक्त महाराजा मानसिंह, भक्त नाभादास जी तथा प्रसिद्ध विद्वान श्री मधुसूदन सरस्वती जी उन्हें विशेष आदर देते थे। कहा जाता है कि मेवाड़ की रानी मीराबाई ने भी अपने परिवार के लोगों द्वारा प्रभुभक्ति

करने और संत-महात्माओं से मिलने में सदा बाधा पहुँचाए जाने तथा अत्यधिक तंग किए जाने पर तुलसीदास जी के पास एक पत्र भिजवाया था और उनसे उचित मार्ग दिखाने की प्रार्थना की थी।

तुलसीदास जी ने मीरा[1] को भक्ति-पथ पर अडिग रहने की सलाह देते हुए यह लिख भेजा था कि जिसको परमात्मा के प्रति प्रेम न हो और जो प्रभु-भजन में बाधा पहुँचाता हो, उसका तुरंत परित्याग कर देना चाहिए, भले ही वह अत्यंत निकट संबंधी ही क्यों न हो। जिसकी संगति या उपदेश से परमात्मा के चरणों में प्रेमभक्ति विकसित हो, वही सब प्रकार से हितैषी, पूजनीय और प्राणों से भी अधिक प्यारा है:

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी॥
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो॥

विनय-पत्रिका 174

यहाँ यह बतला देना अनुचित न होगा कि गोस्वामी तुलसीदास जी के ही समान कुछ अन्य संतों ने भी कथा-शैली या सांकेतिक लाक्षणिक विधि द्वारा अपने गूढ़ रहस्य को प्रकट करने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए, ईरान के प्रसिद्ध सूफ़ी मौलाना रूम ने, जिनकी मसनवी को फ़ारसी भाषा का क़ुरान कहा जाता है, ऐसी ही शैली को अपनाकर अपने

1. पर मीरा और तुलसी के जन्म-काल को ध्यान में रखने पर हम पाते हैं कि तुलसी (जन्म-संवत् 1589) मीरा (जन्म-संवत् 1555) से 34 वर्ष छोटे थे। इससे इस पत्र-व्यवहार को प्रामाणिक मानने में कठिनाई होती है।

गूढ़ संदेश को प्रकट किया है। उनकी सारी मसनवी कहानियों के रूप में लिखी गई है। इस प्रकार रामकथा के माध्यम से संतमत के गूढ़ रहस्य का संकेत करते हुए तुलसीदास जी ने संत-परंपरा का ही प्रयोग किया है।

गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवन से यह स्पष्ट है कि एक दीन-हीन अवस्था में जन्म लेकर भी उन्होंने अपने आप को गौरव की चोटी तक पहुँचा दिया तथा अपनी अनमोल रचनाओं द्वारा संसार को प्रेमभक्ति का अमर संदेश प्रदान किया जिससे मनुष्य सदा लाभ प्राप्त करता रहेगा। जीवों के उबार के लिए प्रेमभक्ति का मार्ग दिखाकर संवत् 1680 में 91 वर्ष की आयु में उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। यद्यपि उनकी रचनाओं में उनके एक-दो बार गंभीर रूप से रोगग्रस्त होने का उल्लेख है पर लगता है उनकी मृत्यु स्वाभाविक रूप से ही वृद्धावस्था में हुई।

कहा जाता है कि लोगों को अपनी लौकिक रीति पूरी करने की बात कहते हुए तुलसीदास जी ने अपने मृत्यु के समय की सूचना परम शांत भाव से इस प्रकार दी थी:

राम नाम जस बरनि कै, भयो चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिये, अबहीं तुलसी सौन॥

प्राप्त नहीं

तुलसी की शिक्षा की गूढ़ता

इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ। बेद पुरान संत मत भाषउँ॥
मानस, 7.115(ख).1

राम नाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा॥
मानस, 1.45.1

(यहाँ मैं कुछ भी पक्षपात नहीं रखता। मैं वेद, पुराण और संतमत का ही सिद्धांत कहता हूँ। संतों, पुराणों और उपनिषदों ने प्रभु के नाम की असीम महिमा का गान किया है।)

रामकथा के माध्यम से संतमत के गूढ़ रहस्य का उपदेश

आम तौर पर लोग यह समझते हैं कि तुलसीदास जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ *रामचरितमानस* की रचना केवल राम-रावण की कहानी सुनाने के लिए ही की है। पर वास्तव में तुलसीदास जी ने अनेक धार्मिक ग्रंथों और विशेषकर संतमत के गूढ़ रहस्यों को साधारण मनुष्य तक पहुँचाने के उद्देश्य से इस प्राचीन और लोकप्रिय कथानक का सहारा लिया है। वेद, पुराण आदि धर्मग्रंथों में नाम (शब्द) तथा नाम के अभ्यास के संकेत मिलते हैं। इस संबंध में तुलसीदास जी का विचार कबीर साहिब के विचार से मिलता-जुलता है। कबीर साहिब का कथन है कि वेद-पुराण

को झूठा नहीं कहना चाहिए, झूठा तो वह है जो उन पर विचार नहीं करता। वह कहते हैं:

बेद कतेब कहहो मत झूठे झूठा जो न बिचारै॥
आदि ग्रन्थ, पृ. 1350

इसमें संदेह नहीं कि वेदों और शास्त्रों में बाहरमुखी कर्मकांड की भी चर्चा आई है जिनमें लगकर जीव और भी अधिक बंधन में उलझ जाते हैं। जैसा कि तुलसीदास जी स्पष्ट रूप से कहते हैं:

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥
मानस, 7.116(ख).3

पर वह यह भी बताते हैं कि संसार की रचना ही कुछ ऐसी है कि इसमें गुण और दोष साथ-साथ पाए जाते हैं। यह संतों का काम है कि वे हंस के समान दोषरूपी पानी को छोड़कर असली गुण या सार तत्त्वरूपी दूध को निकाल लें:

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार[1]।
संत हंस गुन गहहिं पय[2] परिहरि बारि[3] बिकार॥
मानस, 1.6

इस तरह तुलसीदास जी वेद-पुराण के सारतत्त्व, रामनाम की शिक्षा को निकालकर एक सर्वसम्मत उपदेश हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं जो संतमत का भी मूल सिद्धांत है। तुलसीदास जी ने राम की कथा को अपनी रचना का आधार बनाया है, इसलिए नाम की महिमा करते हुए उन्होंने अकसर नाम के लिए 'रामनाम' का प्रयोग किया है। अपने *रामचरितमानस* के प्रारंभ में ही वह कहते हैं कि मेरी रचना भले ही सभी गुणों से रहित हो पर इसमें अत्यंत पवित्र रामनाम की अर्थात् प्रभु के नाम

1. परमात्मा 2. दूध 3. पानी

की महिमा बताई गई है जो वेद-पुराणों का सार है। इस रामनाम की महिमा के ही कारण सभी गुणों से रहित होने पर भी इसे भौंरे के समान गुणग्राही संतजन आदर के साथ सुनेंगे:

भनिति[1] मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति[2] जिन्ह कें बिमल बिबेक॥
एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति[3] सारा॥

मानस, 1.9, 1.9.1

सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। राम नाम जस[4] अंकित जानी॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध[5] ताही। मधुकर सरिस[6] संत गुनग्राही॥

मानस, 1.9.3

सत्य सदा एक-सा रहता है, वह कभी बदलता नहीं। इसी लिए सत्य की जानकारी रखनेवाले संतों की शिक्षा भी सदा एक होती है। संत चाहे किसी भी जाति, धर्म, देश या समय में क्यों न पैदा हुए हों, उनकी शिक्षा में कभी कोई अंतर नहीं होता। तुलसीदास जी की शिक्षा भी अन्य संतों के ही समान है। वह स्पष्ट कहते हैं कि उन्होंने असीम और अपार परमात्मा की जानकारी संतों से ही प्राप्त की है और वह उसे ही हमें सुनाना चाहते हैं:

रामु अमित[7] गुन सागर थाह कि पावइ कोइ।
संतन्ह सन जस किछु सुनेउँ तुम्हहि सुनायउँ सोइ॥

मानस, 7.92(क)

तुलसीदास जी के अनुसार अनंत प्रभु की अनंत महिमा, अलौकिक कथा या अनुपम चरित को केवल संत ही जानते हैं और केवल वही इसे कह-सुन सकते हैं। प्रभु की जिस महिमा, कथा या चरित को संतजन

1. रचना 2. निर्मल बुद्धि 3. वेद 4. महिमा 5. ज्ञानी
6. समान 7. असीम

सुनते और उसका गुणगान करते हैं, उसकी गहराई और गंभीरता को प्रकट करने के लिए तुलसीदास जी 'हरिगुण', 'रामगुण', 'रामचरित', 'रामकथा', 'हरिकथा' जैसे शब्दों का प्रयोग दोहरे अर्थों में करते हैं। राम यानी परमात्मा तथा उसकी महिमा यानी कथा (शब्द या नाम) के विषय में संतों के सत्संग को बाहरी तौर पर सुनना, साधारण या बाहरी रूप से हरिगुण, हरिकथा, रामचरित या रामकथा को सुनना है, पर अपने अंतर में शब्द-धुन यानी नाम को सुनना जो परमात्मा की सच्ची महिमा या कथा है, आंतरिक या पारमार्थिक रूप से हरिगुण को गाना अथवा हरिगुण, रामगुण, रामचरित या रामकथा को सुनना है। इस पारमार्थिक अर्थ की ओर संकेत करने के लिए ही तुलसीदास जी कहते हैं कि पूर्ण संत या सच्चे ज्ञानीजन जो जीते-जी मुक्ति प्राप्त कर चुके होते हैं, वे भी निरंतर होनेवाले हरिगुण या हरिकथा (शब्द या नाम) को सदा सुनते रहते हैं। स्पष्ट है कि किसी भी बाहरी कथा या संगीत का निरंतर चलते रहना या उसे निरंतर सुन पाना संभव नहीं है। केवल शब्द-धुन यानी नाम ही निरंतर चलते रहनेवाला और निरंतर सुना जा सकनेवाला हरिगुण या हरिकथा है। संतों का ध्यान चकोर की तरह एकाग्र भाव से प्रभु के नाम में लगा रहता है। वे ही नाम के मधुर रस का पान करते हैं। यह नाम चंद्रमा की किरणों के समान हृदय को शीतल करनेवाला है। राम के इस नाम का गुणगान करना जिसे संतों की भाषा में शब्द-धुन का सुनना या भजन करना कहते हैं, सभी अभिलाषाओं को पूर्ण करनेवाला एक सुंदर चिंतामणि है जिसे तुलसीदास जी अपनी अलंकारिक भाषा में 'संतों की निर्मल बुद्धिरूपी स्त्री का सुंदर शृंगार' कहते हैं। इस रामनाम या रामकथा को अपने अंदर सुनकर ही जीव भवसागर को पार कर सकते हैं। विशेषकर इस कलियुग में प्रभुप्राप्ति का नाम के सिवाय अन्य कोई साधन नहीं। जैसा कि तुलसीदास जी कहते हैं:

हरि अनंत हरि कथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहुबिधि सब संता॥

मानस, 1.139.3

जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥
भव सागर चह पार जो पावा। राम कथा ता कहँ दृढ़ नावा॥

मानस, 7.52(ख).1-2

रामकथा ससि[1] किरन समाना। संत चकोर करहिं जेहि पाना॥

मानस, 1.46.4

रामचरित चिंतामनि चारू[2]। संत सुमति तिय[3] सुभग सिंगारू॥

मानस, 1.31.1

कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥

मानस, 7.102(ख). 3

संतों की यह शिक्षा गूढ़ है। इस गूढ़ रहस्य को केवल संत-सतगुरु ही खोल सकते हैं। तुलसीदास जी अपनी संत-सुलभ विनम्रता के साथ कहते हैं कि उनके गुरु ने उन्हें बचपन में ही रामकथा का मर्म समझाया था पर वह उस समय ठीक से समझ नहीं सके थे। इस गूढ़ रहस्य को बतानेवाले और इसको सुननेवाले को परमज्ञानी होना चाहिए। पर तुलसीदास जी अपने को कलियुग के पापों से ग्रसा हुआ महामूढ़ जीव कहते हैं। वह बताते हैं कि गुरु ने फिर भी उन्हें बार-बार समझाया, तब उन्हें इस रहस्य की कुछ समझ आई और वह अपने संतोष के लिए उसी का प्रचार करते हैं (परोपकारी संतजन अपने उपदेश द्वारा जीवों का कल्याण करके ही संतोष प्राप्त करते हैं)। इन बातों की ओर संकेत करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं:

मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत[4]।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥

1. चंद्रमा 2. सुंदर 3. स्त्री 4. वाराह-क्षेत्र

श्रोता बकता ग्याननिधि[1] कथा राम कै गूढ़।
किमि समुझौं मैं जीव जड़ कलि मल ग्रसित बिमूढ़॥
तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥
भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरें मन प्रबोध[2] जेहिं होई॥

मानस, 1.30(क), 30(ख), 30(ख).1

तुलसीदास जी बड़ी स्पष्टता के साथ कहते हैं कि इस शिक्षा के गूढ़ रहस्य को सच्ची श्रद्धा, संतों के सत्संग और परमात्मा के प्रति प्रेम के बिना समझ पाना अत्यंत कठिन है। इस रहस्य को केवल वे ही समझ सकते हैं जिन्हें संतों की संगति प्रिय लगती है। दूसरे शब्दों में, संतों द्वारा चिताए हुए जीव ही रामकथा के मर्म को समझने के अधिकारी हैं:

जे श्रद्धा संबल[3] रहित नहिं संतन्ह कर साथ।
तिन्ह कहुँ मानस अगम अति जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ॥

मानस, 1.38

राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह कें सत संगति अति प्यारी॥

मानस, 7.127.3

रामकथा मानों एक गुप्त आंतरिक सरोवर है। इस सरोवर में नहाने के लिए किसी संत के सत्संग को मन लगाकर सुनना आवश्यक है। संत की सभा ही इस सरोवर के चारों ओर लगी आम की बग़ीचियाँ हैं जो श्रद्धारूपी बसंत ऋतु को पाकर ही फूलती-फलती हैं:

रामचरित सर[4] गुप्त सुहावा।

मानस, 7.112(ख).6

1. ज्ञान के भंडार 2. संतोष 3. राह का सहारा 4. सरोवर

जो नहाइ चह एहिं सर भाई। सो सतसंग करउ मन लाई॥

मानस, 1.38.4

संतसभा चहुँ दिसि अवँराई[1]। श्रद्धा रितु बसंत सम गाई॥

मानस, 1.36.6

संतों के इस गूढ़ उपदेश को सुनकर जो विवेकी जीव इसके अभ्यास में लग जाते हैं, वे विषयों से विरक्त या अनासक्त हो जाते हैं। पर जिन मूर्ख जीवों को इसमें रुचि नहीं होती, वे परमात्मा से विमुख रहकर मोह में ही पड़े रह जाते हैं:

उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति[2]।
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रति[3]॥

मानस, 3.आदि सोरठा

स्वामी जी महाराज ने भी संतों की शिक्षा को गूढ़ कहा है जिसे संतों के बताए बिना कोई जान नहीं सकता। केवल संत ही इस गूढ़ शिक्षा को प्रकट करते हैं और उनके शिष्य या सत्संगी इसका लाभ उठाते हैं:

संतन का मत गूढ़, बिना संत को जानई।
राधास्वामी कीआ ज़हूर[4], माने सतसंगी कोई॥

सारबचन संग्रह, 23:1:85

मानस नाम का गूढ़ अर्थ

अपने प्रसिद्ध ग्रंथ का *रामचरितमानस* नाम रखने के संबंध में तुलसीदास जी ने जो कुछ कहा है, उससे यह स्पष्ट होता है कि वह इस ग्रंथ द्वारा उस गुप्त आंतरिक सरोवर का भेद देना चाहते हैं जो राम अर्थात्

1. आम की बग़ीचियाँ 2. वैराग्य 3. **धर्म रति**=परमार्थ में प्रेम
4. प्रकट

परमात्मा के पवित्र आंतरिक कथारूपी जल से सदा भरा रहता है। इस आंतरिक सरोवर को मानसरोवर, अमृत का सरोवर या अमृतसर भी कहते हैं। यह सरोवर कहाँ है और कैसे बना है, इसे तुलसीदास जी ने बड़े सुंदर ढंग से समझाया है। वह कहते हैं कि हमारी निर्मल बुद्धि की धरती पर ही हृदयरूपी[1] अगाध सरोवर का स्थान है। वेद, पुराण आदि सद्ग्रंथों के समुद्र का वाष्परूपी सार लेकर साधु-संतरूपी मेघ परमात्मा के गुणगान की पवित्र वर्षा करते हैं जिसका जल बहुत मीठा, मन को मुग्ध करनेवाला और कल्याणकारी होता है। इसी मीठे वाणीरूपी जल से हृदय का अगाध सरोवर भरा हुआ है। तुलसीदास जी यहाँ अंतर के भेद का अधिक विवरण न देकर उस मीठी आंतरिक वाणी (शब्द-धुन) का केवल संकेत करते हैं जिसका रहस्य साधु-संतों से प्राप्त होता है और जिसे अपने अंदर सुनकर अपूर्व शांति और शीतलता प्राप्त होती है। वह कहते हैं:

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू[2]। बेद पुरान उदधि[3] घन[4] साधू॥
बरषहिं राम सुजस बर बारी[5]। मधुर मनोहर मंगलकारी॥

मानस, 1.35.2

इस *रामचरितमानस* नामक परमात्मा की पवित्र आंतरिक कथा (शब्द-धुन) को अपने आंतरिक कान से सुनने पर शांति और एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। जो स्त्री-पुरुष इसे सदा आदर और प्रेम से सुनते हैं, वे देवता के समान परम पवित्र श्रेष्ठ जीव ही इस मानस के सच्चे अधिकारी हैं। इस सरोवर को संतों ने अधिक स्पष्ट करते हुए मानसरोवर कहा है और बताया है कि नाम के अभ्यास के समय आंतरिक मंडलों में यात्रा करती हुई अभ्यासी की आत्मा जब इस पवित्र मानसरोवर में पहुँचकर स्नान करती है तब उसके सभी अच्छे और बुरे कर्मों की मैल धुल

1. दोनों भौंहों के बीच आँखों का केंद्र 2. गहरा स्थान है 3. समुद्र
4. बादल 5. **बर बारी**=पवित्र जल

जाती है। इसे संतों ने आम शिष्यों को समझाने के लिए मानसरोवर में स्नान करके कौए का हंस बन जाना कहा है। इस मानसरोवर को केवल आंतरिक आँख (मानस चक्षु या दिव्य चक्षु) से ही देखा जा सकता है। इसमें स्नान करने या ग़ोता लगाने पर बुद्धि निर्मल हो जाती है, हृदय आनंद और प्रेम से भर जाता है और जीव उस आनंद और प्रेम की धारा में मग्न हो जाता है। तुलसीदास जी कहते हैं:

रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन[1] *पाइअ बिश्रामा॥*

मानस, 1.34.4

अस मानस मानस चख[2] *चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही*[3]*॥*
भयउ हृदयँ आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू[4]*॥*

मानस, 1.38.5

विषयों की आग में सदा जलते रहनेवाला मनरूपी हाथी इस मानसरोवर में स्नान करके सदा के लिए निर्मल और सुखी बन जाता है। इसके सभी पाप धुल जाते हैं और इसके जन्म-मरण के दु:खों का नाश हो जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार दूर हो जाते हैं, विवेक और वैराग्य बढ़ जाते हैं तथा हृदय के पाप और ताप नष्ट हो जाते हैं:

मन करि[5] *बिषय अनल*[6] *बन जरई। होइ सुखी जौं एहिं सर*[7] *परई॥*
त्रिबिध दोष दुख दारिद दावन। कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन॥

मानस, 1.34. 4-5

काम कोह[8] *मद मोह नसावन। बिमल बिबेक बिराग बढ़ावन॥*
सादर मज्जन[9] *पान*[10] *किए तें। मिटहिं पाप परिताप हिए तें॥*

मानस, 1.42.3

1. कान 2. **मानस चख**=आंतरिक आँख 3. स्नान करके 4. धारा
5. हाथी 6. आग 7. सरोवर 8. क्रोध 9. स्नान 10. पीना

इस आंतरिक मानसरोवर में स्नान करके पवित्र हो जाने पर ही राम अर्थात् परमपिता परमात्मा के प्रेम का पक्का रंग चढ़ता है और अभ्यासी इस शांतिदायक और सुखद मानस को छोड़ फिर कभी विषयों की ओर नहीं दौड़ता:

ते नर यह सर तजहिं न काऊ। जिन्ह कें राम चरन भल भाऊ[1]*॥*

मानस, 1.38.4

पर जो अभागे विषयी जीव हैं, वे इस रामचरितमानस-रूपी मानसरोवर के पास नहीं आते क्योंकि इस आंतरिक अभ्यास के मार्ग की कठिनाइयों को पार करना उनके लिए कठिन होता है। कुसंगति, पारिवारिक जंजाल, मोह, अभिमान, सांसारिक मान-बड़ाई और अनेक प्रकार के कुतर्क परमार्थ के मार्ग की रुकावटें हैं जो बाघ, सिंह और सर्प के समान भयंकर और अनेक पहाड़ों, नदियों और जंगलों के समान दुर्गम हैं। इन्हीं कारणों से विषयी जीव इस मानसरोवर के पास आने में हार मान जाते हैं। केवल वे ही जीव यहाँ तक पहुँचते हैं जिन्हें परमात्मा की कृपा से किसी संत द्वारा आंतरिक रहस्य की पूरी जानकारी मिल जाती है। ऐसे परमज्ञानी जीव मानस की गूढ़ कथा का आंतरिक भेद समझ लेते हैं।

आवत एहिं सर अति कठिनाई। राम कृपा बिनु आइ न जाई॥
कठिन कुसंग कुपंथ कराला[2]*। तिन्ह के बचन बाघ हरि ब्याला*[3]*॥*
गृह कारज नाना जंजाला। ते अति दुर्गम सैल[4] *बिसाला॥*
बन बहु बिषम मोह मद माना। नदीं कुतर्क भयंकर नाना॥

मानस, 1.37.3-5

तेहि कारन आवत हियँ हारे। कामी काक[5] *बलाक*[6] *बिचारे॥*

मानस, 1.37.3

1. **भल भाऊ**=सुंदर प्रेम 2. भयानक 3. **तिन्ह...ब्याला**=उनकी बातें बाघ, सिंह और सर्प के समान हैं। 4. पहाड़ 5. कौए 6. बगुले

अति बिचित्र रघुपति चरित जानहिं परम सुजान।
जे मतिमंद बिमोह बस हृदयँ धरहिं कछु आन[1]॥

मानस, 1.49

तुलसीदास जी कहते हैं कि जो लोग इस *रामचरितमानस* अर्थात् आंतरिक मानसरोवर में ग़ोता लगाकर अपने हृदय को निर्मल नहीं कर लेते, वे कलिकाल के धोखे में पड़े हुए कायर जीव हैं। वे भ्रमवश विषय-सुख को ही वास्तविक सुख मानकर उसी में भूले हुए हैं। जिस प्रकार प्यासा हिरन सूर्य की किरणों के रेत पर पड़ने से उत्पन्न जल के भ्रम को वास्तविक जल समझ लेता है और उसके पीछे दौड़-दौड़कर दु:खी होता है, ठीक उसी प्रकार विषयों से सुख पाने की आशा में उसके पीछे दौड़नेवाले जीव भी दु:खी रहते हैं। जिस जीव पर परमात्मा की परम कृपा होती है, केवल वही सारी कठिनाइयों को पार करके अपने आंतरिक मानसरोवर तक पहुँचता है और उसमें स्नान करके निर्मल हो जाता है तथा संसार के त्रिविध दु:खों से सदा के लिए छुटकारा पा जाता है:

जिन्ह एहिं बारि[2] न मानस धोए।
ते कायर कलिकाल बिगोए[3]॥
तृषित[4] निरखि रबि कर भव बारी[5]।
फिरिहहिं मृग जिमि[6] जीव दुखारी॥

मानस, 1.42.4

सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपाँ बिलोकहिं जेही॥
सोइ सादर सर मज्जनु[7] करई। महा घोर त्रयताप न जरई॥

मानस, 1.38.3

1. दूसरा ही 2. जल 3. भ्रम में डालना 4. प्यासा
5. मृगतृष्णा का जल 6. जैसे 7. स्नान

कबीर साहिब भी इस आंतरिक मानसरोवर में स्नान करने का उपदेश देते हैं। त्रिकुटी नामक दूसरे आध्यात्मिक मंडल को पार करने पर दसम् द्वार के शुद्ध चेतन खंड में जिसे 'श्वेत सुन्न' कहते हैं, यह मानसरोवर मिलता है जिसमें स्नान करने पर यह आत्मा निर्मल होकर हंसरूप हो जाती है और वहाँ उसे अमृत का आहार प्राप्त होता है। जैसा कि कबीर साहिब कहते हैं:

सो ब्रहमंड पिंड सो जान॥ मान सरोवर कर इसनान॥

आदि ग्रन्थ, पृ. 1162

वह फिर कहते हैं:

आगे सेत सुन्न है भाई, मानसरोवर पैठि अन्हाई।
हंसन मिलि हंसा होइ जाई, मिलै जो अमी अहारा है॥

कबीर साहिब की शब्दावली, भाग 1, पृ. 66

इसी आंतरिक मानसरोवर को गुरु अमरदास जी ने सच्चा अमृतसर कहा है क्योंकि यहाँ पहुँचकर जब साधक इस आंतरिक सरोवर में स्नान करता है तो उसकी सारी आंतरिक मैल दूर हो जाती है और वह प्रेम भाव में मग्न होकर अमृत का पान करता है। जैसा कि वह कहते हैं:

काइआ अंदर अंम्रित सर साचा मन पीवै भाए सुभाई हे॥

आदि ग्रन्थ, पृ. 1046

अंतर तीरथ गिआन है सतगुर दीआ बुझाए॥
मैल गई मन निरमल होआ अंम्रित सर तीरथ नाए॥

आदि ग्रन्थ, पृ. 587

मानस की प्रचलित व्याख्या

मानस के गूढ़ार्थ को न समझने के कारण लोगों ने कई जगह इसके कथनों की व्याख्या करने में भूल की है। दो-तीन उदाहरणों द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है।

आवागमन के चक्कर की बात कहते हुए तुलसीदास जी यह बताते हैं कि जीव इस संसार में चार प्रकार की खानियों में जन्म लेकर सदा जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। जब किसी संत की शरण में आकर वह आंतरिक अभ्यास करता है, तभी आवागमन के चक्कर से उसकी मुक्ति होती है। पर इस बात को तुलसीदास जी ने अपने कथानक के माध्यम से इस प्रकार कहा है:

चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजें तनु नहिं संसारा॥

मानस, 1.34. 2

यहाँ अवध में तन के तजने का अभिप्राय न समझने के कारण लोग यह मान बैठते हैं कि तुलसीदास जी के अनुसार अवध यानी अयोध्या नामक नगरी में शरीर त्याग करने से ही आवागमन के चक्कर से छुटकारा हो जाता है। परंतु इसी प्रकरण में आगे कही हुई तुलसीदास जी की निम्नलिखित पंक्तियों पर ध्यान देने से उनका वास्तविक मंतव्य स्पष्ट हो जाता है:

संतसभा अनुपम अवध सकल सुमंगल मूल॥

मानस, 1.39

इस कथन से यह साफ़ पता चलता है कि तुलसीदास जी के अनुसार संतों की सभा में जाना या संतों का समागम प्राप्त करना ही अनुपम अवध में पहुँचना है और संतों की बताई युक्ति से शरीर के नौ दरवाज़ों से ध्यान को समेटकर शरीर को ख़ाली करना ही तन को त्यागना है जिसे संतों की भाषा में 'जीते-जी मरना' कहा गया है। तुलसीदास जी ने संतों की सभा (सत्संग) में जाने को ही कल्याण का मूल कहा है; क्योंकि संतों की बताई साधना में लगा हुआ जीव परमात्मा को अत्यंत प्यारा हो जाता है और वह सांसारिक आवागमन से छुटकारा पाकर परमात्मा के परमधाम का निवासी बन जाता है। यद्यपि लोग बैकुंठ नामक स्वर्ग लोक के सुख का बखान करते हैं, फिर भी इस स्वर्ग का सुख कुछ समय तक

भोगने के बाद जीव को फिर आवागमन के चक्कर में आना ही पड़ता है। पर संतों का समागम प्राप्त होने पर जीव सदा के लिए आवागमन के चक्कर से छुटकारा पा जाता है। इसलिए तुलसीदास जी संत-समागम रूपी अवध का महत्त्व बैकुंठ से भी बढ़कर बताते हैं और इसे अनुपम अवध कहते हैं; क्योंकि इसके समान और कोई चीज़ है ही नहीं। अपने इस कथन की गूढ़ता की ओर संकेत करते हुए वह यह भी बता देते हैं कि यह भेदभरी बात कोई-कोई ही समझ पाता है। इस अनुपम अवधपुरी के बारे में कही गईं तुलसीदास जी की निम्नलिखित पंक्तियों से उनका यह मंतव्य स्पष्ट हो जाता है। वह कहते हैं:

जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जगु जाना॥
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥
अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी[1] सुख रासी॥

मानस, 7.3 (ग).2, 4

आवागमन के चक्कर से छुटकारा पाने के लिए उचित रीति से तन को तजना अर्थात् अपने ध्यान को शरीर के नौ दरवाज़ों से समेटकर शरीर को ख़ाली करना आवश्यक है। इसी बात की ओर संकेत करते हुए तुलसीदास जी फिर कहते हैं:

नवमी नवद्वार-पुर बसि जेहि न आपु भल कीन्ह।
ते नर जोनि अनेक भ्रमत दारुन दुख लीन्ह॥

विनय-पत्रिका 203

इस पद में 'नवद्वार-पुर' में बसे रहने का अर्थ है अपने ध्यान को शरीर के नौ द्वारों में ही लगाए रहना। दो आँख के, दो नाक के, दो

1. **मम...पुरी**=संत-समागम रूपी अवधपुरी मेरे अर्थात् परमात्मा के परमधाम को देनेवाली है।

कान के, एक मुँह का और दो नीचे की इंद्रियों के सुराखों को ही नौ द्वार कहते हैं और यह मनुष्य शरीर ही नौ द्वारों वाला घर या नगर है। जो मनुष्य नौ द्वारों के घर या नगर में बसे रह गए अर्थात् इसे ख़ाली करके अपने ध्यान को ऊपर नहीं ले गए और इस प्रकार उन्होंने अपना कल्याण नहीं किया, उन मनुष्यों ने अनेक योनियों में भटकते रहने का कठिन दु:ख अपने ऊपर ले लिया। ऐसे मनुष्य अपने तन को त्यागने के बाद आवागमन से छुटकारा नहीं पाते। केवल संत-सभारूपी अवध में पहुँचकर जो जीव तन त्यागने की युक्ति जान लेते हैं, उन्हीं का आवागमन के चक्कर से छुटकारा होता है।

नौ द्वारों को ख़ाली करके दसवें द्वार में प्रवेश करने का उल्लेख अन्य संतों ने भी किया है। उदाहरण के लिए गुरु अमरदास जी ने कहा है:

नउ दर ठाके धावत रहाए॥ दसवै निज घर वासा पाए॥
ओथै अनहद सबद वजह दिन राती गुरमती सबद सुणावणिआ॥

आदि ग्रन्थ, पृ. 124

कबीर साहिब भी कहते हैं:

नउ घर देख जो कामन भूली बसत अनूप न पाई॥
कहत कबीर नवै घर मूसे दसवैं तत समाई॥

आदि ग्रन्थ, पृ. 339

स्वामी जी महाराज का भी यही उपदेश है:

नौ द्वारन में बँध रही। अब चैन नहीं इक स्वाँस॥
दसवीं खिड़की खोल री। कर परम बिलास॥

सारबचन संग्रह, 19:6:7-8

इसी प्रकार कुछ लोग यह समझते हैं कि अनेक तीर्थस्थानों में भ्रमण करना और नदियों या सरोवरों में स्नान करना ही तुलसीदास जी

के अनुसार मुक्ति का साधन है। पर तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में इसके संबंध में जो कुछ कहा है, उससे यह स्पष्ट होता है कि उनका विचार बिलकुल भिन्न है। उनके अनुसार संतों का समाज ही चलता-फिरता तीर्थराज (अर्थात् तीर्थ ही नहीं बल्कि तीर्थों का राजा) है, जिसमें नाम-भक्तिरूपी गंगा की निर्मल धारा बहती है। ब्रह्म-विचार ही सरस्वती नदी है तथा सुंदर आचरण (शील) का पालन और बुरे आचरण का त्याग ही कलियुग के पापों को हरनेवाली यमुना नदी है। इस संत-समाजरूपी तीर्थराज यानी प्रयाग में अटल विश्वास करना ही मनुष्य का अपना सच्चा धर्म है जो अक्षयवट के समान है। यह तीर्थराज सब देशों में, सब समय, सभी को सहज ही प्राप्त हो सकता है। जो इस अलौकिक तीर्थराज का उपदेश प्रसन्न मन से सुनते और समझते हैं तथा अत्यंत प्रेम के साथ इसमें ग़ोता लगाते हैं, वे जीते-जी अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष नामक चारों फलों को प्राप्त कर लेते हैं।

मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम[1] तीरथराजू॥
राम भक्ति जहँ सुरसरि[2] धारा। सरसइ[3] ब्रह्म बिचार प्रचारा॥
विधि निषेधमय[4] कलिमल हरनी[5]। करम कथा रबिनंदनि[6] बरनी॥
बटु[7] बिस्वास अचल निज धरमा। तीरथराज समाज सुकरमा॥
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा[8]॥
अकथ अलौकिक तीरथराऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाउ॥
सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं[9] अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु[10] साधु समाज प्रयाग॥

मानस, 1.1.4-7, 1.2

---

1. चलता-फिरता 2. गंगा 3. सरस्वती 4. **विधि निषेधमय**=करनेवाले और न करनेवाले 5. **कलिमल हरनी**=पापों को हरनेवाली 6. यमुना 7. अक्षयवट 8. **समन कलेसा**=क्लेश को शांत करना 9. स्नान करना 10. **अछत तनु**=शरीर में रहते हुए

तुलसीदास जी ने इन पंक्तियों में संतों के सत्संग को सर्वश्रेष्ठ तीर्थ कहा है क्योंकि संतों की सभा वह स्थान है जिसमें आत्म-कल्याण के मार्ग का उपदेश दिया जाता है जिसमें भक्ति, विवेक (ब्रह्म-विचार) पवित्र आचरण और उत्तम चरित्र पर चलने की प्रेरणा दी जाती है। तुलसीदास जी कहते हैं कि यह सर्वश्रेष्ठ तीर्थ सब देशों और हर समय में आसानी से प्राप्त होता है अर्थात् संत किसी भी देश और किसी भी समय में प्रकट होकर प्रभु के खोजी जिज्ञासुओं का मार्गदर्शन करते हैं। जो अभ्यासी गहरे प्रेम के साथ इस तीर्थ में ग़ोता लगाते हैं अर्थात् पूर्ण एकाग्रता के साथ उनके बताए अभ्यास में लग जाते हैं, वे जीते-जी मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

गंगा, यमुना और सरस्वती आंतरिक धाराएँ हैं जिनको आत्मा अपनी आंतरिक यात्रा में पार करती है। संतों ने बाहर की नदियों का उदाहरण देकर इस भाव को समझाने की कोशिश की है।

तुलसीदास जी की ऊपर लिखी पंक्तियाँ इसी सत्य की ओर संकेत करती हैं। इसी भाव को अन्य संतों ने भी व्यक्त किया है।

साध संग तीरथ बड़ो, ता में नीर बिचार।
सहजो न्हाये पाइये, मुक्ति पदारथ चार॥

सहजोबाई की बानी, पृ. 12

श्री आदि ग्रन्थ में गुरु रामदास जी फ़रमाते हैं:

वडै भाग सतसंगत पाई हर हर नाम रहिआ भरपूर॥
अठसठ तीरथ मजन कीआ सतसंगत पग नाए धूर॥

आदि ग्रन्थ, पृ. 1198

स्वामी जी महाराज ने भी कहा है:

साध चरन अठशठ से उत्तम। भूमि पवित्र जहाँ पग धरते॥

सारबचन संग्रह, 17:1:12

मानस की निम्नलिखित चौपाई के संबंध में भी इसी प्रकार का भ्रम फैला हुआ है। तुलसीदास जी रामनाम की महिमा बताते हुए कहते हैं:

उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥

मानस, 2.193.4

इस चौपाई का साधारणत: यह अर्थ समझा जाता है कि वाल्मीकि ने 'राम' शब्द के बदले इसका उलटा 'मरा' शब्द का जाप कर ब्रह्मपद प्राप्त कर लिया। परंतु तुलसीदास जी का वास्तविक अभिप्राय यह है कि अपने बाहरमुखी ध्यान को उलटकर अंदर लाने तथा अपने अंदर नाम का अंतर्मुखी जाप करने से वाल्मीकि ब्रह्मपद तक पहुँचे। कहने की आवश्यकता नहीं कि जो व्यक्ति 'मरा' का उच्चारण कर सकता है, उसके लिए 'राम' का उच्चारण न कर पाना एक अत्यंत ही अविश्वसनीय बात है। संतों के अनुसार जब हम अपनी चेतनधारा को (जो इंद्रियों के बाहरमुखी होने के कारण अभी नीचे की ओर है) अंतर्मुखी बनाकर ऊपर की ओर समेटते हैं और अंतर में नाम का सुमिरन करते हैं तो उसे ही नाम का उलटा जाप कहा जाता है। अन्य संतों ने भी इस उलटी गति या उलटे जाप या सुमिरन का उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए, जिस तरह तुलसीदास जी ने उलटे जाप द्वारा वाल्मीकि के ब्रह्मपद तक पहुँचने का उल्लेख किया है, ठीक उसी तरह हाथरस के प्रसिद्ध संत तुलसी साहिब ने भी इस उलटी गति द्वारा ब्रह्मपद को प्राप्त करने की बात बताई है। वह कहते हैं:

उलटि चढ़े सोइ ब्रह्म कहाई। बिन उलटे यह मान बड़ाई॥

तुलसी साहिब की शब्दावली, भाग2, पृ. 134

इस उलटी गति का उन्होंने बार-बार उल्लेख किया है। वह फिर कहते हैं:

उलटा चलै गगन को धाई। ता से काल रहै मुरझाई॥

घट रामायण, भाग1, पृ.25

धध्धा ध्यान धरो घट माहिं सुरति को काढ़ि निकारी।
उलटि चलो असमान हिये बिच होत उजारी॥

तुलसी साहिब की शब्दावाली भाग1, पृ.26

कबीर साहिब भी कहते हैं:

कबीर धारा अगम की, सतगुरु दई लखाय।
उलटि ताहि सुमिरन करो, स्वामी संग मिलाय॥

कबीर साखी संग्रह, पृ.92

स्वामी जी महाराज ने भी कहा है:

नाम रतन गुरु देयँ बुझाई। उलट चढ़ो असमानी॥

सारबचन संग्रह 14:10:7

इसी को संतों ने आंतरिक कमल का उलटना या खिलना भी कहा है। जैसा कि आदि ग्रन्थ में कहा गया है:

गुर प्रसाद ऊरध कमल बिगास॥ अंधकार मह भइआ प्रगास॥

आदि ग्रन्थ, पृ.864

उलट कमल अंम्रित भरिआ इह मन कतहु न जाए॥
अजपा जाप न वीसरै आद जुगाद समाए॥

आदि ग्रन्थ, पृ.1291

ऐसे अनेक उदाहरण *रामचरितमानस* से दिए जा सकते हैं। पर विस्तारपूर्वक यहाँ दो-तीन की ओर ही ध्यान दिलाया गया है।

राम से तुलसी का तात्पर्य

तुलसीदास जी ने *रामचरितमानस* तथा अन्य ग्रंथों में राम की ही महिमा गाई है। इसलिए यह समझना आवश्यक है कि राम से उनका क्या तात्पर्य है। राम को लोग साधारणत: विष्णु का अवतार मानते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि *वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, आनन्द रामायण, मंगल रामायण, नारद रामायण, पुलस्त्य रामायण, वसिष्ठ रामायण* आदि तुलसी से पहले प्रचलित राम-विषयक ग्रंथों में राम को मुख्यत: विष्णु का ही अवतार माना गया है। पर तुलसीदास जी की विशेषता यह है कि वह इन ग्रंथों से आवश्यक सामग्री और प्रेरणा लेते हुए भी राम को संतमत की दृष्टि से देखते हैं। वह स्पष्ट कहते हैं:

रामु अमित गुन सागर थाह कि पावइ कोइ।
संतन्ह सन जस किछु सुनेउँ तुम्हहि सुनायउँ सोइ॥

मानस, 7.92(क)

गोस्वामी तुलसीदास जी दशरथ के पुत्र राम की कथा के माध्यम से संतों के गूढ़ उपदेश की ओर हमारा ध्यान दिलाना चाहते हैं। इसलिए दशरथ के पुत्र राम के माध्यम से वह उस सर्वोच्च परमात्मा की भक्ति का उपदेश देते हैं जिसे संतों ने मन-इंद्रिय और बुद्धि-वचन से परे, समस्त विश्व का कर्ता, अनादि, अनंत, अविनाशी, सच्चिदानंद, अनामी, सबका स्वामी और दयाल पुरुष कहा है जिससे काल भी डरता है और जिसके एक अंश से अनेक ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उत्पत्ति होती है। तुलसी के कृपालु राम की दीनों पर विशेष कृपा रहती है। वह भक्तवत्सल हैं, अपने शरणागतों की सब तरह से सँभाल करते हैं और दुष्टों और पापियों तक का उद्धार कर देते हैं। वह सर्वव्यापी, अंतर्यामी और सबके हृदय में निवास करनेवाले हैं पर प्रेम और भक्ति के बिना वह प्रकट नहीं होते।

राम के वास्तविक स्वरूप के संबंध में गोस्वामी जी ने बड़े ही सुंदर ढंग से भारद्वाज जी द्वारा याज्ञवल्क्य जी से प्रश्न पुछवाया है। भारद्वाज जी

पूछते हैं कि एक राम तो अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र थे जिन्होंने स्त्री-विरह के कारण अपार दु:ख उठाया और क्रोधवश रावण का वध किया पर क्या इसी राम का शंकर जी जप किया करते हैं या वह राम कोई और हैं?

रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही। कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही॥
एक राम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित बिदित संसारा॥
नारि बिरहँ दुखु लहेउ अपारा। भयउ रोषु रन रावनु मारा॥
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्यधाम सर्बग्य तुम्ह कहहु बिबेकु बिचारि॥

मानस, 1.45.3-4, 1.46

इस प्रश्न का उत्तर प्रारंभ करते हुए याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि राम की कथा चंद्रमा की किरणों के समान है जिसका संतरूपी चकोर सदा पान किया करते हैं:

रामकथा ससि किरन समाना। संत चकोर करहिं जेहि पाना॥

मानस, 1.46.4

याज्ञवल्क्य जी के उत्तर का गूढ़ अर्थ यही है कि मानस में वर्णित रामकथा का अर्थ शब्द यानी नाम की साधना करना है जिसको अभ्यासी महात्मा और संत ही समझते हैं।

मन, इंद्रिय, बुद्धि और वचन से परे अविनाशी राम

राम का स्वरूप मन, इंद्रिय, बुद्धि और वचन की सीमा से बाहर है। इसलिए राम को न हम तर्क द्वारा समझ सकते हैं और न शब्दों में उनका ठीक तरह से वर्णन कर सकते हैं। केवल संतजन ही अपने आंतरिक अनुभव द्वारा राम को समझकर उसके स्वरूप का कुछ संकेत हमें दे सकते हैं। इसलिए जो सत्य के ज्ञानी और सांसारिक मोह-माया से मुक्त हैं,

वे राम के आंतरिक भजन में लीन रहते हैं। जैसा कि शिव-पार्वती संवाद द्वारा तुलसीदास जी हमें समझाते हैं:

राम अतर्क्य[1] बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी॥
तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥
तस मैं सुमुखि[2] सुनावउँ तोही।

मानस, 1.120 (घ).2-3

चरित राम के सगुन भवानी[3]। तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी॥
अस बिचारि जे तग्य[4] बिरागी[5]। रामहि भजहिं[6] तर्क सब त्यागी॥

मानस, 6.73.1

लोमश मुनि द्वारा भी तुलसी ने राम को मन और इंद्रियों से परे, निर्मल, अविनाशी, निर्विकार, नि:सीम और सुख का भंडार कहलाया है:

मन गोतीत[7] अमल[8] अबिनासी। निर्बिकार निरवधि[9] सुख रासी॥

मानस, 7.110 (घ).3

तत्वज्ञानी जनक जी के माध्यम से भी तुलसीदास ने राम को मन और वचन की पहुँच से बाहर बताते हुए उसे तीनों काल (भूत, वर्तमान और भविष्य) में एक समान रहनेवाला कहा है जिसकी महिमा का पार न पाकर वेद नेति-नेति (इसका अंत नहीं, अंत नहीं) कहकर चुप हो जाते हैं:

मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगमु[10] नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस[11] रहई॥

मानस, 1.340.4

---

1. तर्क नहीं किया जा सकता 2. सुंदर मुख वाली (पार्वती) 3. पार्वती
4. तत्त्वज्ञानी 5. माया-मोह रहित 6. **रामहि भजहिं**=शब्द स्वरूपी राम को अपने अंदर सुनना 7. इंद्रियों से परे 8. निर्मल 9. सीमा रहित
10. वेद 11. **तिहुँ...एकरस**=तीनों कालों में एक समान

इसी प्रकार लक्ष्मण के माध्यम से भी तुलसीदास जी ने राम को परमार्थ-रूप कहा है अर्थात् राम स्वयं ही परमार्थ का स्वरूप है जिसे जाना नहीं जा सकता और जो अलख, अनादि और अनुपम है:

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत[1] अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गतभेदा[2]। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥
मानस, 2.92.4

इस बात का समर्थन तुलसीदास जी ने वाल्मीकि मुनि के मुख से भी कराया है। वह कहते हैं कि यह संसार एक तमाशा है और परमात्मा यानी राम इसको देखनेवाला है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी राम के इशारे पर नाचते रहते हैं पर वे राम का मर्म नहीं जान पाते। कोई और भला राम को क्या जान सकेगा? राम कृपा करके जिस भक्त को अपना रूप जनाता है, वही राम को जान पाता है और राम को पहचानते ही वह राम का स्वरूप बन जाता है मानों राम, भक्तों के हृदय को शीतल करनेवाला चंदन है। वह संतों के कार्य के लिए मनुष्य शरीर धारण कर साधारण मनुष्य जैसा व्यवहार करता है पर वास्तव में उसका स्वरूप चैतन्यमय और आनंदमय है जिसे केवल अधिकारी भक्तजन ही जान सकते हैं। इसे समझाते हुए *मानस* में वाल्मीकि राम से कहते हैं:

राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर[3] बुद्धिपर[4]।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह॥
जगु पेखन[5] तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु[6] नचावनिहारे॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। औरु तुम्हहि को जाननिहारा॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

1. जो जाना न जाए 2. भेद रहित 3. शब्दों में न कहा जा सकनेवाला
4. बुद्धि से परे 5. तमाशा 6. **बिधि...संभु**=ब्रह्मा, विष्णु और शिव

तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर[1] चंदन॥
चिदानंदमय[2] देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी[3]॥
नर तनु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत[4] राजा॥
मानस, 2.सोरठा 126.1-3

राम के इस गूढ़ रहस्य को आसानी से कोई नहीं समझ सकता। पर राम की कृपा से जब किसी भक्तजन को राम का ज्ञान हो जाता है, तब वह फिर कभी सपने में भी मोह या माया का शिकार नहीं होता। जैसा कि मानस के उत्तरकाण्ड में काकभुशुण्डि गरुड़ से कहते हैं:

यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानइ कोइ।
जो जानइ रघुपति कृपाँ सपनेहुँ मोह न होइ॥
मानस, 7.116(क)

अपने अंशमात्र से अनेक त्रिदेवों को उत्पन्न करनेवाला जगत-कर्ता

रामकथा की सबसे प्राचीन रचना *वाल्मीकि रामायण* है और तुलसीदास जी ने अपने *रामचरितमानस* के निर्माण में *वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण* आदि अपने पहले के प्राय: सभी राम-विषयक संस्कृत ग्रंथों का उपयोग किया है। पर इन ग्रंथों से प्राप्त सामग्री को तुलसीदास ने अत्यंत कुशलता और मौलिकता के साथ अपने ढंग से सजाया है। उदाहरण के लिए, *वाल्मीकि रामायण* में राम को विष्णु का अवतार माना गया है। *वाल्मीकि रामायण* में दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ के समय सभी देवता यज्ञ में भाग लेने के लिए उपस्थित होते हैं और वहाँ वे विष्णु से लोक-कल्याण के लिए रावण के वध करने की प्रार्थना करते हैं:

1. हृदय 2. चैतन्यमय और आनंदमय 3. योग्यता रखनेवाला
4. साधारण

त्वां नियोक्ष्यामहे विष्णो लोकानां हितकाम्यया।
तत्र त्वं मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोककण्टकम्।
अवध्यं देवतैर्विष्णो समरे जहि रावणम्॥

वाल्मीकि रामायण 1.15.19,21,22

(हे विष्णो! लोकहित की कामना से हम आपको इस काम में लगाना चाहते हैं। आप वहाँ मनुष्यरूप में अवतार लेकर बढ़े हुए कंटकरूप और देवताओं से न मारे जाने योग्य रावण को युद्ध में मारिए)

मन्दोदरी भी राम को विष्णु अवतार बताती है:

मानुषं वपुरास्थाय विष्णु: सत्य पराक्रम:

वाल्मीकि रामायण 6.114.16

(मनुष्य का शरीर धारण किए हुए यह सच्चे पराक्रम वाले विष्णु हैं)

वाल्मीकि ने राम का आदर्श मानव के रूप में वर्णन करके तथा उन्हें अनेक सद्गुणों से सजाकर श्रेष्ठ मानव के रूप में प्रस्तुत किया है। राम की वीरता, तेजस्विता और पराक्रम पर उन्होंने विशेष ज़ोर दिया है।

रामो हि विष्णु: पुरुष: पुराण: (*अध्यात्म रामायण* 7.9.58) राम तो पुरातन पुरुष विष्णु हैं। *अध्यात्म रामायण* में भी राम विष्णु के ही अवतार माने गए हैं, यद्यपि *अध्यात्म रामायण* में भक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस प्राचीन परंपरा के अनुसार दशरथ-पुत्र राम को साधारणतया विष्णु का ही अवतार माना जाता रहा है।

पर संतमत का संदेश देनेवाले तुलसीदास जी की यह विशेषता है कि उन्होंने *वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण* आदि को अपने *रामचरितमानस* का आधार बनाते हुए भी राम को पूर्ण परमात्मा के रूप में उपस्थित किया है जिसके अंशमात्र से अनेक ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार भक्त तुलसीदास जी का राम मनुष्य के रूप में

आदर्श मानव या मर्यादा पुरुषोत्तम होता हुआ भी अपने वास्तविक रूप में पूर्ण परमात्मा है जिसकी भक्ति के बिना जीव का निस्तार संभव नहीं है।

तुलसीदास जी का राम अनादि, अनंत, अखंड और प्रकृति के सभी गुणों से परे है जिसका ध्यान परमतत्त्व को जाननेवाले किया करते हैं। इस राम के अंशमात्र से अनेक ब्रह्मा, विष्णु और शिव उत्पन्न होते हैं। पर ऐसी महिमा वाला राम अपने भक्तों के प्रेम के वश में होता है और उन करोड़ों भक्तों के लिए शरीर धारण करके अपनी लीला दिखाता है। राम में अनंत कोटि सरस्वती की बुद्धिमत्ता, ब्रह्मा की सृष्टि रचना की निपुणता, करोड़ों विष्णु के विश्व पालन की क्षमता और अरबों शिव के विश्व संहार की शक्ति है:

अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं[1] परमारथबादी[2]॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा[3]। निजानंद[4] निरुपाधि[5] अनूपा[6]॥
संभु बिरंचि[7] बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई॥

मानस, 1.143.2-4

सारद[8] कोटि अमित[9] चतुराई। बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई॥
बिष्नु कोटि सम पालन कर्ता। रुद्र कोटि सत सम संहर्ता[10]॥

मानस, 7.91(ख).3

राम का जन्म होते ही तुलसीदास जी ने बालक राम का वर्णन करते हुए राम को परमात्मा के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने राम की माता कौशल्या के मुख से राम के स्वरूप का जो वर्णन किया है वह परमपिता परमात्मा का वर्णन प्रतीत होता है। कौशल्या को बालक राम के रोम-रोम

1. ध्यान करना 2. परमतत्त्व का विचार करनेवाले 3. निर्णय करना
4. अपने आप में आनंदमय 5. माया रहित 6. जिसकी कोई उपमा न हो
7. ब्रह्मा 8. सरस्वती 9. असीम 10. नाश करनेवाले

में अनेक ब्रह्मांडों के समूह दिखाई देते हैं जिनमें अनगिनत सूर्य, चंद्र, ब्रह्मा, शिव, काल, अनेक पर्वत, नदियाँ, समुद्र, वन आदि दिखाई देते हैं।

रामचरितमानस के कथा पक्ष का आधार दशरथ-पुत्र राम है, इसलिए तुलसीदास जी ने उस राम का, जिसे परमात्मा के रूप में प्रस्तुत किया है, वर्णन करने के लिए मानस के एक पात्र कौशल्या का आधार लिया है।

देखरावा मातहि निज अद्‌भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥
अगनित रबि ससि[1] सिव चतुरानन[2]।
बहु गिरि[3] सरित[4] सिंधु महि कानन[5]॥
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ॥

मानस, 1.201, 1.201.1

यह बताने के लिए कि राम से उनका तात्पर्य परमात्मा से है, तुलसीदास जी ने काकभुशुण्डि के प्रकरण को लेकर इस बात को स्पष्ट किया है। काकभुशुण्डि बालक राम को देखने के लिए जाते हैं और उनका जो अनुभव होता है वह इस प्रकार है: बालक राम घुटने और हाथों के सहारे चलते हुए काग को पकड़ने आते हैं। काकभुशुण्डि वहाँ से उड़कर भागते हैं। पर ज्यों-ज्यों वह दूर उड़ते जाते हैं, राम का हाथ केवल दो अँगुल उनके पीछे दिखाई पड़ता है। ब्रह्मलोक के पार आसमान के सातों पर्दों को भेदकर जहाँ तक वह जा सकते थे, जाते हैं पर राम का हाथ उसी तरह उनके पीछे लगा रहता है। अंत में व्याकुल और भयभीत होकर वह अपनी आँखें मूँद लेते हैं। आँखें खोलने पर वह राम को हँसते हुए देखते हैं और वह राम के हँसते हुए मुख में प्रवेश कर जाते हैं। राम के अंदर वह अनेक विचित्र लोकों और ब्रह्मांडों को देखते हैं जिनकी रचना एक से एक बढ़कर है। अलग-अलग लोकों में वह अलग-अलग

1. **रबि ससि**=सूर्य और चंद्रमा 2. ब्रह्मा 3. पहाड़ 4. नदी 5. वन, जंगल

अनेक ब्रह्मा, विष्णु, शिव, पृथ्वी, नदी, समुद्र, तालाब, पर्वत आदि को देखते हैं जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता। अनगिनत लोकों में वह सब कुछ भिन्न-भिन्न देखते हैं पर वह राम को सर्वत्र एकरूप में पाते हैं।

तुलसीदास जी के कहने का भाव है कि जिस राम का वह वर्णन कर रहे हैं, वह कोई अवतार या देवता नहीं है बल्कि स्वयं परमात्मा है क्योंकि उसके अंदर अनेक ब्रह्मांड दिखाई देते हैं। अनेक और भिन्न-भिन्न ब्रह्मा, विष्णु और शिव उसके अंदर मौजूद हैं। यह वर्णन स्पष्ट ही तीनों देवों अथवा उनके किसी अवतार का न होकर परमात्मा के स्वरूप का है जोकि अंदर हर स्थान में एक ही रूप में मौजूद है:

जिमि जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा। तहँ भुज हरि देखउँ निज पासा॥
ब्रह्मलोक लगि गयउँ मैं चितयउँ पाछ[1] उड़ात।
जुग अंगुल कर बीच सब राम भुजहि मोहि तात॥
सप्ताबरन[2] भेद करि जहाँ लगें गति मोरि।
गयउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि ब्याकुल भयउँ बहोरि॥
मूदेउँ नयन त्रसित जब भयउँ। पुनि चितवत कोसलपुर गयउँ॥
मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं। बिहँसत तुरत गयउँ मुख माहीं॥
उदर माझ सुनु अंडज राया[3]। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया[4]॥
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका॥
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा[5]। अगनित उडगन[6] रबि रजनीसा[7]॥
अगनित लोकपाल जम काला। अगनित भूधर[8] भूमि बिसाला॥
सागर सरि[9] सर[10] बिपिन[11] अपारा। नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किंनर। चारि प्रकार जीव सचराचर॥
जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्‌भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ॥

1. पीछे 2. आंतरिक आकाश के सात पर्दों को 3. **अंडज राया**=अंडे से उत्पन्न होनेवालों के राजा 4. समूह 5. शिव 6. तारागण 7. चंद्रमा 8. पहाड़ 9. नदी 10. तालाब 11. जंगल

लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता[1]। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता[2]॥
देव दनुज[3] गन नाना जाती[4]। सकल जीव तहँ आनहि भाँती॥
भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति बिचित्र हरिजान[5]।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन[6]॥

मानस, 7.78(ख).4, 7.79(क)-7.80(क);
7.80(ख).1, 2 और 7.81(क)

यह सब काकभुशुण्डि ने स्वयं अपनी आंतरिक आँख से देखा है। उनका यह निजी अनुभव है कि परमप्रभु राम के भजन के बिना जीव का क्लेश कभी दूर नहीं हो सकता। भुशुण्डि जी कहते हैं:

कहेउँ न कछु करि जुगुति बिसेषी[7]।
यह सब मैं निज नयनन्हि देखी॥

मानस, 7.90(ख).1

निज अनुभव अब कहउँ खगेसा[8]।
बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा॥

मानस, 7.88(ख). 3

शिव के माध्यम से भी तुलसी अपने निजी अनुभव के ही द्वारा यह कहते हैं कि संसार सपना है और राम का भजन ही एकमात्र सच है:

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजनु जगत सब सपना॥

मानस, 3.38(ख). 3

1. ब्रह्मा 2. दिशाओं के रक्षक 3. राक्षस 4. **नाना जाती**=अनेक प्रकार के
5. विष्णु के वाहन (गरुड़) 6. दूसरी तरह का 7. कल्पना से बढ़ा-चढ़ाकर
8. पक्षिराज (गरुड़)

आंतरिक दृष्टि द्वारा शरीर के अंदर असंख्य आश्चर्यमय खंडों-ब्रह्मांडों तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिव के देखे जाने का उल्लेख हम श्री आदि ग्रन्थ में भी पाते हैं। जैसा कि गुरु अमरदास जी कहते हैं:

इस काइआ अंदर वसत असंखा॥ गुरमुख साच मिलै ता वेखा॥

आदि ग्रन्थ, पृ.110

काइआ अंदर सभ किछ वसै खंड मंडल पाताला॥
काइआ अंदर जगजीवन दाता वसै सभना करे प्रतिपाला॥...
काइआ अंदर रतन पदारथ भगति भरे भंडारा॥
इस काइआ अंदर नउ खंड प्रिथमी हाट पटण बाजारा॥...
काइआ अंदर ब्रहमा बिसन महेसा सभ ओपत जित संसारा॥
सचै आपणा खेल रचाइआ आवा गउण पासारा॥

आदि ग्रन्थ, पृ.754

इस गुफा मह अखुट भंडारा॥ तिस विच वसै हर अलख अपारा॥

आदि ग्रन्थ, पृ.124

तुलसीदास जी के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, शिव, काल, माया आदि सभी परमप्रभु राम के भाणे, रज़ा या हुक्म में रहकर उनकी आज्ञा का पालन करते हैं। उस प्रभु का बल पाकर ब्रह्मा, विष्णु और शिव संसार की रचना, पालन और संहार करते हैं। इस प्रकार राम के केवल भौंहों के इशारे पर विश्व की सृष्टि और विनाश का कार्य होता है। इसी लिए तुलसीदास जी कहते हैं:

बिधि हरि हरु[1] ससि रबि[2] दिसिपाला[3]।
माया जीव करम कुलि[4] काला॥

1. **बिधि...हरु**=ब्रह्मा, विष्णु और शिव 2. **ससि रबि**=चंद्रमा और सूर्य
3. दिशाओं के रक्षक 4. **करम कुलि**=सभी कर्म

अहिप[1] महिप[2] जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम[3] गाई॥
करि बिचार जियँ देखहु नीकें। राम रजाइ[4] सीस सब ही कें॥

मानस, 2.253.3-4

राम की आज्ञा को मेटने की बात किसी को मन में लाते भी कहीं देखा-सुना नहीं गया:

राम रजाइ मेट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं॥

मानस, 2.297.4

हनुमान-रावण संवाद में भी हनुमान रावण को अपना परिचय इस प्रकार देते हैं:

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥
जाकें बल बिरंचि हरि ईसा[5]। पालत सृजत हरत[6] दससीसा[7]॥
तासु दूत मैं...॥

मानस, 5.20.2, 3, 5.21

यही बात शिवजी पार्वती से कहते हैं:

उमा राम की भृकुटि बिलासा[8]। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा॥

मानस, 6.34(ख).4

तभी तो हनुमान रावण से कहते हैं कि हज़ारों शिव, विष्णु और ब्रह्मा भी तुम-जैसे राम के द्रोही को बचा नहीं सकते:

1. सर्पों के राजा (शेषनाग) 2. भूलोक के राजा 3. वेद-पुराण 4. आज्ञा
5. **बिरंचि...ईसा**=ब्रह्मा, विष्णु और शिव 6. नाश करना 7. रावण
8. **भृकुटि बिलासा**=भौंहों के इशारे से

संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥

मानस, 5.22.4

लक्ष्मण भी रावण को ऐसा ही संदेश भेजते हैं कि राम से विरोध करके तू ब्रह्मा, विष्णु और शिव की शरण में जाकर भी बच नहीं सकेगा:

राम बिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज[1] ईस[2]।

मानस, 5.56(क)

अनादि, अनंत, परम प्रकाशमय और आनंदमय राम

राम का कोई आदि और अंत नहीं है। वह परम प्रकाशमय, परम आनंदमय, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान पूर्ण परमेश्वर है। उसके नाम के सुमिरन से ही हृदय का अज्ञान मिट जाता है और प्रकाश छा जाता है। सारा संसार एकमात्र उसी के प्रकाश से प्रकाशित है। राम माया का भी स्वामी है। रामरूपी सूर्य का दर्शन पाने पर माया-मोह रूपी रात का अँधेरा सदा के लिए मिट जाता है।

राम सुख का सागर है जिसकी केवल एक बूँद तीनों लोकों को आनंदमय बना सकती है। केवल राम अर्थात् प्रभु की भक्ति के द्वारा ही संपूर्ण विश्व शांति की प्राप्ति कर सकता है। राम सत्, चित् (चैतन्य) और आनंद का घनीभूत रूप है, इसलिए उसे सच्चिदानंद घन भी कहा जाता है। एकमात्र प्रभु (राम) के नामरूपी पुल के सहारे ही जीव संसार-सागर को पार कर सकता है। जैसा कि तुलसीदास जी कहते हैं:

सुमिरत जाहि मिटइ अग्याना। सोइ सरबग्य रामु भगवाना॥

मानस, 1.52.2

1. ब्रह्मा 2. शिव

राम सच्चिदानंद दिनेसा[1]। नहिं तहँ मोह निसा[2] लवलेसा[3]॥

मानस, 1.115.3

इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रबि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं॥

मानस, 7.71(ख).4

जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर तें[4] त्रैलोक सुपासी[5]॥
सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥

मानस, 1.196.3

सोइ सच्चिदानंद घन रामा। अज[6] बिग्यान रूप बल धामा॥
ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघसक्ति[7] भगवंता॥

मानस, 7.71(ख).2

जो जीव सुख के समुद्र राम को प्राप्त कर लेते हैं, वे दु:खों से मुक्त होकर सदा के लिए सुखी हो जाते हैं और उनके आनंद की कोई सीमा नहीं रहती। अन्य संतों का भी यही मत है। दरिया साहिब (बिहार वाले) कहते हैं:

अति सुख पावहि हंसा, करहिं कोताहल जाय।
छप लोक अमृत पिये, जुग जुग छुधा बुताय॥

दरिया सागर, पृ.39

स्वामी जी महाराज भी कहते हैं:

रंग महल सतपुरुष का, शोभा अगम अपार।
हंस जहाँ आनँद करें, देखें बिमल बहार॥

सारबचन संग्रह, 6:7:7

1. सूर्य 2. **मोह निसा**=मोहरूपी रात 3. अत्यंत थोड़ा
4. **सीकर तें**=एक बूँद से 5. सुखी हो जाते हैं 6. अजन्मा
7. व्यर्थ न जानेवाली शक्ति

वह फिर कहते हैं:

सुख का धाम सदा सुख जहाँ। दुख कलेश का नाम न वहाँ॥
नइ नइ लीला सदा अनंद। हंस करें नित परमानन्द॥
अमी अहार भोग परचंड। सच्चखंड वह धाम अखंड॥

सारबचन संग्रह, 23:1:35-37

राम के आदि और अंत का कोई पता नहीं पा सकता। वेदों ने केवल अनुमान द्वारा यह कहा है कि उसकी शक्ति ऐसी अलौकिक है कि वह बिना पैर के चलता, बिना कान के सुनता, बिना हाथ के सब कार्य करता, बिना मुँह के सब रसों का आनंद लेता, बिना वाणी के बोलता, बिना शरीर के स्पर्श करता, बिना आँख के देखता और बिना नाक के सभी गंधों को ग्रहण करता है। पर अलख और अगुण होते हुए भी वह अपने भक्तों के प्रेमवश साकार रूप में प्रकट हो जाता है, जैसे जल बर्फ़ या ओले के रूप में ठोस रूप ग्रहण कर लेता है। सचमुच ही राम की महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता। जैसा कि तुलसीदास जी शिवजी के मुख से कहलवाते हैं:

आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा[1]॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना।
कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन[2] रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस[3] नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान[4] बिनु बास[5] असेषा॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥

मानस, 1.117.2-4

1. **अस गावा**=इस प्रकार गाया है। 2. मुँह 3. स्पर्श 4. नाक
5. गंध

अगुन अरूप अलख[1] अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें।
जलु हिम उपल[2] बिलग नहिं जैसें॥

मानस, 1.115.1-2

गुरु नानक साहिब ने भी प्रभु की महिमा का गुणगान करते हुए इसी प्रकार कहा है:

सहस तव नैन नन नैन हहे तोहे कउ सहस मूरत नना एक तोही॥
सहस पद बिमल नन एक पद गंध बिन सहस तव गंध इव चलत मोही॥

आदि ग्रन्थ, पृ. 13

राम: अनामी स्वरूप

सभी संतों की तरह तुलसीदास जी भी सच्चिदानंद स्वरूप राम अर्थात् परमात्मा को एक मानते हैं। यद्यपि देश, काल और भाषा की भिन्नता के कारण हम एक ही राम को अनेक नामों से पुकारते हैं पर वह राम वास्तव में सभी वर्णात्मक नामों से परे अनामी है। वह मन और बुद्धि की इच्छाओं से परे (अनीह) है। इसलिए मन-बुद्धि से परे केवल आत्मा द्वारा आंतरिक अनुभव से ही वह जाना जा सकता है। वह सभी जीवों का परमधाम है। वह सब कुछ जाननेवाला तथा की हुई सेवा को माननेवाला है। उसकी कोई उपमा नहीं दी जा सकती क्योंकि उसके समान और कोई नहीं है। अनेक उपमाओं द्वारा उस का वर्णन करना सैकड़ों कोटि जुगनुओं से सूर्य की उपमा देने के समान है। यह सूर्य का निरादर करने के समान है। पर कृपालु राम अनामी और निरुपम होता हुआ भी भाव-भक्ति के साथ किसी भी नाम से पुकारे जाने या किसी भी तरह गुणगान किए

1. न देखा जा सकनेवाला 2. ओला

जाने से प्रसन्न हो जाता है। अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार भक्तों ने उस अनामी राम के अनेक नाम रख लिए हैं:

एक अनीह[1] अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा[2]॥

मानस, 1.12.2

अकल[3] अनीह अनाम अरूपा। अनुभव गम्य[4] अखंड अनूपा॥

मानस, 7.110 (घ).2

तग्य[5] कृतग्य अग्यता भंजन[6]। नाम अनेक अनाम निरंजन[7]॥

मानस, 7.33.3

निरुपम न उपमा आन[8] राम समान रामु निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत[9] सम रबि कहत अति लघुता लहै॥
एहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भाव गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं॥

मानस, 7.91(ख).छन्द

इन्ह के नाम अनेक अनूपा। मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा॥

मानस, 1.196.2

कबीर साहिब ने भी बड़े स्पष्ट रूप से उच्चतम और अवर्णनीय लोक के निवासी परमपुरुष को अनामी पुरुष कहा है जिसे केवल अपने निज़ी अनुभव से जाना जा सकता है:

ता पर अकह लोक है भाई, पुरुष अनामी तहाँ रहाई।
जो पहुंचा जानेगा वाही। कहन सुनन तें न्यारा है॥

कबीर साहिब की शब्दावली, भाग1, पृ. 67

1. इच्छा रहित 2. **पर धामा**=परमधाम 3. अखंड
4. **अनुभव गम्य**=आंतरिक अनुभव से जाना जानेवाला
5. असलियत को जाननेवाला 6. **अग्यता भंजन**=अज्ञान का नाश करनेवाला
7. माया (अंजन) रहित 8. अन्य 9. जुगनू

तुलसी साहिब ने भी इस आदिपुरुष को अनामी ही कहा है:

अब कहूँ आदि अगाध अनामी। ताकी गति मति संत बखानी॥

घट रामायण, भाग1, पृ. 35

स्वामी जी महाराज भी यही कहते हैं:

अकह अपार अगाध अनामी। सो मेरे प्यारे राधास्वामी॥

सारबचन छन्द-बन्द, 3:1:1

राम: चराचर-स्वामी

तुलसीदास जी के अनुसार संसार के जितने भी चर और अचर अथवा चेतन और जड़ जीव और पदार्थ हैं, उन सबका मालिक एकमात्र राम है। इसलिए तुलसी ने अपने मानस के विभिन्न पात्रों द्वारा राम को बार-बार 'स्वामी', 'प्रभु' या 'नाथ' शब्द से संबोधित करवाया है। उदाहरण के लिए, शिव के माध्यम से तुलसीदास जी राम को अपना स्वामी कहते हैं:

सोइ प्रभु मोर चराचर[1] स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी[2]॥

मानस, 1.118.1

मनु और शतरूपा के माध्यम से भी तुलसीदास जी ऐसा ही कहते हैं:

सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥

मानस, 1.148.4

तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ब्रह्म सकल उर अंतरजामी॥

मानस, 1.149.3

1. जड़-चेतन 2. हृदय की बात जाननेवाला

जो यह जानते हुए भी ऐसे स्वामी को भुला देते हैं, वे भला दु:खी क्यों न होंगे?

जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥

मानस, 5.7.1

भरत जी के द्वारा भी तुलसीदास जी ने राम को स्वामी कहलवाया है:

कहौं कहावौं का अब स्वामी। कृपा अंबुनिधि अंतरजामी॥

मानस, 2.266.1

स्वामि सुजानु जानि सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥

मानस, 2.313.2

ऐसे ही भक्त की भक्ति को अनन्य भक्ति कहा जाता है जिसका अटल विश्वास हो कि मैं चराचर विश्व के स्वामी परमात्मा का सेवक हूँ:

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

मानस, 4.3

इस प्रकार राम के लिए तुलसीदास जी ने बार-बार 'स्वामी' शब्द का प्रयोग किया है।

सुनहु देव सचराचर स्वामी। प्रनतपाल[1] उर अंतरजामी॥

मानस, 5.48.3

तरहिं न बिनु सेएँ मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी॥

मानस, 7.123(ख).4

1. शरण में आए की रक्षा करनेवाला

अन्य संत-महात्माओं ने भी परमपिता परमात्मा को स्वामी कहकर ही पुकारा है। आदि ग्रन्थ में भी इस अपार संसार के सर्वोच्च मालिक के लिए 'स्वामी' शब्द का प्रयोग किया गया है:

ऊच अपार बेअंत सुआमी...॥
आदि ग्रन्थ, पृ.802

परमसंत सेठ शिवदयाल सिंह जी (स्वामी जी) ने भी 'स्वामी' शब्द को विशेष महत्त्व देते हुए राम या परमात्मा के लिए 'राधास्वामी' शब्द का प्रयोग किया है। इस नाम का अर्थ समझाते हुए वह कहते हैं कि 'राधा' आदि सुरत (आत्मा) का नाम है और आदि शब्द ही इसका स्वामी और अपना सच्चा धाम है। इसलिए वह लिखते हैं:

राधा आदि सुरत का नाम। स्वामी आदि शब्द निज धाम॥
सुरत शब्द और राधास्वामी। दोनों नाम एक कर जानी॥
सारबचन संग्रह, 2:4:1-2

राधा (आत्मा) और इसके स्वामी (परमात्मा) में प्रेम का संबंध है। आत्मा अपने स्वामी या प्रियतम से प्रेम करती है। आप कहते हैं:

राधा प्रीत लगावन हारी। स्वामी प्रीतम नाम कहा री॥
सारबचन संग्रह, 2:3:2

इस प्रेममय परमपुरुष 'राधास्वामी' को ही 'अकह' या 'अनामी' भी कहा जाता है जिसका कोई पार नहीं पा सकता:

अकह अपार अगाध अनामी। सो मेरे प्यारे राधास्वामी॥
सारबचन छन्द-बन्द, 3:1:1

सब की आदि कहूं अब स्वामी। अकह अगाध अपार अनामी॥
सारबचन संग्रह, 23:1:28

राम: दयाल पुरुष

तुलसीदास जी ने राम को दयाल पुरुष कहा है जिसे काल का भी काल कहा जाता है। वह सहज भाव से जीवों पर दया करता है। इसलिए तुलसीदास जी उसे बार-बार 'दयाल', 'कृपाल', 'कृपानिधान', 'कृपासिंधु', 'कृपायतन' आदि शब्दों से याद करते हैं।

अपने *रामचरितमानस* को दयाल राम की वंदना से ही शुरू करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि जिसकी दया से गूँगा भी सुंदर वक्ता बन जाता है, लँगड़ा भी दुर्गम पहाड़ पर चढ़ जाता है और कलिकाल के सारे पाप जलकर भस्म हो जाते हैं, वह दयाल पुरुष हम पर दया करे:

मूक होइ बाचाल पंगु चढ़इ गिरिबर गहन।
जासु कृपाँ सो दयाल द्रवउ सकल कलि मल दहन॥
मानस, 1 सोरठा 2.

यह मानस की प्रारंभिक वंदना का दूसरा सोरठा है। नाम को राम से भी बढ़कर मानने के कारण (*कहउँ नामु बड़ राम तें...। मानस*, 1.23) तुलसी ने नाम के गौरव से श्रेष्ठ माने गए और देवताओं में सर्वप्रथम पूजित (*प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ॥ मानस*, 1.18.2) गणेश की वंदना पहले सोरठे में की है और फिर दूसरे सोरठे में दयाल पुरुष राम की वंदना की है। तुलसी के अनुसार वह दयाल की दयालुता है कि वह अपने से भी अधिक अपने सेवक को बड़ाई देते हैं (*संतत दासन्ह देहु बड़ाई। मानस*, 3.12.7; *राम से अधिक राम कर दासा॥ मानस*, 7.119(ख).8।

तुलसीदास जी का यह उपदेश है कि कपट और सांसारिक झमेलों को छोड़कर हमें सहज भाव से दया करनेवाले दयाल और दीनबंधु राम के भजन में लग जाना चाहिए:

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ तेहि भजु छाड़ि कपट जंजाल॥
मानस, 1.211

तुलसीदास जी भी अपने दयाल प्रभु से दीन और भिखारी बनकर दया की भीख माँगते हैं:

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।

विनय-पत्रिका 79

वह कहते हैं कि जब तक मुझे यह ज्ञान नहीं था कि मैं दीन हूँ और तू दयालु है तथा मैं दास हूँ और तू स्वामी है, तब तक तो मैं बिना कुछ कहे दु:खों को सहता रहा पर अब तेरे लिए मुझे त्यागना ठीक नहीं है:

जब लगि मैं न दीन, दयालु तैं, मैं न दास, तैं स्वामी।
तब लगि जो दुख सहेउँ कहेउँ नहिं, जद्यपि अंतरजामी॥
तैं उदार, मैं कृपन, पतित मैं... अब न तजे बनि आवै॥

विनय-पत्रिका 113

अपनी सँभाल होने में ढिलाई होते देख तुलसी सबकी बिगड़ी बनानेवाले दयाल पुरुष से कहते हैं:

तुलसी की बार बड़ी ढील होति सील सिंधु!
बिगरी सुधारिबे को दूसरो दयालु को॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 17

इसी लिए तुलसीदास जी अपने *मानस* के अंत में कहते हैं कि निस्स्वार्थ हित करनेवाला और मुक्ति प्रदान करनेवाला राम के सिवाय भला और कौन कृपानिधान हो सकता है:

सुंदर सुजान कृपा निधान अनाथ पर कर प्रीति जो।
सो एक राम अकाम हित निर्बानप्रद सम आन को॥

मानस, 7.129.छन्द 3

दयाल राम को काल और माया से भिन्न बताते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि माया गूलर के विशाल वृक्ष के समान है जिसमें ब्रह्मांडों के समूहरूपी फल लगे हुए हैं। उन फलों के अंदर असंख्य चराचर जीव बसते हैं जिन्हें उस ब्रह्मांड के बाहर का कोई ज्ञान नहीं होने पाता। भयंकर काल ब्रह्मांडरूपी फल के सभी चराचर जीवों तथा ब्रह्मांड को भी खानेवाला है। पर वह कराल काल भी दयाल पुरुष राम से सदा डरता रहता है:

ऊमरि तरु[1] बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया[2]॥
जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना[3]॥
ते फल भच्छक कठिन कराला[4]। तव भयँ डरत सदा सोउ काला॥

मानस, 3.12.3-4

जो काल देवता, राक्षस और समस्त चराचर को खानेवाला है, वह भी राम से बहुत डरता है। ऐसे राम से विमुख होना या वैर करना ठीक नहीं:

जाकें डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥
तासों बयरु कबहुँ नहिं कीजै।

मानस, 5.21.5

राम कोई साधारण मानवी राजा नहीं है बल्कि वह समस्त विश्व का स्वामी और काल का भी काल है:

तात राम नहिं नर भूपाला[5]। भुवनेस्वर[6] कालहु कर काला॥

मानस, 5.38.1

कालनेमि भी राम को कालरूपी सर्प का विनाशक बताते हुए रावण को युद्ध से रोकने की कोशिश करता है:

---

1. **ऊमरि तरु**=गूलर का वृक्ष 2. **फल...निकाया**=ब्रह्मांडों के अनेक समूह इसके फल हैं। 3. दूसरे को 4. भयानक 5. **नर भूपाला**=मानवी राजा 6. विश्व का मालिक

काल ब्याल[1] कर भच्छक जोई। सपनेहुँ समर कि जीतिअ सोई॥
मानस, 6.55.4

श्री गुरु गोबिन्द सिंह जी ने भी परमात्मा के बारे में कहा है:

काल हूँ के काल महा काल हूँ के काल हैं॥
श्री दसम ग्रंथ, पहली सैंची, पृ.81

गुरु नानक देव जी ने भी कहा है:

काल बिकाल कीए इक ग्रासा॥
आदि ग्रन्थ, पृ.1038

गुरु रविदास जी का भी कथन है:

कालहु नाइ ताहि पद सीसा, नहिं बिसरऊं खिन एकहु[2] ईसा॥
संत गुरु रविदास-वाणी, पद 169

दीनदयाल, भक्तवत्सल, प्रणतपाल और पतित-पावन राम

दयाल पुरुष की दीनों पर विशेष दया रहती है। इसलिए तुलसी बार-बार राम को 'दीनदयाल' या 'दीनबंधु' के नाम से याद करते हैं। अपने भक्तों के प्रति विशेष प्रेम होने के कारण तुलसीदास जी राम को 'भक्तवत्सल' भी कहते हैं। यह राम अपने अतिशय प्रेमवश अपने भक्तों के अवगुणों और अपराधों पर ध्यान नहीं देता। वह उन्हें अधिकाधिक गौरव प्रदान करता है और सदा उन्हें अपनाए रहता है। अपनी शरण में आए हुए दुष्टों और अपराधियों तक को वह अभयदान दे देता है और उनकी सब तरह से सँभाल करता है। अपने को दीन-हीन, अपराधी और पतित समझनेवाले भक्त तुलसी को परमात्मा के ये नाम बहुत ही अच्छे लगते हैं।

1. सर्प 2. **खिन एकहु**=एक क्षण भी

इसलिए वह बार-बार परमात्मा को इन नामों से याद करके उससे दया की याचना करते हैं। उनकी विनय-पत्रिका तो ऐसे नामों से भरी पड़ी है।

यह बताते हुए कि परम कृपालु राम की दीनों पर सदा दया रहती है, तुलसीदास जी कहते हैं:

अति कृपाल रघुनायक सदा दीन पर नेह।
मानस, 3.1

कोमल चित अति दीनदयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥
मानस, 3.32.1

अपनी भेदभाव वाली बुद्धि से छुटकारा पाने के लिए ब्रह्मा भी राम को दीनदयाल कहकर ही दीन भाव से उसकी प्रार्थना करते हैं:

अब दीनदयाल दया करिऐ। मति मोरि बिभेदकरी हरिऐ॥
मानस, 6.110.10

तुलसीदास जी भावविभोर होकर कहते हैं कि मेरे प्रभु के दरबार में तो दीनों को ही आदर देने की रीति सदा से चली आ रही है। पर पता नहीं, इस दीन तुलसी की ओर दीनदयालु राम का ध्यान किसी ने क्यों नहीं दिलाया?

यहि दरबार दीन को आदर, रीति सदा चलि आई।
दीन दयालु दीन तुलसी की काहु न सुरति कराई॥
विनय-पत्रिका 165

वह फिर कहते हैं कि अत्यंत कोमल स्वभाव वाला दयानिधान राम तो अपने स्वभाव से ही परोपकारी है और अनगिनत दीनों की विपत्ति उसने दूर की है। पर इस दीन तुलसी पर कृपा करना वह कैसे भूल गया?

ऐसे राम-दीन हितकारी।
अतिकोमल करुनानिधान बिनु कारन पर-उपकारी॥...
कहँ लगि कहौं दीन अगनित जिन्ह की तुम बिपति निवारी।
कलिमल-ग्रसित दास तुलसी पर, काहे कृपा बिसारी॥

विनय-पत्रिका 166

इसी प्रकार 'दीनबंधु' नाम का उपयोग भी तुलसीदास जी ने अनेक बार किया है। उदाहरण के लिए, अपने *मानस* में हनुमान के माध्यम से वह कहते हैं कि मैं अज्ञानी तो मोहवश भूला हुआ हूँ, पर हे प्रभु! तू दीनबंधु होकर मुझ दीन को कैसे भूल गया:

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥

मानस, 4.2

इसी प्रकार अपनी *विनय-पत्रिका* में वह कहते हैं:

दीनबंधु, सुखसिंधु, कृपाकर[1] कारुनीक[2] रघुराई।
सुनहु नाथ! मन जरत त्रिबिधि जुर[3], करत फिरत बौराई[4]॥

विनय-पत्रिका 81

दीनबन्धु दूसरो कहँ पावों?
को तुम बिनु पर-पीर[5] पाइ है? केहि दीनता सुनावों॥

विनय-पत्रिका 232

दीनबंधु! दूरि किये दीनको न दूसरी सरन।

विनय-पत्रिका 257

1. कृपा की खान 2. करुणामय 3. **त्रिबिधि जुर**=आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ताप 4. पागलपन 5. पराया दु:ख

भक्त तुलसी भक्तों के प्रति राम के अपार प्रेम का वर्णन करते नहीं थकते। उनके अनुसार राम (परमात्मा) सच्चे अर्थ में भक्तवत्सल (भक्तों पर पुत्र जैसा प्रेम करनेवाला) है, वह भक्तों के लिए प्रकट रूप धारण कर लेता है:

भगत बछल[1] प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास[2] प्रगटे भगवाना॥

मानस, 1.145.4

परम भक्त भरत, राम के स्वभाव की यह विशेषता बताते हैं कि राम भक्तों (सेवकों) के अपराध को देख-सुनकर भी अनदेखा और अनसुना कर देता है और उलटे भक्तों के हृदय की कोमलता और प्रेम को ही बार-बार याद करता रहता है। भक्तों के गुणों को सुनकर वह साधु-समाज में उनका बखान करता है। भला ऐसा स्वामी कौन है जो सेवकों पर कृपा करके उनका सारा साज-सँभाल कर दे पर सपने में भी यह न सोचे कि मैंने सेवकों के लिए कुछ किया, बल्कि अपने हृदय में यही सोच रखे कि कहीं किसी सेवक को किए हुए उपकार का संकोच न हो? भरत जी के माध्यम से राम के इस स्वभाव पर प्रकाश डालते हुए तुलसीदास जी कहते हैं:

मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥

मानस, 2.259.3

समुझि[3] सहम मोहि अपडर अपनें[4]।
सो सुधि राम कीन्हि नहिं सपनें॥

1. **भगत बछल**=भक्तों को अपने बच्चों जैसा प्रेम करनेवाला
2. विश्व का आधार 3. दोषों को समझकर
4. **सहम...अपनें**=मैं स्वयं सहमा और डरा हुआ था।

कहत नसाइ[1] होइ हियँ नीकी[2]। रीझत राम जानि जन जी की॥
रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

मानस, 1.28(ख). 1-3

सठ सेवक की प्रीति रुचि रखिहहिं राम कृपालु।

मानस, 1.28(क)

देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥
को साहिब सेवकहि नेवाजी[3]। आप समाज साज सब साजी॥
निज करतूति न समुझिअ सपनें। सेवक सकुच सोचु उर अपनें॥

मानस, 2.298.2-3

भरत जी भावविह्वल होकर कहते हैं कि यदि मेरी करनी का प्रभु विचार करे, तब तो सैकड़ों कोटि युगों तक मेरा निस्तार संभव नहीं है। पर प्रभु का स्वभाव इतना अधिक कोमल है कि वह भक्तों के दोषों का विचार ही नहीं करता:

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार[4] कलप सत कोरी[5]॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

मानस, 7 आदि चौपाई 3

अपनी संत-सुलभ विनम्रता के साथ तुलसीदास जी स्वयं कहते हैं कि यदि प्रभु मेरे आचरण का विचार करे, तब तो मुझे करोड़ों कल्पों तक संसार के कड़ाह में औंट-औंटकर मरना होगा पर यदि प्रभु अपनी कृपादृष्टि फेर दे तो संसार-सागर गाय के खुर से बने चिह्न के समान हो जाएगा और मैं सहज ही इसे पार कर जाऊँगा:

1. **कहत नसाइ**=कहने में बिगड़ जाए
2. **होइ...नीकी**=यदि हृदय में कुछ अच्छाई हो
3. कृपा की 4. उद्धार 5. **कलप...कोरी**=सौ करोड़ कल्पों में

जो आचरन बिचारहु मेरो, कलप कोटि लगि औटि मरौं।
तुलसिदास प्रभु कृपा-बिलोकनि[1] गोपद[2]-ज्यों भवसिंधु तरौं॥

विनय-पत्रिका 141

इसलिए तुलसीदास जी का यह निश्चित मत है कि परम प्रभु राम जैसा भक्तवत्सल और शीलनिधान स्वामी कहीं हो ही नहीं सकता:

तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान॥

मानस, 1.29(क)

तुलसीदास जी के अनुसार समस्त विश्व के स्वामी और सभी सुखों के दाता राम को प्राप्त करने का सहज उपाय उसकी शरण में जाना है। राम प्रणतपाल अर्थात् अपनी शरण में आनेवालों की रक्षा करनेवाला है। वह शरणागतों के सभी अपराधों को भुलाकर उन्हें अपना लेता है। शरणागतों के भय को दूर करने का उसने प्रण कर रखा है। तुलसीदास जी कहते हैं:

सेवत सुलभ सकल सुखदायक। प्रनतपाल[3] सचराचर नायक[4]॥

मानस, 1.145.1

प्रनतपाल रघुनायक करुना सिंधु खरारि[5]।
गएँ सरन प्रभु राखिहैं तव अपराध बिसारि॥

मानस 5.22

राम ने स्वयं भी कहा है:

मम पन सरनागत भयहारी[6]॥

मानस, 5.42.4

1. कृपादृष्टि करने से 2. गाय का खुर 3. शरणागतों के रक्षक
4. मालिक 5. खर राक्षस के शत्रु (राम) 6. भय हरनेवाले

राम के इस प्रण को सुनकर और उन्हें शरणागत-वत्सल जानकर हनुमान प्रसन्न हो उठते हैं:

सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना। सरनागत बच्छल भगवाना॥

मानस, 5.42.5

इस विषय में राम का यह स्पष्ट कथन है कि जो मनुष्य अपने अहित का अनुमान करके शरण में आए हुए का त्याग कर देते हैं, वे नीच और पापी हैं। ऐसे मनुष्यों को देखने में भी पाप लगता है:

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावँर[1] पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥

मानस, 5.43

भरत जी भी कहते हैं कि मुझ जैसे को भी, जिसे घोर अपयश देकर सबने बिलकुल नष्ट कर दिया था, उसे राम ने ही अपने प्रणतपाल होने का प्रण निभाते हुए बचाया है:

पाउ रोपि सब मिलि मोहि घाला[2]। प्रनतपाल पन आपन पाला॥

मानस, 2.266.3

प्रभु के प्रणतपाल होने का आसरा लेकर ही तुलसी अपने प्रभु से शीघ्र कृपा करने की विनती करते हैं:

माधव! अब न द्रवहु केहि लेखे।
प्रनतपाल पन तोर, मोर पन जिअहुँ कमलपद देखे॥

विनय-पत्रिका 113

1. दुष्ट 2. **मोहि घाला**=मुझे नष्ट कर डाला था।

साहिब सरनपाल सबल न दूसरो।
तेरो नाम लेत ही सुखेत होत ऊसरो[1]॥

विनय-पत्रिका 180

तुलसीदास जी कहते हैं कि प्रभु का पतित-पावन नाम सुनकर मुझ पतित को अब अपने कल्याण का पूरा भरोसा हो गया है। ऐसे पतित-पावन और दीनों से प्रेम करनेवाले राम के चरणों की शरण को छोड़कर अब मैं भला कहाँ जाऊँ?

मैं हरि पतित-पावन सुने।
मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ बानक बने[2]॥...
दास तुलसी सरन आयो, राखिये आपने॥

विनय-पत्रिका 160

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे॥

विनय-पत्रिका 101

सर्वव्यापी राम

'राम' शब्द से तुलसी का अभिप्राय उस परमात्मा से है जो समस्त जड़-चेतन विश्व में रमा हुआ या सर्वव्यापी है। वह हमें यह विश्वास दिलाते हैं कि आदिपुरुष या परम प्रभु राम ही विश्व में व्याप्त है। वह कहते हैं:

जड़ चेतन जग जीव जत[3] सकल राममय जानि।

मानस, 1.7 (ग)

1. **सुखेत...ऊसरो**=ऊसर खेत भी उपजाऊ बन जाता है।
2. **दोउ...बने**=दोनों का मेल हो गया। 3. जितने भी

ब्यापक अकल[1] अनीह[2] अज[3] निर्गुन नाम न रूप।

मानस, 1.205

राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस[4] पुराना[5]॥

मानस, 1.115.4

यह कछु नहिं प्रभु कइ अधिकाई। बिस्वरूप ब्यापक रघुराई॥

मानस 4.21.2

बिस्वरूप रघुबंस[6] मनि करहु बचन बिस्वासु।

मानस, 6.14

यह समस्त विश्व जिसमें राम या परमात्मा समाया हुआ है, राम का ही रूप है। इसलिए तुलसीदास जी राम को 'व्यापक' (जो समाया हुआ है) और 'व्याप्य' (जिसमें वह समाया हुआ है) – दोनों ही कहते हैं। इस व्यक्त संसार की दृष्टि से राम सभी गुणों का भंडार है पर इस संसार के नष्ट हो जाने पर भी अलख, अविनाशी, आनंदमय और निर्गुण राम का कभी नाश नहीं होता। इसलिए तुलसीदास जी कहते हैं:

ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघसक्ति[7] भगवंता॥

मानस, 7.71(ख).2

ब्यापकु बह्मु अलखु अबिनासी। चिदानंदु[8] निरगुन गुनरासी॥

मानस, 1.340.3

समस्त चराचर विश्व में ऐसी कोई जगह नहीं है जहाँ राम अर्थात् परमात्मा न हो। राम सभी देश, काल, दिशा और दिशा से रहित स्थान

1. अखंड 2. इच्छा रहित 3. अजन्मा 4. परमेश्वर 5. आदिपुरुष
6. **बिस्वरूप रघुबंस**=विश्व उस राम का ही रूप है। 7. व्यर्थ न जानेवाली शक्ति
8. चेतन और आनंदमय

में रमा हुआ है। पर सर्वव्यापी राम प्रेम द्वारा ही प्रकट होता है, जैसे काठ में रहनेवाली आग काठ से रगड़े जाने पर प्रकट होती है:

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग जगमय[1] सब रहित बिरागी[2]।
प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

मानस, 1.184.3-4

मानस के राम-वाल्मीकि संवाद में तुलसी ने बड़े ही सुंदर ढंग से राम की सर्वव्यापकता दिखाई है। जब राम वाल्मीकि से पूछते हैं कि मैं किस स्थान में पर्णकुटी बनाकर रहूँ, तब वाल्मीकि सकुचाते हुए राम से पूछते हैं कि आप पहले मुझे यह तो बताएँ कि आप कहाँ नहीं हैं? तब मैं आपको आपके रहने का स्थान बता दूँगा:

पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ मैं पूँछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ॥

मानस, 2.127

हमारे अंदर ही राम का निवास

तुलसीदास जी के अनुसार यद्यपि राम परम निर्मल, अविनाशी और प्रकृति (माया) से परे है, फिर भी वह हमसे दूर नहीं है। वह समस्त विश्व में रमा हुआ है, सभी जीवों के हृदय में निवास करता है तथा सबका परिपालन करता है। तुलसीदास जी कहते हैं:

जड़ चेतन जग जीव जत[3] सकल राममय जानि।

मानस, 1.7.(ग)

1. **अग जगमय**=अचल और चल - सबमें समाया हुआ
2. निर्लिप्त 3. जितने भी

यह कछु नहिं प्रभु कइ अधिकाई[1]। बिस्वरूप ब्यापक रघुराई॥

मानस, 4.21.2

जदपि बिरज[2] ब्यापक अबिनासी। सबके हृदयँ निरंतर बासी॥

मानस, 3.10.9

प्रकृति पार प्रभु सब उर[3] वासी।

मानस, 7.71(ख).4

सर्ब सर्बगत सर्ब उरालय[4]। बससि सदा हम कहुँ परिपालय॥

मानस, 7.33.4

अन्य संतों ने भी राम या परमात्मा को हमारे शरीर के अंदर निवास करनेवाला माना है। उदाहरण के लिए गुरु अमरदास जी परमात्मा को हमारे शरीर में निवास करनेवाला और हमारा प्रतिपालन करनेवाला कहते हैं:

काइआ अंदर जगजीवन दाता वसै सभना करे प्रतिपाला॥

आदि ग्रन्थ, पृ.754

वह फिर कहते हैं:

इस गुफा मह अखुट भंडारा॥ तिस विच वसै हर अलख अपारा॥

आदि ग्रन्थ, पृ.124

कबीर साहिब भी कहते हैं:

ज्यों तिल माहीं तेल है, ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साईं तुज्झ में, जागि सकै तो जागि॥

कबीर साखी-संग्रह, पृ.106

1. कोई बड़ी बात 2. निर्मल 3. हृदय
4. **सर्ब...उरालय**=सबके हृदयरूपी घर का निवासी

इसी प्रकार दादू दयाल जी कहते हैं:

(दादू) सब घटि में गोबिन्द है, संगि रहै हरि पास।
कस्तूरी मृग में बसै, सूँघत डोलै घास॥

दादू दयाल की बानी, भाग1, कस्तूरिया मृग 3

पीपा जी का कथन है:

जो ब्रहमंडे सोई पिंडे जो खोजै सो पावै॥

आदि ग्रन्थ, पृ.695

दरिया साहिब भी इसी विचार को प्रकट करते हुए कहते हैं:

काया अंतर ब्रह्म निजु बासा। चिन्हहु ताहि प्रेम परगासा॥...
देखहु ग्यान एह काया बिलोई। अपने आपु में जाइ समोई॥

दरिया सागर, पृ.48

स्वामी जी महाराज भी हमें अपने घर (शरीर) के अंदर ही प्रियतम परमात्मा की खोज करने के लिए कहते हैं:

खोज री पिया को निज घट में॥

सारबचन संग्रह, 15:20

हृदय-निवासी राम को हृदय में बसाने की प्रार्थना क्यों?

जैसा कि ऊपर कहा गया है, तुलसीदास जी ने राम को सबके हृदय में सदा निवास करनेवाला (*सब के हृदयँ निरंतर बासी॥* मानस, 3.10.9) माना है। फिर भी हम पाते हैं कि तुलसी अपने अनेक पात्रों के माध्यम से और स्वयं अपने मुख से राम से यह प्रार्थना करते हैं कि आप मेरे हृदय को अपना घर बना लें और मेरे हृदयरूपी आकाश में चंद्रमा के समान सदा विराजते रहें। उदाहरण के लिए सुतीक्ष्ण मुनि राम से प्रार्थना करते हैं:

करउ सो राम हृदय मम अयना[1]॥

मानस, 3.10.10

मम हिय गगन इंदु इव[2] बसहु सदा निहकाम[3]॥

मानस, 3.11

सनकादि ऋषि भी प्रार्थना करते हैं:

द्वंद[4] बिपति भव फंद बिभंजय[5]। हृदि बसि राम काम मद गंजय[6]॥

मानस, 7.33.4

स्वयं तुलसीदास जी की वंदना है:

मम हृदय कंज निवास कुरु, कामादि खल-दल-गंजनं॥

विनय-पत्रिका 45

इस विरोधाभास का कारण यह है कि सर्व हृदय-निवासी राम यानी परमात्मा तब तक हमारे हृदय में गुप्त बना रहता है, जब तक हम अपने हृदयरूपी आसन को उसको बिठाने के लायक़ पवित्र नहीं कर लेते। जिस प्रकार काठ में रहनेवाली आग तब तक काठ में गुप्त बनी रहती है, जब तक हम उस काठ को काठ से रगड़कर आग को प्रकट नहीं कर लेते। काठ में गुप्त रहनेवाली आग कभी भी हमारे काम नहीं आ सकती। इसी प्रकार अंतर में गुप्त रहनेवाला राम भी हमारी सहायता नहीं कर सकता। उसे अपने अंतर में प्रकट करना ज़रूरी है। जब तक हमारा मन काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि विकारों से अपवित्र बना हुआ है, तब तक केवल बाहरी धार्मिकता के दिखावे से हम अपने अंदर राम (परमात्मा) को प्रकट नहीं कर सकते। छल, कपट और पाखंड से परमात्मा कभी नहीं मिलता। मन को निर्मल करने पर ही वह हमें प्राप्त होता है। जैसा कि राम ने स्पष्ट कहा है:

1. घर 2. **इंदु इव**=चंद्रमा के समान 3. कामना से रहित
4. दो विरोधी वस्तुओं या भावों का जोड़ा 5. काट दें 6. नाश कर दें

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

मानस, 5.43.3

अब मन निर्मल कैसे हो? इसके विकार कैसे दूर हों?

इसका उत्तर देते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि जब श्रद्धा और विश्वास के साथ जीव सतगुरु की बताई युक्ति से संयमपूर्वक एकमात्र प्रभु पर भरोसा रखकर मन, वचन और कर्म से अपने को प्रभु के भजन में लीन कर देता है, तब काम, क्रोध आदि सभी विकार दूर हो जाते हैं। प्रभु तब अपने आप प्रकट हो जाता है और भक्त को अपने अंतर में प्रभु के निवास का अनुभव होने लगता है। प्रभु को अपने अंतर में बसाने का सच्चा अर्थ यही है। राम को उसके रहने का स्थान बताते हुए तुलसी ने वाल्मीकि के माध्यम से इसी बात की ओर हमारा ध्यान दिलाया है। वाल्मीकि राम से कहते हैं:

काम कोह[1] मद मान न मोहा। लोभ न छोभ[2] न राग न द्रोहा॥
जिन्ह कें कपट दंभ[3] नहिं माया। तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया॥
तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई। तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई॥
जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

मानस, 2.129.1, 3, 2.130.3 और 2.131

स्वयं राम के मुख से भी तुलसी ने इस बात की पुष्टि करा ली है:

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं नि:काम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

मानस, 3.16

1. क्रोध 2. अशांति 3. पाखंड

इस प्रकार प्रेम यानी भक्ति द्वारा ही हमारा मन निर्मल होता है तथा प्रभु हमारे अंदर प्रकट होता है। इसी लिए तुलसी ने बार-बार प्रेम यानी भक्ति को प्रभु के प्रकट करने का उपाय कहा है:

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

मानस, 1.184.3-4

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

मानस, 2.136.1

राम ने बड़े स्पष्ट शब्दों में स्वयं इसकी पुष्टि करते हुए शबरी से कहा है:

कह रघुपति सुनु भामिनि[1] बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥

मानस, 3.34.2

1. स्त्री

बंधन

मायाबस मतिमंद अभागी। हृदयँ जमनिका बहुबिधि लागी॥

मानस, 7.72 (ख).4

मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रमतें दारुन दुख पायो॥

विनय-पत्रिका 136.1

माया के वश में होने के कारण आत्मा का प्रकाश मंद पड़ गया है और यह अभागी बन गई है। इसके ऊपर अनेक पर्दे चढ़ गए हैं। माया के वश होकर ही यह अपने स्वरूप को भुला बैठी है और इसी भ्रम के कारण इसे कठिन दु:ख भोगना पड़ता है।

जीव के बंधन का कारण

जीव वास्तव में परमात्मा का अंश है। इसलिए स्वभाव से ही यह चेतन, निर्मल, अविनाशी और सहज सुख का भंडार है। ऐसा जीव बंधन में कैसे पड़ गया? यह एक अकथनीय कहानी है। इसे अपनी अक़्ल से समझना बहुत ही कठिन है। केवल संतजन ही अपने आंतरिक अनुभव द्वारा इसे समझ सकते हैं। इसे कहकर समझाया नहीं जा सकता। पर इतना स्पष्ट है कि जीव माया के वश होकर संसार के बंधन में उसी तरह फँस गया है जिस तरह तोते और बंदर अज्ञानवश शिकारी के फंदे में फँस जाते हैं। जैसा कि तुलसीदास जी कहते हैं:

सुनहु तात[1] यह अकथ कहानी। समुझत बनइ न जाइ बखानी॥
ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल[2] सहज[3] सुख रासी॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं बँध्यो कीर[4] मरकट[5] की नाईं।

मानस, 7.116(ख).1-2

चेतन आत्मा कभी जड़ माया नहीं हो सकती। दोनों का एक होना सर्वथा झूठा है। फिर भी चेतन आत्मा, जड़ मन-माया के साथ ऐसी बँध गई है कि वह अपने को मन-माया का रूप ही समझने लगी है। मन-माया से अपने को अलग करना इसके लिए कठिन हो गया है। आत्मा जब से परमात्मा से अलग होकर इस माया के संसार में आई है, तभी से आत्मा और मन-माया की गाँठ दृढ़ होती जा रही है। न यह गाँठ खुलती है और न जीव सुखी हो पाता है। वेदों और पुराणों में बताए गए कर्मकांड के अनेक विधान जीव और माया की गाँठ को और भी अधिक उलझाते जाते हैं। जीव के हृदय में अब इतना अधिक अज्ञान का अंधकार छा गया है कि वह देख भी नहीं पाता कि यह गाँठ किस तरह पड़ी हुई है और किस तरह इसे खोला जा सकता है। जब तक यह जड़-चेतन की गाँठ नहीं खुलती और आत्मा अपने को मन-माया से अलग नहीं कर लेती, तब तक यह कभी सुखी नहीं हो सकती। इस प्रकार अविनाशी और निर्विकार परमात्मा के हृदय के अंदर रहते हुए भी यह जीव दुखी बना हुआ है।

इसे समझाते हुए तुलसीदास जी कहते हैं:

जड़ चेतनहि ग्रंथि[6] परि गई। जदपि मृषा[7] छूटत कठिनई॥
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥

1. भाई 2. विकार रहित 3. पारब्रह्म से शुरू होकर सचखंड तक की अवस्था
4. तोता 5. बंदर 6. गाँठ 7. झूठ

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥
जीव हृदयँ तम[1] मोह बिसेषी। ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी॥

मानस, 7.116(ख). 2-4

अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥

मानस, 1.22.4

अन्य संतों ने भी तुलसीदास जी की तरह बंधन में पड़े हुए इस जीव को राम (परमात्मा) का ही अंश माना है। कबीर साहिब कहते हैं:

कहो कबीर इह राम की अंस॥

आदि ग्रन्थ, पृ.871

गुरु नानक साहिब का भी उपदेश है:

आतम मह राम राम मह आतम चीनस गुर बीचारा॥

आदि ग्रन्थ, पृ.1153

तुलसी साहिब भी यही कहते हैं:

चौथे महल पुरुष इक स्वामी। जीव अंस वहि अन्तरजामी॥

रत्नसागर, पृ.82

दरिया साहिब का भी कथन है:

पुर्ख एक सभन्हि ते न्यारा। जाको तेज बरत संसारा॥
ताके अंस जीव सभ अहई। बोलनिहार बोले घट कहई॥

दरिया-ग्रन्थावली, भाग2, पृ.290

1. अंधकार

स्वामी जी महाराज का भी वचन है:

पुरुष अंस तू सतपुर बासी। फाँसी काल लगाई॥

सारबचन संग्रह, 14:2:2

तुलसीदास जी की तरह स्वामी जी महाराज ने भी जड़-चेतन की गाँठ बँधने या इनकी मिलौनी होने को ही जीव के दु:ख का कारण बताया है। वह कहते हैं:

सुरत तू दुखी रहे हम जानी॥
जा दिन से तुम शब्द बिसारा। मन संग यारी ठानी॥
मन मूरख तन साथ बँधानी। इन्द्री स्वाद लुभानी॥...
तू चेतन यह जड़ सब मिथ्या। क्यों कर मेल मिलानी॥

सारबचन संग्रह, 14:10:1-4

बंधन में पड़े जीव की दुर्दशा

माया के वश में पड़ा हुआ यह अविनाशी जीव जरायुज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज्ज नामक चार खानियों की चौरासी लाख योनियों में चक्कर लगाता रहता है। प्रकृति और उसके गुणों से घिरा हुआ और कर्मों से लदा हुआ यह जीव जहाँ भी जन्म लेता है, वहीं उसे काल का शिकार बनना पड़ता है। परमात्मा से अलग होकर यह अपने अविनाशी स्वरूप को भूल गया है और जिस भी शरीर में यह जन्म लेता है उसे ही भ्रमवश अपना स्वरूप समझकर कठिन कष्ट भोगता रहता है। इसे सपने में भी कभी सच्चा सुख नहीं मिलता। मन-इंद्रियों के बहकावे में यह हठपूर्वक ऐसे ही मार्ग पर चलता है जहाँ केवल दु:ख ही दु:ख है। सुखनिधान परमात्मा की ओर यह कभी ध्यान ही नहीं देता। पर परमात्मा को पहचाने बिना इस मूढ़ जीव को भला शांति कहाँ मिल सकती है? इस बात को स्पष्ट करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं:

आकर चारि[1] लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥

मानस, 7.43.2-3

जिव जबतें हरितें बिलगान्यो। तबतें देह गेह निज जान्यो[2]॥
मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रमतें दारुन दुख पायो॥
पायो जो दारुन दुसह दुख, सुख-लेस[3] सपनेहुँ नहिं मिल्यो।
भव-सूल[4], सोक अनेक जेहि, तेहि पंथ तू हठि हठि चल्यो॥
बहु जोनि जनम, जरा[5], बिपति, मतिमंद! हरि जान्यो नहीं।
श्री राम बिनु बिश्राम मूढ़! बिचारु, लखि पायो कहीं॥

विनय-पत्रिका 136.1

परमात्मा से अलग होकर जीव का रूप धारण करने के बाद से यह आत्मा माया के फेर में पड़कर अनेक शरीर धारण करके और अनेक प्रकार की वासनारूपी चोलियाँ और लोभ आदि रूप गहने पहनकर यह जल, थल और आकाश में दिन-रात नाचती ही रही है। जैसा कि तुलसीदास जी कहते हैं:

नाचत ही निसि-दिवस मर्‌यो।
तब ही ते न भयो हरि थिर जबतें जिव नाम धर्‌यो॥
बहु बासना बिबिध कंचुकि भूषन लोभादि भर्‌यो।
चर अरु अचर गगन जल थल में, कौन न स्वाँग कर्‌यो॥

विनय-पत्रिका 91

---

1. **आकर चारि**=चार खानियाँ 2. **देह...जान्यो**=शरीर को ही अपना घर समझा
3. तनिक-सा भी सुख 4. तीव्र सांसारिक वेदना 5. बुढ़ापा

भ्रम में भूले हुए जीव को अपने सच्चे आनंद-धाम की याद दिलाते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि तू आनंद-सागर का रहनेवाला होकर संसार की मृगतृष्णा में क्यों भटकता फिर रहा है? कड़ी धूप के कारण रेतीले मैदान में मृग को जल की धारा का भ्रम होता है और वह उस झूठे जल को पीने के लिए दौड़ते-दौड़ते मर जाता है। तू भी आनंदमय धाम के निर्मल, अविनाशी, सहज सुख को छोड़ संसार के झूठे विषय-भोग में सुख ढूँढ़ने की कोशिश कर रहा है जहाँ सुख कभी मिल ही नहीं सकता। जैसे कोई राजा सपने में अपना राज गँवाकर क़ैदख़ाने में पड़ा दु:ख भोगता है, वैसे ही तू भी अपने आनंदमय धाम का राज छोड़कर सपने के संसार में क़ैदी बना दु:ख भोग रहा है:

आनँद-सिंधु-मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥
मृग-भ्रम-बारि[1] सत्य जिय जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी॥
तहँ मगन मज्जसि[2], पान करि, त्रयकाल जल नाहीं जहाँ।
निज सहज अनुभव रूप तव खल! भूलि अब आयो तहाँ॥
निरमल, निरंजन निरबिकार, उदार सुख तैं परिहर्‌यो।
नि:काज राज बिहाय नृप इव[3] सपन कारागृह[4] पर्‌यो॥

विनय-पत्रिका 136.2

जीव अपने ही कर्मों के कारण आवागमन के चक्कर में पड़कर बार-बार गर्भवास का कठिन कष्ट उठाता है। इस भीषण दु:ख की याद दिलाकर तुलसीदास जी जीव को चिताते हुए कहते हैं कि तूने स्वयं ही अपने कर्मों की रस्सी से अपने आप को जकड़कर बाँध लिया है। इन कर्मों के वश होकर तुझ अभागे को बार-बार माता के गर्भ में जाकर

1. मृगतृष्णा का जल 2. नहा रहा है 3. नृप इव=राजा के समान
4. क़ैदख़ाना

अनेक योनियों में जन्म लेना पड़ता है। गर्भ में होनेवाले अपार कष्टों को गर्भ में पड़ा हुआ जीव ही जानता है। गर्भ में सिर नीचे और पैर ऊपर होते हैं और इस भयानक संकट में कोई बात पूछनेवाला भी नहीं होता। ख़ून, मल, मूत्र, विष्ठा, कीड़े और कीच के बीच पड़े हुए जीव के कोमल शरीर में बड़ी तीव्र वेदना होती है और तब वह सिर धुन-धुनकर रोता है:

तैं निज करम-डोरि दृढ़ कीन्हीं। अपने करनि[1] गाँठि गहि दीन्हीं॥
ताते परबस[2] पर्‌यो अभागे। ता फल गरभ-बास-दुख आगे॥
आगे अनेक समूह संसृत[3] उदरगत जान्यो सोऊ[4]।
सिर हेठ[5], ऊपर चरन, संकट बात नहिं पूछै कोऊ॥
सोनित[6] पुरीष[7] जो मूत्र-मल कृमि[8] कर्दमावृत[9] सोवई।
कोमल सरीर, गँभीर, बेदन, सीस धुनि-धुनि रोवई॥

विनय-पत्रिका 136.3

गर्भकाल में घोर कष्ट पानेवाले जीव का साथ केवल परम दयालु परमात्मा ही देता है। वह उस समय बहुत तरह से जीव की सँभाल करता है और उसे अनेक जन्मों के कर्मों की याद दिलाता है। तब यह जीव उस परमात्मा की शरण लेता है जो तीन गुणों वाली प्रबल माया के भी स्वामी हैं। अपने पिछले कर्मों को याद करके उसे बहुत ग्लानि होती है और वह वायदा करता है कि अब संसार में जन्म लेकर मैं ज़रूर परमात्मा का भजन करूँगा:

तू निज करम-जाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो॥
बहुबिधि प्रतिपालन प्रभु कीन्हों। परम कृपालु ग्यान तोहि दीन्हों॥
तोहि दियो ग्यान-बिबेक, जनम अनेक की तब सुधि भई।

1. हाथों से 2. दूसरे के वश में 3. आवागमन
4. उदरगत...सोऊ=जो माता के गर्भ में रहा है, वही जानता है। 5. नीचे
6. ख़ून 7. विष्ठा 8. कीड़ा 9. कीच से लिपटा हुआ

तेहि ईस की हौं सरन, जाकी बिषम माया गुनमई[1]॥
पुनि बहुबिधि गलानि जिय मानी। अब जग जाइ भजौं चक्रपानी[2]॥

विनय-पत्रिका 136.4-5

संसार में जन्म लेने के बाद जीव फिर माया में लिपटकर गर्भकाल के वायदे को भुला देता है। उसका बालपन तो कई तरह के कष्टों में ही गुज़र जाता है। उसे भूख, रोग और तरह-तरह के भारी कष्ट उठाने पड़ते हैं। पर उसकी माता को उनका पता ही नहीं चलता। जवानी आते ही काम की लहर उठती है और वह भारी मोह और अहंकार से मतवाला हो जाता है। जवानी के नशे में वह धर्म की मर्यादा भी छोड़ देता है और सभी पिछले कष्टों को भुलाकर फिर पापकर्म में लग जाता है। उसकी इस दुर्दशा को देखकर तुलसीदास जी कहते हैं कि क्या तू पिछले कष्टों को भूल गया? आगे आनेवाले संकटों के समूह पर विचारकर क्या तेरी छाती नहीं फट जाती? तूने इस बार भी वही कर्म किए जिससे तुझे फिर गर्भ के गड्ढे में गिरकर संसार चक्र में आना पड़ेगा! मरने के बाद अंत में जो शरीर कीड़ा, राख और विष्ठा (क़ब्र में सड़ने पर कीड़ा, जलाने पर राख और जीव-जंतुओं के खाने पर उनकी विष्ठा) बन जाएगा, उसी के लिए तू संसार के लोगों का वैरी बन बैठा है? पराई स्त्री और पराए धन के प्रति तुम्हारा प्रेम और दूसरों के प्रति तुम्हारी दुश्मनी नित्य नए रूप में बढ़ती ही जा रही है?

बाल दसा जेते दुख पाये। अति असीम, नहिं जाहिं गनाये॥
छुधा[3] ब्याधि[4]-बाधा भइ भारी। बेदन[5] नहिं जानै महतारी॥
जोबन जुवती सँग रँग रात्यो। तब तू महा मोह-मद मात्यो॥
ताते तजी धरम-मरजादा। बिसरे तब सब प्रथम बिषादा[6]॥

1. **जाकी...गुनमई**=जिसकी तीन गुणों वाली माया विकट है।
2. हाथ में चक्र धारण करनेवाले प्रभु 3. भूख 4. रोग 5. तीखा कष्ट
6. शोक

बिसरे बिषाद, निकाय-संकट[1] समुझि नहिं फाटत हियो।
फिरि गर्भगत-आवर्त[2] संसृतिचक्र[3] जेहि होइ सोइ कियो॥
कृमि-भस्म-बिट-परिनाम तनु[4], तेहि लागि जग बैरी भयो।
परदार, परधन, द्रोहपर[5], संसार बाढ़ै नित नयो॥

विनय-पत्रिका 136.6-7

देखते ही देखते बुढ़ापा आ पहुँचा। जिन कष्टों का तू सपने में भी ख़याल नहीं करता था, वे सब प्रकट हो गए। इन कष्टों का वर्णन नहीं किया जा सकता। बुढ़ापे से शरीर जर्जर हो गया है, रोग और तीव्र वेदना सता रही है, सिर हिल रहा है, इंद्रियों की शक्ति चली गई है और तेरा बोलना भी किसी को नहीं सुहाता। कुत्ते से भी बढ़कर तुम्हारा निरादर होने लगा है और तुम्हें समय पर खाना-पीना भी नहीं मिलता। ऐसी दशा होने पर भी तुझे संसार से वैराग्य नहीं होता, उलटे तेरी तृष्णा की लहर और ही बढ़ती जा रही है?

देखत ही आई बिरुधाई[6]। जो तैं सपनेहुँ नाहिं बुलाई॥
ताके गुन कछु कहे न जाहीं। सो अब प्रगट देखु तनु माहीं॥
सो प्रगट तनु जरजर जराबस[7], ब्याधि, सूल[8] सतावई।
सिर-कंप, इन्द्रिय-सक्ति प्रतिहत[9], बचन काहु न भावई॥
गृहपालहूतें[10] अति निरादर, खान-पान न पावई।
ऐसिहु दसा न बिराग तहँ, तृष्णा-तरंग बढ़ावई॥

विनय-पत्रिका 136.8

1. संकटों का समूह 2. गर्भ में जाने का चक्कर 3. आवागमन का चक्र
4. **कृमि...तनु**=जिस शरीर का अंत कीड़ा, राख और विष्ठा है।
5. **परदार...द्रोहपर**=पराई स्त्री, पराया धन और दूसरों के द्रोह 6. बुढ़ापा
7. बुढ़ापे के वश 8. तीखी पीड़ा 9. **इन्द्रिय...प्रतिहत**=इंद्रियों की शक्ति का नष्ट हो जाना। 10. कुत्ते से भी

अन्य संतों ने भी तुलसीदास जी की तरह अनेक प्रकार से जीव का ध्यान सांसारिक दु:खों की ओर दिलाकर उसे जगाने की कोशिश की है। उदाहरण के लिए कबीर साहिब कहते हैं:

तन धर सुखिया कोइ न देखा, जो देखा सो दुखिया हो।

कबीर साहिब की शब्दावली, भाग1, पृ.34

गुरु नानक साहिब भी कहते हैं:

नानक दुखीआ सभ संसार॥

आदि ग्रन्थ, पृ.954

दरिया साहिब भी जीव को सतलोक के अविनाशी वृक्ष की डाली पर बसेरा लेनेवाला पक्षी कहकर उसे इस जन्म-मरण रूपी दु:ख की नगरी से निकलकर अपने सुख के धाम में जाने के लिए चिताते हैं। वह कहते हैं:

अछै ब्रिच्छ छपलोक निनारा। तेहि बिहंग तें दुर्म के डारा॥
भवसागर में परा भुलाई। चेतहु तबहिं भला है भाई॥
का सुख एह मुरदा के गाऊं। मरि मरि जनम होए जेहि ठांउं॥
जौ ना अछैबट नामहिं जाना। एह भव सुख निसु सपन समाना॥

दरिया-ग्रन्थावली, भाग2, पृ.254

गुरु रविदास जी भी तुलसीदास जी के ही समान जीवरूपी राजा के संसार के भ्रमरूपी सपने में भिखारी बनकर दु:खी होने की बात कहकर उसे जगाते हैं:

माधौ, का कहीऐ भ्रम अैसा, तुम कहीयत होहु न जैसा॥
त्रिपति ऐक सेज सुख सूता, सुपिनैं भया भिखारी।
अछित राज बहोत दुख पायौ, सौ गति भई हमारी॥

संत गुरु रविदास-वाणी, पद 69

स्वामी जी महाराज भी चौरासी लाख योनियों में भटकने और जन्म-जन्म दु:ख पाते रहने की याद दिलाकर हमें मनुष्य जीवन का लाभ उठाने के लिए चिताते हैं:

चारों जुग चौरासी भोगी। अति दुख पाया नर्क रहा॥
जन्म जन्म दुख पावत बीते। एक छिन कहीं न चैन लहा॥
पाप पुन्य बस बिपता भोगी। नहिं सतगुरु का चरन गहा॥
अब यह देह मिली किरपा से। करो भक्ति जो कर्म दहा॥

सारबचन संग्रह, 15:10:2-5

जीव के गर्भकाल, बचपन, जवानी और बुढ़ापे के कष्टों की ओर ध्यान दिलाकर तुलसीदास जी हमें भी इनसे छुटकारा पाने का उपाय बताते हुए कहते हैं कि हमें अब भी उस परमात्मा के भजन में लगना चाहिए जो भक्तों को सुख देनेवाला, भवसागर के लिए जहाज़रूप, अपने सहज स्वभाववश दया करनेवाला, उदार और अपार माया के पार ले जानेवाला है और जो संसार, मोक्ष, ऐश्वर्य और प्राणों का नाथ तथा मुक्ति का कारण है:

अजहूँ बिचारु, बिकार तजि, भजु राम जन-सुखदायकं।
भवसिंधु दुस्तर[1], जलरथं[2], भजु चक्रधर सुरनायकं[3]॥
बिनु हेतु करुनाकर[4], उदार, अपार-माया-तारनं।
कैवल्य-पति, जगपति, रमापति, प्रानपति गतिकारनं॥

विनय-पत्रिका 136.9

मन और माया की प्रबलता

मन एक क्षण के लिए कभी स्थिर नहीं रहता। जब से जीव परमात्मा से बिछुड़कर तथा अपने सहज सुख को भुलाकर मन के साथ लगा है, तब से

1. जिसे पार करना कठिन हो 2. जहाज़ 3. देवताओं के स्वामी
4. दया के भंडार

मन उसे दिन-रात भटकाता रहा है। इंद्रियों की ओर खिंचा हुआ मन सुख की तलाश में सदा सांसारिक विषयों के पीछे दौड़ता रहता है। विषय-सुख के लोभ में पड़कर यह कर्मों के कीचड़ में बुरी तरह फँस जाता है जिसके कारण उसे अनेक योनियों में जन्म ले-लेकर असह्य दु:ख भोगना पड़ता है। फिर भी इसकी नासमझी दूर नहीं होती। परम शीतल और मधुर सहज सुख का अमृत हमारे हृदय के अंदर ही है पर यह मन कभी शांत होकर अंदर जाता ही नहीं। जिस परमात्मा या परमात्मा स्वरूप सतगुरु की कृपा से इसका कल्याण हो सकता है और यह अपने अंदर जाकर अमृत को पी सकता है, उस परमात्मा या गुरु को यह कभी अपने हृदय में लाता ही नहीं। बाहरी विषयों से ही अपनी प्यास बुझाने की कोशिश में यह सदा बाहर ही बाहर दौड़ लगाता रहता है।

विषयों द्वारा अपनी भूख-प्यास को मिटाने की विफल चेष्टा में लगे मन की हालत को तुलसीदास जी ने अनेक उपमाओं द्वारा बड़े मार्मिक ढंग से व्यक्त किया है। यह मन अपने अंदर के निर्मल गंगाजल को छोड़, मानों ख़ाली आकाश को निचोड़कर जल प्राप्त करने की व्यर्थ कोशिश करता है। विषय-विकार से उत्पन्न कर्मरूपी कीचड़ को यह विषयों के ही कीचड़ से धोने की मूर्खता करता है। विषयरूपी गंदे पानी को मथकर यह परमानंदरूपी घी प्राप्त करने की कोशिश करता है।

प्रभु के निर्मल भक्तिजल को छोड़कर यह विषयों की ओस की बूँदों से अपनी प्यास बुझाने की आशा रखता है। जैसे प्यासा पपीहा धुएँ के समूह को देखकर उसे जल से भरा बादल समझ उसकी ओर दौड़ता है पर वहाँ जाने पर न उसे ठंडक मिलती है और न जल ही प्राप्त होता है, उलटे धुएँ से उसकी आँखें फूट जाती हैं, ठीक वही दशा इस मूर्ख मन की होती है। भूख से व्याकुल मूर्ख बाज़ काँच के फ़र्श में अपनी परछाईं देखकर उसे कोई दूसरा पक्षी समझ लेता है और उसे चोंच से मारने की कोशिश करता है। इससे उसकी अपनी ही चोंच टूटती है। ऐसी ही दशा विषयों की ओर बेतहाशा दौड़नेवाले मन की होती है। विषयों में ही सुख

की आशा रखकर यह मूर्ख मन विषयरूपी तालाब को खोदने में ही सारा जीवन बरबाद कर डालता है। शांतिपूर्वक सुख की नींद सोने की आस में यह जीवन भर विषयों का बिछावन ही बिछाते रह जाता है। इसे जीवन में कभी भी शांति की साँस नहीं मिलती।

इन भावों को व्यक्त करते हुए तुलसीदास जी ने नीचे के पदों में मन की मूर्खतापूर्ण भाग-दौड़ तथा मन की संगति में पड़े जीव की दुर्दशा का बड़ा मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। उनके भक्तिपूर्ण हृदय से निकले ये भाव हृदय पर सीधे असर करते हैं:

कबहूँ मन बिश्राम न मान्यो।
निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो॥
जदपि बिषय-सँग सह्यो दुसह दुख, बिषम जाल अरुझान्यो।
तदपि न तजत मूढ़ ममताबस, जानतहूँ नहिं जान्यो॥
जनम अनेक किये नाना बिधि, करम-कीच चित सान्यो।
होइ न बिमल बिबेक-नीर बिनु, बेद पुरान बखान्यो॥
निज हित नाथ पिता गुरु हरिसों, हरषि हृदै नहिं आन्यो।
तुलसिदास कब तृषा जाय, सर खनतहि जनम सिरान्यो॥

विनय-पत्रिका 88

मन ने कभी भी विश्राम नहीं लिया। अपने सहज सुख की अवस्था को भूला हुआ यह जहाँ-तहाँ इंद्रियों से खिंचकर दिन-रात भटकता ही रहा है। यद्यपि विषयों के पीछे दौड़ते रहने के कारण इसे असह्य दु:ख भोगना पड़ा है और यह (कर्मों के) विकट जाल में उलझ गया है, फिर भी यह मूर्ख मन मोहवश उन्हें छोड़ता नहीं। सब कुछ समझते हुए भी यह बेसमझ बना हुआ है। अनेक जन्मों में नाना प्रकार के कर्म करके यह चित्त कर्मों के कीचड़ से लिबड़ गया है। विवेकरूपी जल प्राप्त किए बिना यह कीचड़ कभी साफ़ नहीं हो सकता, ऐसा वेद-पुराण कहते हैं।

इसका अपना कल्याण तो परम प्रभु, परमपिता परमात्मारूप गुरु से ही हो सकता है पर इसने कभी हुलसकर उन्हें हृदय में धारण ही नहीं किया। तुलसीदास जी कहते हैं कि तब भला ऐसे (विषयरूपी) तालाब से इसकी प्यास कैसे बुझ सकती है जिसके खोदने में ही सारा जीवन बीत गया।

नाचत ही निसि-दिवस मर्‌यो।
तब ही ते न भयो हरि थिर जबतें जिव नाम धर्‌यो॥
बहु बासना बिबिध कंचुकि[1] भूषन[2] लोभादि भर्‌यो।
चर अरु अचर[3] गगन जल थलमें, कौन न स्वाँग कर्‌यो॥
देव-दनुज, मुनि, नाग, मनुज नहिं जाँचत कोउ उबर्‌यो।
मेरो दुसह दरिद्र, दोष, दुख काहू तौ न हर्‌यो॥
थके नयन, पद, पानि[4], सुमति, बल, संग सकल बिछुर्‌यो।
अब रघुनाथ सरन आयो जन, भव-भय[5] बिकल डर्‌यो॥
जेहि गुनतें बस होहु रीझि करि, सो मोहि सब बिसर्‌यो।
तुलसिदास निज भवन-द्वार प्रभु, दीजै रहन पर्‌यो॥

विनय-पत्रिका 91

परमात्मा से अलग होकर और मन का साथ लेकर जब से आत्मा ने जीव का रूप धारण किया है, तब से यह कभी भी स्थिर नहीं रह सका है। यह दिन-रात नाचते-नाचते ही मरता रहा है। इस नाच में नाना प्रकार के वासनारूपी चोले और लोभ आदि गहनों से सजकर जल, थल और आकाश की चर-अचर योनियों में कौन-कौन सा रूप इसने धारण नहीं किया? देवता, दैत्य, मुनि, नाग, मनुष्य आदि ऐसा कोई भी नहीं बचा जिसके आगे इसने हाथ न फैलाया हो। पर किसी ने भी इसकी असहनीय ग़रीबी, पाप और दु:ख को दूर नहीं किया। तुलसीदास जी कहते हैं कि

1. चोग़ा 2. गहना 3. **चर...अचर**=चलने और न चलनेवाले 4. हाथ
5. संसार के जन्म-मरण का डर

अब तो मेरे नेत्र, पैर, हाथ, सुबुद्धि और बल सभी थक गए हैं और मेरे सभी संगी साथ छोड़ चुके हैं। अब यह दास आवागमन के भय से व्याकुल होकर प्रभु की शरण में आया है। हे प्रभु! जिन गुणों से रीझकर आप भक्तों के वश होते हैं, उन सबको तो मैं भुला बैठा हूँ। फिर भी जैसे-तैसे मुझे अपने घर के दरवाज़े पर पड़ा रहने दीजिए।

मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो[1]।
याके लिये सुनहु करुनामय, मैं जग जनमि-जनमि दुख रोयो॥
सीतल मधुर पियूष[2] सहज सुख, निकटहि रहत दूरि जनु खोयो।
बहु भाँतिन श्रम करत मोहबस, बृथहि मंदमति बारि बिलोयो[3]॥
करम-कीच जिय जानि, सानि चित, चाहत कुटिल मलहि मल धोयो।
तृषावंत[4] सुरसरि बिहाय सठ, फिरि-फिरि बिकल अकास निचोयो॥
तुलसिदास प्रभु कृपा करहु अब, मैं निज दोष कछू नहिं गोयो[5]।
डासत ही गइ बीति निसा सब, कबहुँ न नाथ! नींद भरि सोयो॥

विनय-पत्रिका 245

इस मूर्ख मन ने मुझे बहुत ही तबाह किया। हे दयामय! इस मन के कारण मैं संसार में बार-बार जन्म ले-लेकर दु:ख से रोता रहा। शीतल और मधुर सहज सुख के अमृत को जो हृदय के अंदर अत्यंत ही निकट है, मैंने मन के फेर में बाहर भटकते हुए खो दिया मानों वह कहीं बहुत दूर हो। मोहवश मैं मूर्ख अनेक प्रकार के परिश्रम द्वारा विषयरूपी जल को मथकर उससे परम आनंदरूपी घी निकालने का व्यर्थ प्रयास करता रहा। मैं दुष्ट कर्मरूपी कीचड़ में सने चित्त को विषयरूपी कीचड़ से ही धोने का निष्फल उपाय करता रहा। प्यास से व्याकुल मैं अपने अंदर के सहज सुखरूपी गंगाजल को छोड़ बार-बार ख़ाली आकाश को

1. भरमाना 2. अमृत 3. **बारि बिलोयो**=पानी को मथना
4. प्यासा 5. छिपाना

निचोड़कर जल प्राप्त करने की व्यर्थ कोशिश करता रहा। हे नाथ! मैंने अपना एक भी दोष आपसे छिपाया नहीं है। अब तो इस तुलसीदास पर कृपा करें। सारी रात (सारा जीवन) मैं बिछावन ही बिछाते रह गया अर्थात् सुख-आराम का उपाय ही करते रह गया और रात बीत गई। हे प्रभु! मैं कभी भी नींद भर सो नहीं सका अर्थात् आपको प्राप्त करके सच्ची शांति और सुख में लीन नहीं हो सका।

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि[1] राम-भगति-सुरसरिता[2], आस करत ओसकन की॥
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचन[3] की॥
ज्यों गच-काँच बिलोकि सेन[4] जड़ छाँह आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहार बस, छति[5] बिसारि आनन[6] की॥
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि! जानत हौ गति जन की।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की॥

विनय-पत्रिका 90

इस मन की ऐसी मूर्खता है कि यह प्रभु की भक्तिरूपी गंगा को छोड़कर विषयरूपी ओस की बूँदों से तृप्त होने की आशा रखता है। प्यासा पपीहा धुएँ के समूह को देखकर उसे बादल समझ लेता है। पर वहाँ जाने पर न तो उसे शीतलता मिलती है और न ही जल प्राप्त होता है, उलटे धुएँ से उसकी आँखें फूट जाती हैं (इस मन की भी यही दशा होती है)। जैसे मूर्ख बाज़ काँच के फ़र्श में अपने ही शरीर की छाया देखकर, भूख से व्याकुल हो (उसे दूसरा पक्षी समझ) उसे खाने के लिए उस पर टूट पड़ता है और भूल जाता है कि ऐसा करने से

1. छोड़कर 2. प्रभु की भक्तिरूपी गंगा 3. आँख 4. बाज़
5. नुक़सान 6. चोंच

(फ़र्श की छाया पर चोंच मारने से) उसकी अपनी ही चोंच टूटेगी (वैसे ही यह मूर्ख मन भी अपने आचरण से होनेवाले कष्टों को भुला देता है)। तुलसीदास जी कहते हैं कि हे कृपा के भंडार! मैं अपने बुरे आचरण का कहाँ तक वर्णन करूँ? आप तो इस दास की दशा जानते ही हैं। इसलिए हे प्रभु! (भक्तवत्सल होने के) अपने प्रण की लाज रखते हुए मेरे असह्य दु:ख को अब दूर कीजिए।

माया के वश में पड़े जीव की दशा की ओर संकेत करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि जिस प्रकार आकाश का निर्मल जल धरती पर आकर मटमैला हो जाता है, ठीक उसी प्रकार निर्मल आत्मा भी परमात्मा से विलग होकर माया की मिलौनी के कारण अत्यंत मैली हो गई है। परमात्मा एक है और वह स्वतंत्र है तथा जीव का उससे अभेद संबंध है। फिर भी माया के कारण जीव अनेक और परतंत्र रूप में दिखाई देता है। प्रभु की कृपा के बिना किसी भी उपाय से माया का किया हुआ यह भेद दूर नहीं हो सकता:

भूमि परत भा ढाबर[1] पानी। जनु जीवहि माया लपटानी॥

मानस, 4.13.3

परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥
मुधा[2] भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

मानस, 7.77(ख).4

परमात्मा से अपने को भिन्न समझने के कारण जीव में अहं भाव यानी 'मैं-मेरी' का अभिमान उत्पन्न हो जाता है। साथ ही मायावश यह जीव मोह का भी शिकार हो जाता है। जैसे बसंत ऋतु में सुग्गा (तोता) सेमल के लुभावने फूल को देख, इस मोह में पड़कर उस पर बसेरा लेता है कि उसमें सुंदर फल लगेंगे और वह आनंद से उन्हें चखेगा पर

1. गँदला 2. मिथ्या

जब उसमें फल लगते हैं और सुग्गा उन्हें चखने के लिए उन पर चोंच मारता है तो रूई बाहर उड़ जाती है और बेचारे सुग्गे के हाथ कुछ भी नहीं लगता। मायावी संसार के लुभावने विषयों के मोह में पड़े जीवों की भी ठीक यही दशा होती है। सांसारिक विषयों से अंत में उन्हें केवल निराशा ही हाथ लगती है। इसी लिए सच्चाई को जाननेवाले संतजन मोह की प्रबलता का वर्णन करते हैं। अहंकार और मोह के प्रभाव से जीव स्वार्थी बन जाता है और अनेक पापकर्म करके अपने परलोक को बिगाड़ लेता है:

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया[1]॥

मानस, 3.14.1

सोई सेंवर तेइ सुवा[2] सेवत सदा बसंत।
तुलसी महिमा मोह की सुनत सराहत संत॥

दोहावली 259

करहिं मोह बस नर अघ[3] नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना॥

मानस, 7.40.2

माया केवल इसी लोक तक सीमित नहीं है बल्कि जहाँ तक हमारे स्थूल और सूक्ष्म मन तथा इंद्रियों की पहुँच है, वहाँ तक माया का विस्तार है। माया के दो भेद कहे गए हैं: एक अविद्या या अज्ञान और दूसरा अपरा विद्या या प्रकृति। अविद्या हमारे ज्ञान के प्रकाश को ढककर हमें अज्ञान के अंधकार में डालती है और इस प्रकार हमें संसार के कुएँ में गिराती है। अपरा विद्या अपने सत्त्व, रजस् और तमस् नामक तीन गुणों द्वारा समस्त सृष्टि की रचना करती है। यह रचना प्रभु की प्रेरणा से ही होती है, अपरा विद्या यानी प्रकृति अपने बल से रचना नहीं कर सकती। गुणी या विवेकीजन माया के इन दोनों रूपों में से किसी से भी

1. **जीव निकाया**=जीवों के समूह 2. तोता 3. पाप

ठगे नहीं जाते पर अविवेकी जीव इन रूपों को देखकर मोहित हो जाते हैं। गुण या विवेक इसी में है कि दोनों ही न देखे जाएँ, इन्हें देखना ही अविवेक है। माया परम प्रकाशमय परमात्मा को जो सत्य है, छिपाती है और असत्य सृष्टि को सत्य जैसा दिखाती है। जिस तरह सघन कमल के पत्तों की ओट में जल छिप जाता है, ठीक उसी तरह माया के आवरण में परमात्मा ओझल हो जाता है। माया के कारण जीव के ऊपर अनेक पर्दे चढ़ जाते हैं और अज्ञानी जीव अपने अज्ञान को दूर करने का उपाय न करके परमात्मा को ही इसके लिए दोषी ठहराते हैं:

गो गोचर[1] जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें[2]। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥

मानस, 3.14 2-3

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

मानस, 7.41

पुरइनि[3] सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म।
मायाछन्न[4] न देखिऐ जैसें निर्गुन ब्रह्म॥

मानस, 3.39(क)

मायाबस मतिमंद अभागी। हृदयँ जमनिका[5] बहुबिधि लागी॥
ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अग्यान राम पर धरहीं॥

मानस, 7.72(ख).4-5

1. **गो गोचर**=इंद्रियों की जिन विषयों तक पहुँच है। 2. **गुन...जाकें**=गुण जिसके वश में है। 3. कमल के पत्ते 4. माया से ढका 5. पर्दा

जे मति मलिन बिषय बस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी॥

मानस, 7.72(ख).1

तुलसीदास जी ने माया की उपमा एक विशाल गूलर के वृक्ष से की है। इस वृक्ष में अनेक ब्रह्मांडों के समूहरूपी फल लगे हुए हैं जिन्हें काल खाता है। जिस प्रकार गूलर के फल के अंदर रहनेवाले कीड़ों को उस फल के बाहर का कोई ज्ञान नहीं रहता, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मांडरूपी फल के अंदर रहनेवाले जीवों को उस ब्रह्मांड (लोक) के अतिरिक्त किसी और लोक की रचना का पता नहीं होता। वे उस फल से बाहर निकलने की बात सोच भी नहीं सकते और अपने अज्ञानवश बार-बार काल का कलेवा बनते हैं। जिस परमात्मा से काल भी सदा डरता रहता है, उस परमात्मा को वे भूले रहते हैं:

ऊमरि तरु[1] बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया[2]॥
जीव चराचर जंतु समाना[3]। भीतर बसहिं न जानहिं आना[4]॥
ते फल भच्छक कठिन कराला[5]। तव भयँ डरत सदा सोउ काला॥

मानस, 3.12.3-4

मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो॥...
बहु जोनि जनम, जरा, बिपति, मतिमंद! हरि जान्यो नहीं।
श्रीराम बिनु बिश्राम मूढ़! बिचारु, लखि[6] पायो कहीं॥

विनय-पत्रिका 136.1

प्रबल माया के प्रभाव से बचना अत्यंत कठिन है। साधारण मनुष्यों की कौन कहे, बड़े-बड़े देवता, ऋषि, मुनि, पंडित और ज्ञानी भी इसके

1. **ऊमरि तरु**=गूलर का वृक्ष 2. समूह 3. **जंतु समाना**=कीड़ों के समान
4. दूसरे को 5. भयानक 6. देखना

प्रभाव से नहीं बच सके। ब्रह्मा, विष्णु और शिव को भी माया ने बार-बार नचाया। विष्णु के वाहन गरुड़ जो ज्ञानी और भक्त-शिरोमणि माने जाते हैं तथा नारद, जो अवतारी पुरुष राम के भक्त कहे जाते हैं, वे भी इस माया के चंगुल से नहीं बच पाए। फिर भला प्रभु की कृपा के बिना कोई साधारण मनुष्य माया को जीतने का क्या अभिमान कर सकता है? यह समझाने के लिए कि माया से छुटकारा पाना कितना कठिन है, तुलसीदास जी ने गरुड़ का उदाहरण दिया है। माया के भ्रम से छुटकारा पाने के लिए व्याकुल होकर गरुड़ क्रमशः नारद, ब्रह्मा और शिव के पास जाते हैं और अंत में उन्हें यह पता चलता है कि किसी संत के सत्संग का भक्ति भाव से चिरकाल तक सेवन करने पर ही माया से उत्पन्न भ्रम का नाश हो सकता है:

ब्याकुल गयउ देवरिषि पाहीं। कहेसि जो संसय निज मन माहीं॥
सुनि नारदहि लागि अति दाया। सुनु खग प्रबल राम कै माया॥
जो ग्यानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं[1] बिमोह मन करई॥
जेहिं बहु बार नचावा मोही। सोइ ब्यापी बिहंगपति[2] तोही॥
महामोह उपजा उर तोरें। मिटिहि न बेगि कहें खग[3] मोरें॥
चतुरानन[4] पहिं जाहु खगेसा[5]। सोइ करेहु जेहि होइ निदेसा[6]॥

मानस, 7.58.2-4

तब खगपति[7] बिरंचि[8] पहिं गयऊ। निज संदेह सुनावत भयऊ॥
मन महुँ करइ बिचार बिधाता[9]। माया बस कबि कोबिद[10] ग्याता॥

मानस, 7.59.1-2

1. ज़बरदस्ती 2. पक्षिराज (गरुड़) 3. पक्षी (गरुड़) 4. ब्रह्मा
5. पक्षिराज (गरुड़) 6. आज्ञा 7. पक्षिराज (गरुड़) 8. ब्रह्मा
9. ब्रह्मा 10. विद्वान

हरि माया कर अमिति प्रभावा। बिपुल[1] बार जेहिं मोहि नचावा॥
अग[2] जग मय[3] जग मम उपराजा। नहिं आचरज मोह खगराजा॥
तब बोले बिधि गिरा सुहाई। जान महेस राम प्रभुताई॥
बैनतेय संकर पहिं जाहू। तात अनत पूछहु जनि काहू॥
सुनि ता करि बिनती मृदु बानी। प्रेम सहित मैं कहेउँ भवानी॥
तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा॥
प्रभु माया बलवंत भवानी। जाहि न मोह कवन अस ग्यानी॥

मानस, 7.59.2-4, 7.60.1-2, 7.61.5

ग्यानी भगत सिरोमनि त्रिभुवनपति कर जान[4]।
ताहि मोह माया नर पावँर[5] करहिं गुमान॥
सिव बिरंचि कहुँ मोहइ को है बपुरा आन[6]।
अस जियँ जानि भजहिं मुनि माया पति भगवान॥

मानस, 7.62(क),(ख)

माया की सेना बहुत ही विशाल है। आज तक संसार में ऐसा भला कौन पैदा हुआ है जो माया से परास्त न हुआ हो? काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार; विषयों की आशा और तृष्णा; ममता, मान, मद, मत्सर और यौवन-ज्वर (जवानी की सनक); सांसारिक शोक और चिंता तथा पुत्र, धन और लोक-प्रतिष्ठा की प्रबल इच्छा – ये सब माया की सेना के प्रमुख अंग हैं। माया की प्रचंड सेना सारे संसार में फैली हुई है। काम, क्रोध और लोभ इस सेना के सेनापति हैं तथा दंभ, कपट और पाखंड इसके लड़ाकू योद्धा हैं। जो जीव माया से मोहित होकर काम, क्रोध, लोभ और अहंकार के शिकार होते हैं, वे अज्ञान के अँधेरे कुएँ में गिरते हैं और उन्हें संसार के अत्यंत कठिन और दु:खदायी क़ैदख़ाने

1. बहुत 2. न चलनेवाले 3. **जग मय**=चलनेवाले जीवों से भरा 4. सवारी
5. पापी 6. **को...आन**=दूसरा बेचारा कौन है?

में बंद रहना पड़ता है। ऐसे मायाग्रसित जीव भला परमात्मा को कैसे पा सकते हैं?

अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया[1]॥

मानस, 1.127.4

नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनिनायक आतमबादी[2]॥
मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥
तृस्नाँ केहि न कीन्ह बौराहा[3]। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा[4]॥

मानस, 7.69(ख).3-4

ग्यानी तापस सूर[5] कबि कोबिद गुन आगार[6]।
केहि कै लोभ बिडंबना[7] कीन्हि न एहिं संसार॥
श्री मद[8] बक्र[9] न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर[10] न काहि।
मृगलोचनि[11] के नैन सर[12] को अस लाग न जाहि॥

मानस, 7.70(क),(ख)

गुन कृत सन्यपात[13] नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही[14]॥
जोबन ज्वर केहि नहिं बलकावा[15]। ममता केहि कर जस न नसावा॥
मच्छर[16] काहि कलंक न लावा। काहि न सोक समीर[17] डोलावा॥
चिंता साँपिनि को नहिं खाया। को जग जाहि न ब्यापी माया॥
कीट मनोरथ दारु सरीरा[18]। जेहि न लाग घुन को अस धीरा॥

1. पैदा होना 2. आत्मतत्त्व का उपदेश देनेवाले 3. पागल 4. जलाना
5. वीर 6. भंडार 7. हँसी उड़ाना 8. धन का अभिमान
9. टेढ़ा होना 10. बहरा 11. हिरण के समान सुंदर नेत्रोंवाली
12. **नैन सर**=नयन-बाण 13. **गुन...सन्यपात**=गुणों से उत्पन्न ज्वर
14. निर्वाह करना 15. उभाड़ना 16. डाह 17. हवा
18. **दारु सरीरा**=शरीररूपी लकड़ी

सुत बित लोक ईषना[1] तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥
यह सब माया कर परिवारा॥ प्रबल अमिति को बरनै पारा॥
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर[2] जीव केहि लेखे माहीं॥

मानस, 7.70(ख).1-4

ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक[3] प्रचंड।
सेनापति कामादि भट[4] दंभ कपट पाखंड॥

मानस, 7.71(क)

काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुखरूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप॥

मानस, 7.73(क)

अन्य संतों ने भी मन और माया की प्रबलता की ओर हमारा ध्यान दिलाकर इनके कठिन फंदे से बचने के लिए हमें सावधान किया है। उदाहरण के लिए मन के कठिन फंदे का उल्लेख करते हुए दरिया साहिब कहते हैं:

मन के फंद परा संसारा। जाल मीना ज्यों करै अहारा॥

दरिया-ग्रन्थावली, भाग2, पृ.26

वह फिर कहते हैं:

मन के जीते जीतिया, मन हारे भौ हानि।
मनहिं बिलोये ज्ञान कर मथनी, तब सुख उपजै जानि॥

दरिया सागर, पृ.30

गुरु नानक साहिब ने भी कहा है:

मन जीतै जग जीत॥

आदि ग्रन्थ, पृ.6

1. प्रबल इच्छा 2. दूसरे 3. सेना 4. योद्धा

रविदास जी कहते हैं:

मैं का जानौं देव मैं का जानौं। मन माया के हाथि बिकानौं॥

संत गुरु रविदास-वाणी, पद 107

स्वामी जी महाराज का भी वचन है:

मन चंचल थिर न रहावे। चित निर्मल कस होय आवे॥

सारबचन संग्रह, 20:10:9

इसलिए वह कहते हैं:

बड़ा बैरी यह मन घट में। इसी का जीतना कठिना॥
पड़ो तुम इसही के पीछे। और सबही जतन तजना॥

सारबचन संग्रह, 19:2:8-9

इसी प्रकार माया की प्रबलता का उल्लेख करते हुए रविदास जी कहते हैं:

बरजि हो बरजि बीठुले, माया जग खाया।
महा प्रबल सब ही बसि कीये, सुर नर मुनि भरमाया॥

संत गुरु रविदास-वाणी, पद 40

स्वामी जी महाराज भी माया के पर्दे या ढकने का उल्लेख करते हुए कहते हैं:

माया लाई छलबल अपना। काल दिया कलमल का ढकना॥

सारबचन छन्द-बन्द, 11:1:3

वह बताते हैं कि मन और माया को वश में करने से ही काल और कर्म पर विजय प्राप्त होती है:

मन माया दोनों मारी। तब काल करम दोउ हारी॥

सारबचन संग्रह, 20:12:11

संसार का भ्रमजाल

मन और माया के प्रभाव से संसार में मोह यानी अज्ञानरूपी रात्रि का अंधकार छा गया है और इस मोहरात्रि में सोए हुए जीव अनेक प्रकार के सपने देख रहे हैं। मिलना-बिछुड़ना, सुख-दु:ख, मित्र-शत्रु, जन्म-मरण, संपत्ति-विपत्ति, धन-धाम, कुल-परिवार, स्वर्ग-नरक आदि जितने भी हमारे व्यावहारिक अनुभव हैं, जिन्हें हम देखते, सुनते या मन में विचारते हैं—इन सबका मूल मोह या अज्ञान है। इनमें कोई वास्तविक या पारमार्थिक सच्चाई नहीं है। जैसे सपने में कोई राजा भिखारी बन जाता है या कोई भिखारी स्वर्ग का मालिक हो जाता है पर जागने पर किसी को कोई हानि-लाभ नहीं होता, वैसे ही संसार के व्यवहार को झूठा या निस्सार समझना चाहिए। जैसे कोई सीप को चाँदी समझने की भूल करता है अथवा जैसे हिरन सूरज की किरणों को जलधारा मान लेता है, वैसे ही जीव भी इस झूठे संसार को सच मानकर अनेक भ्रमों का शिकार बना फिरता है और किसी भी उपाय से इसका भ्रम दूर नहीं होता। इस भ्रामक संसार को तुलसीदास जी आकाश की काल्पनिक फुलवारी या क्षण-क्षण में बनने और मिटनेवाला धुएँ का महल या पानी का बुलबुला या ऊपर से सुंदर दिखनेवाला कुसुंभ का कच्चा रंग कहते हैं:

मोह निसाँ[1] सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥

मानस, 2.92.1

जोग बियोग[2] भोग भल मंदा[3]। हित अनहित मध्यम[4] भ्रम फंदा॥
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू। संपति बिपति करमु अरु कालू॥

1. रात 2. **जोग बियोग**=मिलन और बिछुड़न 3. **भल मंदा**=अर्थात् सुख-दु:ख 4. उदासीन रहनेवाले

धरनि धामु धनु पुर[1] परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ[2] मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं॥
सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति[3] होइ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ[4]॥

मानस, 2.91.3-4, 2.92

रजत[5] सीप महुँ भास जिमि जथा भानु कर बारि[6]।
जदपि मृषा[7] तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥

मानस, 1.117

जग नभ-बाटिका[8] रही है फलि फूलि रे।
धुवाँ कैसे धौरहर[9] देखि तू न भूलि रे॥

विनय-पत्रिका 66

नीर बुल्ला[10] जस कुसुम रँग, ऐसे ही संसार रे।

बारहमासी, पृ.1

यह सपने जैसा झूठा संसार भी परमात्मा पर ही आश्रित है। जब तक हम अज्ञानवश संसार के झूठे सपने में खोए रहते हैं, तब तक यह संसार झूठा होते हुए भी हमें दु:ख देता रहता है। जैसे, यदि कोई सपने में सिर काटे तो बिना जागे वह दु:ख दूर नहीं हो सकता:

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥
जौं सपनें सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई॥

मानस, 1.117.1

1. नगर 2. विचार करना 3. स्वर्ग का मालिक 4. **जियँ जोइ**=हृदय में देखना चाहिए 5. चाँदी 6. **भानु...बारि**=सूर्य की किरणों में पानी की प्रतीति 7. झूठ 8. आकाश की काल्पनिक फुलवारी 9. महल 10. **नीर बुल्ला**=पानी का बुलबुला

इस संसाररूपी रात्रि में केवल सच्चे योगीजन ही जागते हैं जो परमात्मा से जुड़ने की सच्ची परमार्थी साधना में लगे होते हैं और सांसारिक जंजाल के बीच अनासक्त भाव से रहते हैं। जब जीव को संसार के विषय-भोग से विरक्ति हो जाए, तभी उसे जगा हुआ समझना चाहिए। विवेक के कारण ऐसे जीव का मोहजनित भ्रम दूर हो जाता है और वह परमात्मा के चरणों का प्रेमी बन जाता है। तुलसीदास जी कहते हैं:

एहिं जग जामिनि[1] जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच[2] बियोगी[3]॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥

मानस, 2.92.2-3

संसार के सपने में खोए हुए जीव को तुलसीदास जी संसार का भ्रामक रूप दिखलाकर जगाते हैं। संतों के निजी अनुभव का हवाला देते हुए वह संसार को झूठा बताते हैं। केवल सांसारिक ज्ञान के गुमान में इतरानेवाले लोगों को वह 'महा गँवार' कहते हैं। ऐसे अज्ञानी जीव परमात्मा को भुलाकर 'मैं-मेरी' की भावना में पड़े दु:ख भोगते रहते हैं। किसी संत की संगति में आकर परमात्मा की भक्ति में लगने पर ही जीव का सांसारिक भ्रम और भय दूर होता है और तभी वह संसार की निस्सारता को भलीभाँति समझ पाता है। यह संसार ऊपर से सुंदर और ठोस दिखाई पड़नेवाले केले के धड़ के समान है जिसमें केवल छिलका ही छिलका होता है, कोई सार अंश नहीं होता। इन बातों को तुलसीदास जी ने नीचे दिए गए पदों में बड़े सुंदर ढंग से हमारे सामने रखा है:

जागु, जागु, जीव जड़! जोहै[4] जग-जामिनी।
देह-गेह-नेह जानि जैसे घन-दामिनी[5]॥

1. **जग जामिनि**=संसाररूपी रात्रि 2. संसार के धोखे 3. निर्लिप्त रहनेवाला
4. राह देखना 5. बादल के बीच की बिजली

सोवत सपनेहूँ सहै संसृति-संताप[1] रे।
बूड्यो मृग-बारि खायो जेवरीको[2] साँप रे॥
कहैं बेद-बुध[3], तू तो बूझि मनमाहिं रे।
दोष-दुख सपनेके जागे ही पै जाहिं रे॥
तुलसी जागेते जाय ताप तिहूँ ताय[4] रे।
राम-नाम सुचि[5] रुचि[6] सहज सुभाय रे॥

विनय-पत्रिका 73

जागो ऐ मूर्ख जीव! जागो। तू संसाररूपी रात्रि में सोया पड़ा है (इस रात्रि का सेवन कर रहा है)। शरीर, घर और संसार के नेह-नाते को तू बादलों के बीच की बिजली जैसी क्षण भर की चमक समझ। (संसाररूपी रात्रि में) सोया हुआ तू सपने में संसार के कष्टों को सह रहा है। जैसे मृग भ्रमवश कड़ी धूप की लहर को पानी समझकर अपनी प्यास बुझाने के लिए उसके पीछे दौड़ता-दौड़ता मर जाता है, वैसे ही तू भी संसार की मृगतृष्णा के जल में डूबा जा रहा है। जैसे रस्सी को सर्प समझने के कारण उससे डसे जाने का भय होता है, वैसे ही संसाररूपी रस्सी को भ्रमवश सर्प मानने के कारण तू भी उससे डसा जा रहा है। वेद और ज्ञानीजन कहते आ रहे हैं, तू अपने मन में इसे समझ ले कि सपने के दु:ख और दोष जागने पर ही दूर हो सकते हैं। तुलसीदास जी कहते हैं कि इस संसाररूपी रात की अज्ञानरूपी नींद से जागने पर ही तीनों (दैहिक, दैविक और भौतिक) दु:खों की पीड़ा दूर हो सकती है और रामनाम के प्रति स्वाभाविक ही सहज भाव से विशुद्ध प्रीति पैदा हो सकती है।

झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जगु, संत कहंत जे अंतु लहा[7] है।
ताको सहै सठ! संकट कोटिक, काढ़त दंत, करंत हहा है॥

1. संसार के कष्ट 2. रस्सी को 3. वेद और ज्ञानीजन
4. **ताप...ताय**=तीनों दु:खों से पीड़ित होना 5. पवित्र 6. प्रीति
7. **अंतु लहा**=थाह पा ली है।

जानपनी[1] को गुमान बड़ो, तुलसी के बिचार गँवार महा है।
जानकीजीवनु[2] जान न जान्यो तौ जान[3] कहावत जान्यो कहा है॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 39

जिन संतों ने संसार की थाह पा ली है, वे कहते हैं कि संसार सदा झूठा है, झूठा है, झूठा है। पर उसी संसार के लिए तू करोड़ों संकट सहता है, लोगों के सामने दाँत निपोरता (दीनता दिखलाता) और हाय-हाय करता है। सांसारिक विषयों का ज्ञानी होने का तुझे बहुत गुमान है पर तुलसी के विचार से तो तू महा गँवार (भारी मूर्ख) है। यदि तूने परमात्मा को ही नहीं जाना तो ज्ञानी कहलाते हुए आख़िर तूने जाना ही क्या?

हे हरि! यह भ्रम की अधिकाई।
देखत, सुनत, कहत, समुझत संसय-संदेह न जाई॥
जो जग मृषा[4] ताप-त्रय-अनुभव[5] होइ कहहु केहि लेखे।
कहि न जाय मृग बारि सत्य, भ्रम ते दुख होइ बिसेखे॥
सुभग सेज सोवत सपने, बारिधि[6] बूड़त भय लागै।
कोटिहुँ नाव न पार पाव सो, जब लगि आपु न जागै॥
अनबिचार रमनीय[7] सदा, संसार भयंकर भारी।
सम[8] संतोष-दया-बिबेक तें, ब्यवहारी सुखकारी॥
तुलसिदास सब बिधि प्रपंच[9] जग, जदपि झूठ श्रुति गावै।
रघुपति-भगति, संत-संगति बिनु, को भव-त्रास[10] नसावै॥

विनय-पत्रिका 121

हे प्रभु! यह भ्रम की ही अधिकता है कि देखते, सुनते, कहते और समझते हुए भी (असत्य संसार के सत्य होने का) भ्रम और संदेह दूर नहीं होता।

1. ज्ञानी होना 2. अर्थात् परमात्मा 3. ज्ञानी 4. झूठा
5. तीन प्रकार के दु:खों का अनुभव 6. समुद्र 7. सुहावना
8. समानता का भाव 9. जंजाल 10. संसार का भय

(यह संदेह होता है कि) यदि संसार असत्य है तो फिर तीनों प्रकार के दु:खों का अनुभव किस प्रकार होता है? (इसका उत्तर यह है कि) मृगतृष्णा का जल सत्य नहीं कहा जा सकता। पर जब तक भ्रम है, तब तक उसके कारण (वह जल सत्य मालूम पड़ता है जिससे) विशेष दु:ख होता है। जैसे सुंदर बिछावन पर सोए हुए मनुष्य को यदि सपने में समुद्र में डूबने का भय लगा हो तो जब तक वह स्वयं जाग नहीं जाता, तब तक करोड़ों नौकाओं से भी वह समुद्र को पार नहीं कर सकता। विचार न करने के कारण ही यह अत्यंत भयानक संसार सदा सुहावना मालूम पड़ता है। वास्तव में यह संसार उसी के लिए सुखकारी हो सकता है जो मन को शांत करके संतोष, दया और विवेक का व्यवहार करे। तुलसीदास जी कहते हैं कि यह संसार सब प्रकार से एक भ्रम (धोखा) है। यद्यपि जैसा कि वेद कहते हैं, यह झूठा है, फिर भी संतों की संगति और प्रभु की भक्ति के बिना भला कौन इस संसार के भय का नाश कर सकता है?

हे हरि! कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जबलगि नहिं कृपा तुम्हारी॥
अर्थ[1] अबिद्यमान[2] जानिय संसृति[3] नहिं जाइ गोसाईं।
बिन बाँधे निज हठ सठ परबस पर्‌यो कीरकी नाईं[4]॥
सपने ब्याधि[5] बिबिध बाधा जनु मृत्यु उपस्थित आई।
बैद अनेक उपाय करै जागे बिनु पीर न जाई॥
श्रुति-गुरु-साधु-समृति-संमत यह दृश्य असत दुखकारी।
तेहि बिनु तजे, भजे बिनु रघुपति, बिपति सकै को टारी॥
बहु उपाय संसार-तरन कहँ, बिमल गिरा[6] श्रुति गावै।
तुलसिदास मैं-मोर गये बिनु जिउ सुख कबहुँ न पावै॥

विनय-पत्रिका 120

1. विषय पदार्थ 2. असत्य 3. संसार चक्र
4. **कीरकी नाईं**=तोते की तरह 5. रोग 6. वाणी

हे प्रभु! संसार के इस भारी भ्रम को आप क्यों नहीं दूर करते? यद्यपि यह संसार झूठा है, फिर भी जब तक आपकी कृपा नहीं होती, तब तक यह सत्य ही मालूम पड़ता है। हे स्वामी! यह जानते हुए भी कि सांसारिक वस्तुओं की यथार्थ सत्ता नहीं है, संसार चक्र से छुटकारा नहीं होता। बिना किसी के द्वारा बाँधे गए ही मैं मूर्ख अपने हठ से तोते की तरह बँधकर पराए वश में पड़ा हुआ हूँ। यदि किसी को सपने में अनेक प्रकार के रोगों की कठिनाई आ जाए जिनसे उसे लगे कि उसकी मृत्यु ही उपस्थित हो गई है और बाहर से वैद्य अनेक उपाय करता रहे पर जब तक वह जागता नहीं तब तक उसकी पीड़ा दूर नहीं हो सकती। श्रुति-स्मृति, गुरु और संत – सभी एकमत होकर कहते हैं कि यह संसार जो दिखाई पड़ता है, असत्य होते हुए ही दु:खकारी है। इसे त्यागकर प्रभु का भजन किए बिना हमारी विपत्ति भला कौन टाल सकता है? वेद अपनी पवित्र वाणी से संसार-सागर को पार करने के बहुत-से उपाय बताते हैं पर तुलसीदास जी कहते हैं कि जब तक 'मैं-मेरी' की भावना (अहं भावना) दूर नहीं होती, तब तक यह जीव कभी सुख नहीं पा सकता।

मैं तोहिं अब जान्यो संसार।
बाँधि न सकहिं मोहि हरिके बल, प्रगट कपट-आगार[1]॥
देखत ही कमनीय[2], कछू नाहिंन पुनि किये बिचार।
ज्यों कदलीतरु-मध्य[3] निहारत, कबहुँ न निकसत सार॥
तेरे लिये जनम अनेक मैं फिरत न पायों पार।
महामोह-मृगजल-सरिता महँ बोर्‌यो हौं बारहिं बार॥
सुनु खल! छल-बल कोटि किये बस होहिं न भगत उदार[4]।...
तुलसिदास प्रभुके दासनि तजि भजहि जहाँ मद[5] मार[6]॥

विनय-पत्रिका 188

1. कपट का घर 2. सुंदर 3. केले के पेड़ के भीतर
4. विशाल हृदय वाले 5. अहंकार 6. काम

ऐ संसार! अब मैंने तुझे (यथार्थ रूप में) जान लिया है। तुम प्रत्यक्ष कपट के घर हो पर अब मुझे हरि का बल मिल गया है, इसलिए तुम मुझे बाँध नहीं सकते। तुम देखने में सुंदर हो पर विचार करने पर तो तुम कुछ भी नहीं हो (तुम्हारा कोई अस्तित्व ही नहीं है); जैसे केले के पेड़ के भीतर देखने पर कभी भी कोई सार या ठोस अंश नहीं निकलता (केवल छिलका ही छिलका निकलता है)। तेरे लिए अनेक जन्मों में भटकते रहकर भी मैं तेरा पार नहीं पा सका। तू मुझको भारी मोहरूपी मृगतृष्णा की नदी में ही बार-बार डुबोता रहा। पर अब ऐ दुष्ट! सुन, तुम्हारे करोड़ों छल-बल करने पर भी शुद्ध हृदयवाले भक्त तुम्हारे वश में नहीं आ सकते। तुलसीदास जी कहते हैं कि प्रभु के सेवकों को छोड़कर अब तू वहाँ जा जहाँ अहंकार और काम बसते हों।

कर्म का अटल नियम

मन-माया के प्रभाव के वश संसार के भ्रमजाल में पड़ा हुआ जीव जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल उसे भोगना पड़ता है। कर्म का यह अटल नियम समूचे विश्व में लागू है। हम शरीर धारणकर मन, वचन और कर्म द्वारा जो भी पाप या पुण्य कर्म करते हैं, उन्हीं का फल हमें सुख-दु:ख के रूप में बार-बार भोगना पड़ता है। कर्मों का जो हिसाब चुकाना है उसे अंत में चुकाना ही पड़ता है। इस तरह हमारे दु:ख और सुख हमारे अपने ही कर्मों के फल हैं। माता-पिता केवल हमें जन्म देते हैं पर हमारे कर्मों के शुभ और अशुभ फलों को देनेवाला विधाता है:

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥

मानस, 2.218.2

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥

मानस, 2.91.2

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी[1]। ईसु देइ फलु हृदयँ बिचारी॥
करइ जो करम पाव फल सोई। निगम[2] नीति असि कह सबु कोई॥

मानस, 2.76.4

जो करता है करम को सो भोगत नहिं आन।
बवनहार लुनि है सोइ[3] देनी लहै निदान[4]॥

तुलसी सतसई 2.90

तुलसी यह तनु खेत है, मन बच कर्म किसान।
पाप पुण्य द्वै बीज हैं, बवै सो लवै निदान॥

वैराग्य-संदीपनी 5

जनम हेतु सब कहँ पितु माता। करम सुभासुभ देइ बिधाता॥

मानस, 2.254.3

तुलसीदास जी कहते हैं कि विचारपूर्वक देखने से यह मालूम पड़ता है कि कर्मों का विधान अमिट है। हमारे सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जीवन-मरण आदि हमारे पूर्वजन्मों के किए हुए कर्मों के ही फल हैं। इसलिए इन्हें न मिटाया जा सकता है और न इनके लिए किसी दूसरे को दोषी ही ठहराया जा सकता है। कर्मों के तीन भेद किए जाते हैं – 1. प्रारब्ध, 2. संचित और 3. क्रियमान। पूर्वजन्मों के किए हुए कुछ कर्म जो वर्तमान जीवन में फल देने के लिए निश्चित हो चुके हैं, उन्हें प्रारब्ध, भावी या विधाता का लिखा हुआ कर्म कहते हैं (जिन्हें मिटाया नहीं जा सकता)। पूर्वजन्मों के किए हुए शेष सभी कर्म जो भविष्य के लिए रखे रहते हैं, उन्हें संचित कर्म कहा जाता है (जिन्हें गुरु से प्राप्त ज्ञान द्वारा नष्ट किया जा सकता है)। वर्तमान जीवन में हम जो कर्म करते हैं, वे क्रियमान कर्म हैं जो आगे के जीवन के लिए प्रारब्ध और संचित कर्म बन जाते हैं।

1. अनुसार 2. वेद 3. **बवनहार...सोइ**=जो बोनेवाला है, वही काटता है।
4. अंत में

प्रारब्ध कर्म यानी भावी के बारे में तुलसीदास जी कहते हैं कि यह इतना अधिक प्रबल होता है कि यह जीव को खींचकर जहाँ जो फल भुगताना होता है, वहाँ ले जाता है या वैसा ही संयोग जुटाता है। इसलिए राम के वन जाने के लिए न तो कैकेयी को दोष दिया जा सकता है और न रावण को मारने के लिए राम को ही दोषी ठहराया जा सकता है। भावी के अनुसार ही राम को वन जाना पड़ा और इसी प्रकार अपने कर्मों के ही कारण रावण भी राम के हाथों मारा गया। जब राम जैसे अवतारी पुरुष को भी कर्मों का हिसाब देना पड़ा तो फिर साधारण मनुष्य कर्मों के क़ानून से कैसे बच सकते हैं?

कर्म मिटाये मिटत नहीं तुलसी किये बिचार।
करतब[1] ही को फेर है या बिधि सार[2] असार[3]॥

तुलसी सतसई, 5.12

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥

मानस, 2.171

तुलसी जसि भवतब्यता[4] तैसी मिलइ सहाइ।
आपुनु आवइ ताहि पहिं[5] ताहि तहाँ लै जाइ॥

मानस, 1.159(ख)

सिय रघुबीर कि कानन[6] जोगू। करम प्रधान सत्य कह लोगू॥

मानस, 2.90.4

अस बिचारि केहि देइअ दोसू। ब्यरथ काहि पर कीजिअ रोसू॥

मानस, 2.171.1

1. किए हुए कर्म 2. हम सार तत्त्व प्राप्त करते हैं। 3. ख़ाली रह जाते हैं।
4. भावी 5. पास 6. जंगल

करम लिखा जौं बाउर नाहू[1]। तौ कत दोसु लगाइअ काहू॥
तुम्ह सन मिटहिं कि बिधि[2] के अंका। मातु ब्यर्थ जनि लेहु कलंका॥
जनि लेहु मातु कलंकु करुना परिहरहु अवसर नहीं।
दुखु सुखु जो लिखा लिलार हमरें जाब जहँ पाउब तहीं॥

मानस, 1.96.4, छन्द

मेटि जाइ नहिं राम रजाई[3]। कठिन करम गति कछु न बसाई॥

मानस, 2.98.4

रावण रावण को हन्यो दोष राम कह जाँहिं।
निज हित अनहित देखु किन तुलसी आपहि माहिं॥

तुलसी सतसई, 2.91

क्रियमान कर्मों की ओर संकेत करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि इस जीवन में एक कर्म से बँधकर हम दूसरा कर्म करते हैं और दूसरा कर्म हमें तीसरे कर्म की ओर ले जाता है। इस तरह कर्मों का बंधन दिन-प्रतिदिन जटिल होता जाता है। इन्हें नाश करके इनसे मुक्त होना अत्यंत कठिन है:

एक किये होय दूसरो बहुरि तीसरो अंग।
तुलसी कैसेहु ना नशै अतिशै कर्म तरंग॥

तुलसी सतसई, 5.13

जैसे मकड़ी अपने ही तार के सहारे कभी ऊपर और कभी नीचे जाती है, वैसे ही हम अपने ही अच्छे और बुरे कर्मों के कारण कभी ऊँची और कभी नीची योनियों में जन्म लेकर अपने कर्मों का फल भोगते हैं।

1. पति 2. विधाता 3. आज्ञा

मकड़ी की तरह हम कभी भी अपने कर्मजाल से निकल नहीं पाते। परमात्मा को छोड़, कोई भी अच्छे और बुरे– इन दो प्रकार के कर्मों और इनके विपाक यानी फल से अछूता नहीं है। केवल ज्ञानी संतजन ही कर्मों के इस जटिल जाल को जानते हैं। कर्म का यह नियम दिन-रात के समान निश्चित रूप से चलता रहता है और जीवों को बरबस ही जन्म-मरण, सुख-दु:ख और लाभ-हानि के रूप में अपने कर्मफल को भोगना पड़ता है:

जौन तार ते अधम गति उर्ध्व[1] तौन गति जात।
तुलसी मकरी तंतु इव कर्म न कबहुँ नसात॥

तुलसी सतसई, 5.20

इन दोउन्ह ते रहित भी कोउ न राम तजि आन।
तुलसी यह गति जानिहैं, कोउ कोउ संत सुजान[2]॥

तुलसी सतसई, 5.14

जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभु प्रिय मिलन बियोगा॥
काल करम बस होहिं गोसाईं बरबस राति दिवस की नाईं॥

मानस, 2.149.3

कर्म के इस अटल नियम को अन्य सभी संतों ने भी स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए गुरु नानक साहिब कहते हैं:

ददै दोस न देऊ किसै दोस करंमा आपणिआ॥
जो मै कीआ सो मै पाइआ दोस न दीजै अवर जना॥

आदि ग्रन्थ, पृ.433

तुलसीदास जी के ही समान गुरु अर्जुन देव जी ने भी मनुष्य जीवन को *करमां संदड़ा खेत* (कर्मभूमि) कहा है और बताया है कि अच्छे-बुरे अनेक कर्म करके भी हम बंधन में ही पड़े रहते हैं:

1. ऊपर 2. अच्छी तरह जाननेवाला

अनिक करम कीए बहुतेरे॥ जो कीजै सो बंधन पैरे॥

आदि ग्रन्थ, पृ. 1075

मुहम्मद साहिब ने भी कर्मों को आख़िरत (परलोक) की खेती कहा है:

अल दुनिया मज़रत उन आखिरत।

अहदीसे-मसनवी 338

इसी कर्मबंधन का वर्णन करते हुए पलटू साहिब कहते हैं:

करम बँधा संसार बँधावै आप से।
जमपुर बाँधा जाय करम की फाँस से॥

पलटू साहिब की बानी, भाग2, अरिल्ल144

हाथरस के परमसंत तुलसी साहिब भी कहते हैं:

करम आस की बास में, जोनी जोनि समाय।
जो जैसी करनी करे, सो तैसे फल खाय॥

रत्नसागर, पृ. 84

दादू दयाल जी भी हमें समझाते हुए कहते हैं:

घटि घटि दादू कहि समझावै, जैसा करै सो तैसा पावै।
को काहू की सीरी[1] नाहीं, साहिब देखै सब घट माहीं॥

दादू दयाल की बानी, भाग1, पृ. 144

इसी बात की पुष्टि करते हुए स्वामी जी महाराज कहते हैं:

करम जो जो करेगा तू। वही फिर भोगना भरना॥

सारबचन संग्रह, 19:2:5

1. साझीदार

मानव जीवन: बंधन से छूटने का दुर्लभ अवसर

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥

मानस, 7.42.4

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा॥

मानस, 7.95.(ख).1

मनुष्य शरीर बड़े भाग्य से मिलता है। सभी ग्रंथों का यह कहना है कि यह शरीर देवताओं को भी दुर्लभ है। वही शरीर पवित्र और सुंदर है जिस शरीर को पाकर परमात्मा का भजन किया जाए।

मानव जीवन की दुर्लभता

चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद बड़े भाग्य से मनुष्य का जीवन मिलता है। परमार्थी साधना करके मोक्ष प्राप्त करने का यही एकमात्र अवसर है। इसी लिए तुलसीदास जी इसे 'साधन-धाम' (साधना का घर) और मोच्छ कर द्वारा (मुक्ति का दरवाज़ा) कहते हैं। इस दुर्लभ मनुष्य जीवन के लिए देवता भी तरसते हैं। ऐसे जीवन को पाकर जो अपने परमार्थ को पूरा नहीं कर लेता, उसे बाद में दु:ख भोगना पड़ता है और वह अंत में सिर धुन-धुनकर पछताता है। ऐसा जीव मनुष्य जीवन के

दुर्लभ अवसर का लाभ न उठाकर नाहक़ ही काल, कर्म और ईश्वर को दोष देता है। जैसा कि तुलसीदास जी कहते हैं:

आकर चारि[1] लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥

मानस, 7.43.2-3

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा॥ पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र[2] दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

मानस, 7.42.4, 7.43

मनुष्य जन्म विषय-भोग करने के लिए नहीं मिलता। विषय-भोग तो पशु जीवन में भी किया जा सकता है। केवल दान-पुण्य करने और कर्मकांड की बाहरी क्रियाओं में लगने से भी इस जीवन का उद्देश्य पूरा नहीं होता क्योंकि इन कामों से अधिक से अधिक स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। पर स्वर्ग भी केवल थोड़े समय के लिए मिलता है और अंत में जीव को फिर आवागमन के चक्कर में गिरना पड़ता है। इसलिए प्रभुभक्ति को छोड़कर इस लोक या परलोक के विषय-भोग की ओर मन लगाना अमृत को छोड़ विष लेने अथवा पारसमणि को छोड़ घुँघची बटोरने के समान है। इसे कोई भी भला नहीं कह सकता:

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा[3] ते सठ[4] बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा[5] ग्रहइ परस मनि खोई॥

मानस, 7.43.1-2

1. आकर चारि=चार खानियाँ 2. दूसरे स्थान में 3. अमृत 4. दुष्ट 5. घुँघची

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, जीव को यह मनुष्य शरीर कभी विरले ही प्राप्त होता है। बिना कारण ही स्नेह करनेवाले प्रभु जीव पर दया कर उसे कभी मनुष्य का शरीर दे देते हैं। यह मनुष्य जीवन ही संसार-सागर को पार करने की एकमात्र नौका है। इस जीवनरूपी नौका के लिए प्रभु की कृपा अनुकूल हवा है और सतगुरु इस नौका के नाविक (केवट) हैं। प्रभु की कृपा से जब मनुष्य जीवनरूपी नौका को सतगुरुरूपी नाविक मिल जाते हैं, तब यह दुर्गम संसार-सागर सहज ही पार किया जा सकता है। पर जो मनुष्य अपने जीवन में इस प्रकार का साधन पाकर भी सतगुरु की बताई युक्ति द्वारा संसार-सागर को पार करने की चेष्टा नहीं करता और उलटे उपकार करनेवाले सतगुरु को ही दोष देता है, वह मूर्ख जीव सचमुच ही कृतघ्न और आत्मघाती है। जैसा कि तुलसीदास जी कहते हैं:

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥
जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

मानस, 7.43.3-4, 7.44

गरुड़ और काकभुशुण्डि के संवाद द्वारा भी तुलसीदास जी इसी बात की पुष्टि करते हैं। गरुड़ भुशुण्डि जी से अपना पहला प्रश्न यह पूछते हैं कि सबसे दुर्लभ शरीर कौन-सा है?

प्रथमहिं कहहु नाथ मतिधीरा। सब ते दुर्लभ कवन सरीरा॥

मानस, 7.120.(ख). 2

इसका उत्तर देते हुए भुशुण्डि जी कहते हैं कि मनुष्य शरीर के समान कोई शरीर नहीं है। इसी को पाने के लिए चर और अचर सभी जीव विनती करते हैं। इसका सदुपयोग करके मनुष्य स्वर्ग तथा मोक्ष तक को प्राप्त कर

लेते हैं। यह ज्ञान, वैराग्य और भक्ति का शुभफल देनेवाला है। पर इसका दुरुपयोग करनेवाले जीव नरकों में जाते हैं। इसी लिए तुलसीदास जी मनुष्य जीवन को *नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी* (नरक, स्वर्ग और मोक्ष की सीढ़ी) कहते हैं। इसे पाकर भी जो मनुष्य प्रभु का भजन नहीं करते, उलटे नीच से नीच विषयों के भोग में लग जाते हैं, वे मानों अपने हाथ में आए पारसमणि को फेंककर बदले में काँच का टुकड़ा ले लेते हैं:

नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी[1]। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥
सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषय रत[2] मंद मंद तर[3]॥
काँच किरिच[4] बदलें ते लेंही। कर ते डारि परस मनि देहीं॥

मानस, 7.120.(ख). 5-6

अन्य संतों ने भी मानव जीवन को परमात्मा की प्राप्ति का एकमात्र दुर्लभ अवसर माना है। उदाहरण के लिए गुरु अर्जुन देव जी कहते हैं:

लख चउरासीह जोनि सबाई॥ माणस कउ प्रभ दीई वडिआई॥
इस पउड़ी ते जो नर चूकै सो आए जाए दुख पाइदा॥

आदि ग्रन्थ, पृ. 1075

वह फिर कहते हैं:

मिल जगदीस मिलन की बरीआ॥ चिरंकाल इह देह संजरीआ॥

आदि ग्रन्थ, पृ. 176

कबीर साहिब भी इस जीवन को दुर्लभ मानते हैं और कहते हैं:

कबीर मानस जनम दुलंभ है होए न बारै बार॥
जिउ बन फल पाके भुए गिरह बहुर न लागह डार॥

आदि ग्रन्थ, पृ. 1366

1. सीढ़ी 2. लीन 3. **मंद तर**=नीच से नीच 4. टुकड़ा

वह फिर कहते हैं:

इस देही कउ सिमरह देव॥ सो देही भज हर की सेव॥
भजहो गोबिंद भूल मत जाहो॥ मानस जनम का एही लाहो॥

आदि ग्रन्थ, पृ. 1159

तुलसी साहिब भी गोस्वामी तुलसीदास जी की तरह ही इस दुर्लभ मानव जीवन को केवल स्वर्ग की प्राप्ति की आशा में लगाना नहीं चाहते, आप बड़े ही ज़ोरदार शब्दों में कहते हैं:

यह तन दुर्लभ देव को सब कोइ कहत पुकारि॥
सब कोई कहत पुकारि देव देही नहिं पावैं।
ऐसे मूरख लोग स्वर्ग की आस लगावैं॥
पुन्न छीन सोई देव स्वर्ग से नरकै आवैं।
भर्मे चारों खान पुन्न कहि ताहि रिझावैं॥
तुलसी तन मन तत लखै स्वर्ग पै करै खखारि।
यह तन दुर्लभ देव को सब कोई कहत पुकारि॥

तुलसी साहिब की शब्दावली, भाग 1, पृ. 37

गुरु रविदास जी के अनुसार भी हरिभक्ति ही इस दुर्लभ मानव जीवन का उद्देश्य है:

दुर्लभ जनमु पुन फल पाइऔ बिरथा जात अबिबेकै।
राजे इंद्र समसरि[1] ग्रिह आसन बिनु हरि भगति कहहु किह लेखे॥

संत गुरु रविदास-वाणी, पद 126

दादू दयाल जी भी तुलसीदास जी की तरह मनुष्य शरीर को मुक्ति का दरवाज़ा कहते हैं:

1. समान

मनिषा देह मुकति का द्वारा। राम सुमिरि जग सिरजनहारा॥
दादू दयाल की बानी, भाग2, शब्द 385

स्वामी जी महाराज भी इस दुर्लभ मानव शरीर को भक्ति द्वारा सफल बनाने की चेतावनी देते हुए कहते हैं:

यह तन दुर्लभ तुमने पाया। कोटि जन्म भटका जब खाया॥
अब या को बिरथा मत खोवो। चेतो छिन छिन भक्ति कमावो॥
सारबचन संग्रह, 16:1:1-2

अब यह देह मिली किरपा से। करो भक्ति जो कर्म दहा॥
सारबचन संग्रह, 15:10:5

वह फिर कहते हैं:

मिली नर देह यह तुम को। बनाओ काज कुछ अपना॥
पचो मत आय इस जग में। जानियो रैन का सुपना॥
सारबचन संग्रह, 15:13:1-2

मानव जीवन की क्षणभंगुरता

यह अनमोल मानव जीवन बहुत कम समय के लिए मिलता है। इस जीवन में हमें गिने-गिनाए साँस लेने हैं। शरीररूपी तरकस से साँसरूपी तीर लगातार निकलते जा रहे हैं। इस प्रकार शरीररूपी तरकस के ख़ाली हो जाने पर हमारे जीवन का अंत हो जाएगा। इसलिए तुलसीदास जी बिना विलंब किए शीघ्र ही प्रभु के भजन में लगने का उपदेश देते हुए कहते हैं:

तुलसी विलम्ब न कीजिये, भजि लीजै रघुबीर।
तन तरकस ते जात है, श्वास सरिखो तीर॥
तुलसी सतसई, 2.10

हम यह स्वयं देखते, सुनते और अनुभव करते हैं कि मृत्यु हमारी चोटी पकड़कर नित्य ही हमें झकझोरती और चपत लगाती है तथा पल-पल अपनी ओर खींचती जाती है, फिर भी हम ऐसे नीच हैं कि समझते ही नहीं:

तुलसी देखत अनुभवत सुनत न समुझत नीच।
चपरि[1] चपेटे देत नित केस गहें कर मीच[2]॥
दोहावली 248

मनुष्य, देवता तथा संसार के सभी चर और अचर जीवों को काल खा जाता है। यह अनगिनत खंडों-ब्रह्मांडों का विनाश करनेवाला है। इससे बच पाना अत्यंत कठिन है:

अग जग[3] जीव नाग[4] नर देवा। नाथ सकल जगु काल कलेवा[5]॥
अंड कटाह[6] अमित[7] लय कारी[8]। कालु सदा दुरतिक्रम[9] भारी॥
मानस, 7.93(ख).4

हमारा जीवन प्रत्येक क्षण घटता चला जा रहा है। इसलिए तुलसीदास जी कहते हैं कि हमें सांसारिक विषयों की आशा छोड़कर इस मानव जीवन को प्रभु के भजन में लगाना चाहिए, नहीं तो संसार को खानेवाला कालरूपी सर्प इस शरीर को खा जाएगा और यह दुर्लभ मानव जीवन व्यर्थ ही चला जाएगा:

छिन-छिन[10] छीन होत जीवन, दुरलभ तनु बृथा गँवायो।
तुलसिदास हरि भजहि आस तजि, काल-उरग[11] जग खायो॥
विनय-पत्रिका 199

---

1. ज़ोर से 2. मृत्यु। 3. **अग जग**=जड़-चेतन 4. सर्प
5. भोजन 6. समूह 7. असंख्य 8. **लय कारी**=नाश करनेवाला
9. जिससे कोई बचकर न निकल सके 10. घटना 11. कालरूपी सर्प

मानव जीवन की सार्थकता

परमात्मा के चरणों में प्रेम लगाने और उनका भजन करने में ही मानव जीवन की सार्थकता है। जो मनुष्य परमात्मा के चरणों में प्रेम लगाता है, वही पवित्र, भाग्यशाली, ज्ञानी, गुणी, पृथ्वी का भूषण, पंडित, दानी, धर्मात्मा और कुल का उद्धारक समझा जाता है। परमात्मा से विमुख रहनेवाला यदि ब्रह्मा के समान भी शरीर पा ले, तब भी ज्ञानीजन उसकी प्रशंसा नहीं करते। इसलिए यदि हम अपने मानव जीवन को सफल बनाना चाहते हैं तो हमें सभी सांसारिक विषयों से हटकर परमात्मा के भजन में लगना चाहिए। जैसा कि तुलसीदास जी कहते हैं:

सोइ पावन सोइ सुभग[1] सरीरा। जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा॥
मानस, 7.95(ख).1

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मंडित[2] पंडित दाता॥
धर्म परायन सोइ कुल त्राता[3]। राम चरन जा कर मन राता[4]॥
मानस, 7.126.1

राम बिमुख लहि बिधि[5] सम देही। कबि कोबिद[6] न प्रसंसहिं तेहि॥
मानस, 7.95(ख).2

देह धरे कर यह फलु भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई[7]॥
मानस, 4.22.3

मन, वचन और कर्म से प्रभु के चरणों में प्रेम लगाने से ही जीव का सच्चा स्वार्थ यानी परमार्थ सिद्ध होता है। जैसा कि तुलसीदास जी कहते हैं:

1. भाग्यशाली 2. **महि मंडित**=पृथ्वी की शोभा 3. **कुल त्राता**=कुल का रक्षक 4. रँग जाना 5. ब्रह्मा 6. विद्वान 7. छोड़कर

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा॥
मानस, 7.95(ख).1

सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥
मानस, 2.92.3

तुलसीदास जी के समान स्वामी जी महाराज भी जीव के स्वार्थ की सिद्धि के लिए भक्ति का उपाय बताते हुए कहते हैं:

यह तन दुर्लभ तुमने पाया। कोटि जन्म भटका जब खाया॥
अब या को बिरथा मत खोवो। चेतो छिन छिन भक्ति कमावो॥
अपने जीव की कुछ दया पालो। चौरासी का फेर बचा लो॥
सारबचन संग्रह, 16:1:1-2, 12

फिर वह परमार्थ की दृष्टि से भी विषयों को त्यागने और नाम-भक्ति करने अर्थात् सुरत को शब्द (नाम) से जोड़ने का उपदेश देते हैं:

कोमल चित्त दया मन धारो। परमारथ का खोज लगाना॥
इन्द्री थान विषय को त्यागो। सुर्त शब्द में नित्त लगाना॥
सारबचन संग्रह, 20:27:1-2

स्वार्थ और परमार्थ, सबकी सिद्धि प्रभुभक्ति द्वारा होने के कारण ही तुलसीदास जी प्रभु के चरणों में प्रेम लगानेवालों को 'बड़भागी' कहते हैं और विषय-वासनाओं के प्रेम में लगे जीवों को 'अभागी' मानते हैं। परमात्मा के प्रेमी, विषय-भोग को रोग समझते हैं और उनसे वे उसी प्रकार दूर रहते हैं जैसे कोई व्यक्ति कै की हुई वस्तु से घृणा करता है:

सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥
मानस, 4.22.4

सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

मानस, 3.32.2

जे रघुबीर चरन अनुरागे। तिन्ह सब भोग रोग सम त्यागे॥

विनय-पत्रिका 127

रमा बिलासु[1] राम अनुरागी। तजत बमन[2] जिमि जन बड़भागी॥

मानस, 2.323.4

प्रभु के चरणों में प्रेम लगाकर उसका भजन करना ही मानव जीवन को सफल बनाने का एकमात्र उपाय है। अपने इस सिद्धांत की पुष्टि के लिए तुलसीदास जी वेद-पुराण तथा नारद-शुकदेव और सनकादि जैसे भक्तों और ऋषि-मुनि, ब्रह्मा और शिव जैसे देवताओं और संतमत का हवाला देते हैं और कहते हैं कि इस सिद्धांत के संबंध में सबका एक ही मत है:

श्रुति सिद्धांत इहइ उरगारी[3]। राम भजिअ सब काज बिसारी॥

मानस, 7.122 (ग).1

जासु पतित पावन बड़ बाना[4]। गावहिं कबि श्रुति संत पुराना॥
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजें गति केहिं नहिं पाई॥

मानस, 7.129.4

लाभु कि किछु हरि भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना॥

मानस, 7.111(ख).4

बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत[5] फल राम सनेहू॥

मानस, 1.26.1

---

1. **रमा बिलासु**=धन-संपत्ति का भोग 2. उल्टी, कै
3. गरुड़, सर्पों का शत्रु 4. रीति 5. उत्तम कर्म

सिव अज[1] सुक[2] सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद[3]॥
सब कर मत खगनायक[4] एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा॥

मानस, 7.121(ख).6-7

तुलसीदास जी ने बड़े ज़ोरदार शब्दों में कहा है कि प्रभु के भजन के बिना जीव का क्लेश कभी मिट नहीं सकता। यह मानव जीवन ही संसार-सागर को पार करने और जन्म-मरण के दु:खों से सदा के लिए छुटकारा पाने का एकमात्र अवसर है और केवल प्रभु के भजन द्वारा ही यह संभव होता है। काकभुशुण्डि के माध्यम से अपना निजी अनुभव बताते हुए तुलसीदास जी कहते हैं:

निज अनुभव अब कहउँ खगेसा[5]। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा॥

मानस, 7.88(ख).3

राकापति[6] षोडस उअहिं तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह[7] दव[8] लाइअ बिनु रबि राति न जाइ॥
ऐसेहिं हरि बिनु भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥

मानस, 7.78(ख) और (ख).1

तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोक धाम तजि काम[9]॥

मानस, 5.46

तुलसीदास जी ने स्वयं राम के मुख से भी परम भक्त भुशुण्डि जी को यह निश्चित उपदेश दिलवाया है:

---

1. ब्रह्मा 2. शुकदेव मुनि 3. निपुण 4. पक्षिराज (गरुड़)
5. पक्षिराज (गरुड़) 6. चंद्रमा 7. पहाड़ों में 8. जंगल की आग
9. विषयों की कामना

सत्य कहउँ खग तोहि सुचि[1] सेवक मम प्रानप्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि[2] आस भरोस सब॥

मानस, 7.87(ख). सोरठा

फिर भुशुण्डि जी अपने अनुभव के आधार पर अटल सिद्धांत की घोषणा करते हैं:

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान[3]॥

मानस, 7.78(क)

बारि[4] मथें घृत होइ बरु सिकता[5] ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल[6]॥

मानस, 7.122(क)

विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरि नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति[7] ते॥

मानस, 7.122(ग)

मैं आप से सुनिश्चित सिद्धांत कहता हूँ, मेरा यह वचन अन्यथा (असत्य) नहीं हो सकता। जो मनुष्य परमात्मा का भजन करते हैं वे अत्यंत दुस्तर संसार-सागर को पार कर जाते हैं।

जब भक्त भजन के द्वारा अपने प्रियतम परमात्मा को अपने अंदर प्रकट करके उनके दर्शन से अपनी आंतरिक आँख को तृप्त कर लेता है तब उसका मानव जीवन सफल हो जाता है और आवागमन का चक्कर सदा के लिए समाप्त हो जाता है। इसलिए तुलसीदास जी कहते हैं:

1. पवित्र 2. त्यागकर 3. सींग 4. पानी 5. बालू
6. अटल 7. पार कर जाते हैं।

इहै परम फलु, परम बड़ाई।
नखसिख रुचिर बिंदुमाधव छबि निरखहिं नयन अघाई॥

विनय-पत्रिका 62

तुलसीदास जी के अनुसार यदि यह मन अपनी स्वाभाविक चंचलता को छोड़कर एक पल के लिए भी एकाग्र होकर परम प्रभु का दर्शन कर ले तो फिर चित्त प्रभु की अपूर्व सुंदरता में इस प्रकार अटक जाएगा कि इसका जन्म-जन्म का भटकना सदा के लिए बंद हो जाएगा। मनुष्य शरीर पाने का बस इतना ही फल है:

मन इतनोई या तनु को परम फलु।
सब अँग सुभग बिंदुमाधव[1] छबि, तजि सुभाव[2] अवलोकु[3] एक पलु॥...
तुलसिदास भव-त्रास[4] मिटै तब, जब मति येहि सरूप अटकै।
नाहिंत दीन मलीन हीन सुख कोटि जनम भ्रमि भ्रमि भटकै॥

विनय-पत्रिका 63

सच्ची भक्ति का रंग चढ़ जाने पर भक्त के लिए परमात्मा ही माता-पिता, भाई-बंधु, संगी-सखा, गुरु या स्वामी – सब कुछ हो जाता है। भक्त को एकमात्र भगवान का ही भरोसा होता है। राम के रंग में रँगे हुए को संसार का और कोई रंग नहीं सुहाता। उसे जीते-मरते सदा एकमात्र राम का ही आसरा रहता है। तुलसीदास जी के अनुसार ऐसे ही मनुष्य का संसार में जीना सफल है, बाक़ी सब तो मरे हुए जैसे हैं। वे केवल यों ही इधर-उधर डोलते फिरते हैं:

रामु हैं मातु, पिता, गुरु, बंधु, औ संगी, सखा, सुतु, स्वामि, सनेही।
राम की सौंह भरोसो है रामको, राम रँग्यो, रुचि, राच्यो न केही॥

1. परमात्मा का एक नाम 2. **तजि सुभाव**=चंचल स्वभाव को छोड़कर
3. देखना 4. संसार का भय

जीअत रामु, मुएँ, पुनि रामु, सदा रघुनाथहि की गति जेही।
सोई जिऐ जगमें 'तुलसी' नतु डोलत और मुए धरि देही॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 36

जीव को अपनी अंतिम सलाह देते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि प्रेममय परमात्मा के प्रेम में रँगे जाने में ही मानव जीवन की सार्थकता है। ज्ञान, वैराग्य, योग, जप, तप, यज्ञ आदि साधन प्रभुप्रेम के बिना व्यर्थ हैं। प्रभुप्रेम ही वेद-शास्त्रों तथा संत-महात्माओं के उपदेश का सार और समस्त कल्याण का भंडार है। इसलिए हमें प्रेमपूर्वक प्रभु के नाम के सुमिरन द्वारा प्रभु की प्राप्ति में लग जाना चाहिए:

जो अनुराग न राम सनेही सों।
तौ लह्यो लाहु कहा[1] नर-देही सों॥
जो तनु धरि, परिहरि सब सुख, भये सुमति[2] राम-अनुरागी।
सो तनु पाइ अघाइ किये अघ, अवगुन उदधि[3] अभागी॥
ग्यान-बिराग, जोग-जप, तप-मख[4] जग मुद-मग[5] नहिं थोरे।
राम-प्रेम बिनु नेम[6] जाय जैसे मृग-जल जलधि-हिलोरे॥
लोक बिलोकि, पुरान-बेद सुनि, समुझि-बूझि गुरु-ग्यानी।
प्रीति-प्रतीति राम-पद-पंकज सकल-सुमंगल-खानी॥
अजहुँ जानि जिय, मानि हारि हिय, होइ पलक मँह नीको।
सुमिरु सनेह सहित हित रामहिं, मानु मतो तुलसी को॥

विनय-पत्रिका 194

यदि प्रेममय परमात्मा से प्रेम नहीं किया तो मनुष्य शरीर धारण करने का भला क्या लाभ पाया? जिस शरीर को धारणकर शुद्ध बुद्धि वाले

1. तौ...कहा=तो क्या लाभ पाया? 2. निर्मल बुद्धिवाले 3. समुद्र
4. तप और यज्ञ 5. सुख प्राप्ति के मार्ग 6. नियम-व्रत

मनुष्य सभी सांसारिक सुखों का त्याग करके प्रभु के प्रेमी बन जाते हैं, उस शरीर को पाकर भी, अरे महापापी अभागे! तूने पेट भरकर पाप ही किए। संसार में ज्ञान, वैराग्य, योग, जप, तप, यज्ञ आदि सुख (सांसारिक सुख या स्वर्ग सुख) की प्राप्ति के मार्गों की कोई कमी नहीं है परंतु प्रभुप्रेम के बिना ये सभी नियम-व्रत मृगतृष्णा के समुद्र की लहरों के समान व्यर्थ हैं अर्थात् जैसे प्यासा मृग कड़ी धूप की लहरों को जल की लहर समझ उसके पीछे दौड़ता-दौड़ता मर जाता है, उसी तरह इन नियम-व्रतों को सच्चे सुख का साधन समझ मनुष्य उसमें लगकर अपना बहुमूल्य जीवन बरबाद कर डालता है। इस (नश्वर) संसार को देखकर अर्थात् इससे शिक्षा ग्रहण करके पुराणों और वेदों को सुनकर तथा गुरु और ज्ञानीजन के उपदेशों को समझ-बूझकर प्रभु के चरण-कमलों में प्रीति और प्रतीति पैदा कर। यही हर तरह के कल्याण का भंडार है। अभी भी यदि तू इसे अपने हृदय में समझ ले और विषयों के पीछे दौड़ने को व्यर्थ समझकर उनसे हृदय से हार मान ले तो पल भर में तेरा कल्याण हो जाएगा। तू हितकारी राम के नाम का प्रेमपूर्वक सुमिरन कर। बस तुलसीदास के इस विचार को तू मान ले।

मानव जीवन की निरर्थकता

प्रभु से प्रेम करने और उनके भजन द्वारा संसार-सागर को पार करने का यह मानव जीवन एकमात्र अवसर है। ऐसे दुर्लभ जीवन को पाकर भी यदि हम प्रभु का प्रेमपूर्वक भजन नहीं करते तो भला इसके समान और कोई हानि क्या हो सकती है? उस शरीर का भला लाभ ही क्या है जिसके द्वारा प्रभुप्रेम का प्रण निभाया न जा सके? प्रभुप्रेम के बिना धर्म अधर्म है और ज्ञान अज्ञानरूप है। प्रभुप्रेम से ख़ाली धर्म-कर्म और सुख-संपत्ति का जल जाना ही ठीक है। तुलसीदास जी के अनुसार वह धन-धाम, कुल-परिवार, भाई-बंधु भी जल जाने योग्य ही हैं जो प्रभु के चरणों के सम्मुख होने में सहायक न हों। वह कहते हैं:

हानि कि जग एहि सम किछु भाई। भजिअ न रामहि नर तनु पाई॥

मानस, 7.111(ख).5

सो तनु राखि करब मैं काहा[1]। जेहिं न प्रेम पनु[2] मोर निबाहा॥

मानस, 2.154.3

सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ[3]॥
जोगु[4] कुजोगु[5] ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू॥

मानस, 2.290.1

जरउ सो संपति सदन[6] सुखु सुहृद[7] मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस[8] सहाइ॥

मानस, 2.185

मनुष्य जीवन पाकर भी जो साधु-संतों के समाज में शामिल नहीं हुआ और प्रभुभक्तों में जिसकी गिनती नहीं हुई, वह केवल पृथ्वी का भार बनकर जीता है। तुलसीदास जी कहते हैं कि ऐसा मनुष्य अपनी माता के युवावस्था-रूपी वृक्ष को काटनेवाला मानों कुल्हाड़ा है अर्थात् उसकी माता ने उसे जन्म देकर नाहक़ ही अपना शरीर बरबाद किया:

साधु समाज न जाकर लेखा। राम भगत महुँ जासु न रेखा॥
जायँ जिअत जग सो महि भारू[9]। जननी जौबन बिटप[10] कुठारू[11]॥

मानस, 2.189.4

इसी लिए तुलसी के राम स्वयं अपने मुख से कहते हैं कि जो मनुष्य माता-पिता, स्त्री-पुत्र, मित्र-बंधु, धन-धाम और अपने शरीर – इन सबके ममतारूपी धागों को बटोरकर और उन सबकी एक मज़बूत डोरी बटकर

1. क्या 2. प्रण 3. प्रेम। 4. धार्मिक साधन।
5. अधार्मिक साधन जैसा है 6. घर 7. मित्र 8. हज़ारों
9. महि भारू=पृथ्वी का भार 10. वृक्ष। 11. कुल्हाड़ा

उससे अपने मन को मेरे (राम के) चरणों में बाँध देता है, वह भक्त मेरे हृदय में उसी तरह बसता है, जैसे लोभी के हृदय में धन बसता है:

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

मानस, 5.47.2-4

तुलसीदास जी ने अपने अनेक पात्रों के माध्यम से राम के प्रेम से रहित या राम से विमुख जीवन को धिक्कारा है। उदाहरण के लिए राम के वियोग में दु:खी सुमन्त्र की अवस्था बताते हुए तुलसीदास जी कहते हैं:

सोच सुमंत्र बिकल[1] दुख दीना। धिग जीवन रघुबीर बिहीना॥

मानस, 2.143.2

अपने मरे हुए पति रावण के शरीर की दुर्दशा देखकर मन्दोदरी भी इसे राम से विमुख होने का ही फल बताती है:

जगत बिदित तुम्हारि प्रभुताई। सुत परिजन[2] बल बरनि न जाई॥
राम बिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनिहारा॥
अब तव सिर भुज जंबुक[3] खाहीं। राम बिमुख यह अनुचित नाहीं॥

मानस, 6.103.5-6

कबीर साहिब ने भी रावण की दुर्दशा के बारे में कहा है:

इक लख पूत सवालख नाती, जा रावन घर दिया न बाती॥
लंका सा कोट समुद्र सी खाई, जा रावन की खबर न पाई॥

कबीर साहिब की शब्दावली, भाग1, पृ.45

1. बेचैन 2. परिवार 3. गीदड़

तुलसीदास जी हमें अनेक तरह से यह समझाते हैं कि मनुष्य शरीर प्राप्त करने का एकमात्र लाभ प्रभु से प्रेम करना ही है। खाना-पीना, सोना, डरना, कामभोग करना – ये सब तो पशु भी कर लेते हैं। फिर इस देवदुर्लभ मानव शरीर को इन्हीं विषय-वासनाओं में लगाना, प्रभु का भजन और परोपकार न करना और गर्व-गुमान में भूले फिरना मानव जीवन को सचमुच ही बरबाद करना है। ऐसे मनुष्य 'मेरे-तेरे' के भेदभाव में ही सारा जीवन नष्ट कर देते हैं। फिर अवसर चूक जाने पर पछताने से भला क्या मिल सकता है? इसलिए तुलसीदास जी कहते हैं:

लाभ कहा मानुष-तनु पाये।
काय-बचन-मन सपनेहुँ कबहुँक[1] घटत न काज पराये[2]॥
जो सुख सुरपुर-नरक, गेह बन[3] आवत बिनहिं बुलाये।
तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन, समुझत नहिं समुझाये॥
पर-दारा, पर-द्रोह, मोहबस किये मूढ़ मन भाये।
गरभबास दुखरासि[4] जातना[5] तीव्र बिपति बिसराये॥
भय-निद्रा, मैथुन-अहार, सबके समान जग जाये[6]।
सुर-दुरलभ जनु धरि न भजे हरि मद अभिमान गवाँये॥
गई न निज-पर-बुद्धि, सुद्ध ह्वै रहे न राम-लय लाये।
तुलसिदास यह अवसर बीते का पुनि के पछिताये॥

विनय-पत्रिका 201

बहुत-से मनुष्य अपना सारा जीवन – स्त्री-पुत्र, कुल-परिवार और धन-धाम की आसक्ति में ही बिता देते हैं और कुत्ते के सामान विषयों के पीछे दौड़ते रहते हैं। इसलिए तुलसीदास जी इन सबकी ममता को त्यागकर शांत भाव से किसी संत के सत्संग में जाने और उनसे उपदेश लेकर प्रभु के भजन में लगने की सलाह देते हैं:

1. कभी 2. **काज पराये**=दूसरों के काम आना 3. **गेह बन**=घर या बन में
4. दु:खों के समूह 5. कष्ट 6. **जग जाये**=संसार में उत्पन्न होनेवाले

सुत, दार[1], अगारु[2], सखा, परिवारु बिलोकु महा कुसमाजहि रे॥
सबकी ममता तजि कै, समता सजि, संतसभाँ न बिराजहि रे॥
नरदेह कहा, करि देखु बिचारु, बिगारु गँवार न काजहि रे॥
जनि डोलहि लोलुप[3] कूकरु ज्यों, तुलसी भजु कोसलराजहि रे॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 30

जो अभागे जीव आवागमन के चक्कर को नष्ट करनेवाले प्रभु के चरणों से विमुख रहते हैं और सत्संग और भजन न कर, पाप कर्मों में लगे रहते हैं तथा कुल-परिवार और धन-धाम की ममता में जकड़े रहते हैं, वे इस संसार में मानों नरक का जीवन जी रहे हैं। नामरूपी अमृत को छोड़कर वे हठपूर्वक विषयरूपी विष को ही पीने में लगे हुए हैं। तुलसीदास जी कहते हैं:

ते नर नरकरूप जीवत जग भव-भंजन[4]-पद-बिमुख अभागी।
निसिबासर रुचिपाप असुचिमन[5], खलमति-मलिन[6], निगमपथ-त्यागी[7]॥
नहिं सतसंग, भजन नहिं हरिको, स्रवन न राम-कथा-अनुरागी।
सुत-बित-दार-भवन-ममता-निसि सोवत अति, न कबहुँ मति जागी॥
तुलसिदास हरिनाम-सुधा[8] तजि, सठ हठि पियत विषय-बिष माँगी।

विनय-पत्रिका 140

निर्मल जीवन : परमार्थ का आवश्यक अंग

मानव जीवन का उद्देश्य परमात्मा की प्राप्ति है। पर उस परम पवित्र परमात्मा की प्राप्ति के लिए हमें पहले अपने हृदय के विकारों को दूर करना और मन को निर्मल बनाना अत्यंत आवश्यक है। जब तक हमारा हृदय मल से भरा हुआ है, तब तक उसमें परमात्मा को भला हम कैसे

1. स्त्री 2. घर 3. लोभी 4. संसार चक्र को नष्ट करनेवाले प्रभु
5. अपवित्र मन 6. दुष्ट जैसी मलिन बुद्धि 7. वेदों के मार्ग का त्याग करनेवाला
8. प्रभु का नामरूपी अमृत

बिठा सकते हैं? जिस हृदयरूपी सरोवर में काम, क्रोध, हिंसा आदि कौए, चील, बगुले और सूअर रहते हैं, उसमें परमात्मारूपी हंस भला कैसे आ सकता है? तुलसीदास जी कहते हैं:

हरि निरमल, मलग्रसित हृदय, असमंजस मोहि जनावत।
जेहि सर[1] काक[2] कंक बक[3] सूकर[4], क्यों मराल[5] तहँ आवत॥

विनय-पत्रिका 185

जो भक्त निर्मल मन का होता है तथा जो निश्छल और निष्कपट भाव से प्रभु की भक्ति करता है, वही प्रभु को प्राप्त करता है। तुलसीदास जी ने स्वयं राम के मुख से यह कहलाया है:

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

मानस, 5.43.3

जो भक्त निर्मल मन का होता है, वही मुझे अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करता है। मुझे कपट और छलछिद्र नहीं सुहाते।

इस प्रकार परमार्थ की साधना के लिए अपने को निर्मल बनाना अत्यंत आवश्यक है। इसी बात को ध्यान में रखकर तुलसीदास जी हमें अपने को निर्मल बनानेवाले तथा दूषित करनेवाले आचरण की ओर संकेत करते हैं। वह कहते हैं कि मनुष्य जीवन में दूसरों की भलाई करने के समान कोई धर्म नहीं है और दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के समान कोई घृणित पाप या नीच कर्म नहीं है। जो लोग मनुष्य शरीर पाकर दूसरों की हिंसा करते या उन्हें किसी भी तरह पीड़ा पहुँचाते हैं, वे संसार के जन्म-मरण के चक्कर में पड़कर घोर कष्ट भोगते हैं। पर मोहवश बहुत-से लोग अनेक प्रकार से जीव-हिंसा करने और मांस-मछली आदि खाने का पाप करते हैं और इस प्रकार स्वार्थवश अपना परलोक बिगाड़ लेते हैं। ऐसे जीव सदा काल का शिकार बने रहते हैं और वे कभी भी परमार्थी साधना नहीं कर सकते।

---

1. सरोवर 2. काग 3. बगुला 4. सूअर 5. हंस

परमार्थी साधक के लिए नशीले पदार्थों के सेवन का भी सख़्त निषेध किया गया है। यदि गंगा जैसी पवित्र मानी जानेवाली नदी के जल से भी शराब तैयार की जाए, तब भी परमार्थी साधक उसे नहीं पी सकते। मांस, मछली, शराब आदि से परहेज़ न करनेवाले मनुष्य जन्म-जन्म अपने भले-बुरे कर्मों का भोग भोगते रहते हैं। इस युग की दशा पर तरस खाते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि इन दिनों जो बेढंगी वेशभूषा बनाकर भक्ष्य-अभक्ष्य (मांस, मछली, शराब आदि) सब कुछ खाते-पीते हैं, वे ही इस कलियुग में योगी, सिद्ध और पूजनीय माने जाते हैं। भाव यह है कि इन अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करनेवाले कभी भी परमार्थ के अभ्यास में सफल नहीं हो सकते। इन बातों की ओर संकेत करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं:

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा॥
करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना॥
कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता॥

मानस, 7.40.1-3

सुरसरि जल कृत बारुनि जाना। कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना॥

मानस, 1.69.1

असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

मानस, 7.98(क)

मांस-मछली, शराब आदि विषयों के सेवन में लगे दुष्ट जीव मानों हठपूर्वक विष के सेवन में लगे रहकर नामरूपी अमृत को त्याग देते हैं। उनका जीवन गंदगी का सेवन करनेवाले सूअर, कुत्ते और सियार के समान निष्फल है। वे अपनी माता को केवल प्रसव की पीड़ा देने के लिए ही जन्म लेते हैं:

तुलसिदास हरिनाम-सुधा तजि, सठ हठि पियत बिषय-बिष माँगी।
सूकर-स्वान-सृगाल सरिस जन, जनमत जगत जननि-दुख लागी॥

विनय-पत्रिका 140

परमार्थ के अभ्यास के लिए शुद्ध खान-पान के साथ ही शुद्ध नैतिक जीवन या पवित्र आचरण भी अत्यंत आवश्यक है। इस संबंध में तुलसीदास जी कहते हैं कि काम, क्रोध और लोभ – ये तीन अत्यंत प्रबल दुष्ट हैं जो ज्ञान के भंडार मुनिजनों के मन को भी पल भर में डिगा देते हैं। काम को कामिनी का बल है, क्रोध को कठोर वचन का बल है और लोभ को इच्छा और दंभ का बल है। काम इनमें सबसे अधिक ख़तरनाक है। इसी लिए तुलसीदास जी परस्त्री या परपुरुष के सहवास से बचे रहने पर बहुत अधिक ज़ोर देते हैं। वह कहते हैं कि जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है या यों कहें कि जो सुयश, सुबुद्धि और सुख का अभिलाषी है, उसे परस्त्री के चेहरे को देखकर कभी भी मन में काम का भाव नहीं लाना चाहिए। जैसे चौथ के चाँद को देखना कलंक का कारण माना जाता है, वैसे ही परस्त्री के मुख को काम भाव से देखना अपयश और दुर्गति का कारण है। कामरूपी दीपक की लौ साधक के मनरूपी पतंगे को तुरंत जलाकर भस्म कर डालती है। इसलिए हमें अहंकार को त्यागकर काम से बचना चाहिए और सदा सत्संग का सेवन करते हुए नाम के भजन में लगे रहना चाहिए:

तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥

मानस, 3.38(क)

लोभ कें इच्छा दंभ बल काम कें केवल नारि।
क्रोध कें परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि॥

मानस, 3.38(ख)

काम, क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि॥

दोहावली 266

जो आपन चाहै कल्याना। सुजसु सुमति सुभ गति सुख नाना॥
सो परनारि लिलार गोसाईं तजउ चउथि के चंद कि नाईं॥

मानस, 5.37.3

दीप सिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सतसंग॥

मानस, 3.46(ख)

मांस, मछली, शराब आदि अभक्ष्य पदार्थों से परहेज़ और पवित्र नैतिक आचरण को अन्य संतों ने भी परमार्थी साधना के लिए अत्यंत आवश्यक माना है। उदाहरण के लिए जीव-हिंसा करनेवालों और मांस खानेवालों के प्रति कबीर साहिब कहते हैं:

हिन्दू की दया, मेहर तुर्कन की, दूनो घट से त्यागी।
ये हलाल वै झटका मारैं, आगि दूनों घर लागी॥

कबीर साहिब का बीजक, पृ. 34

दरिया साहिब के अनुसार काल ही मांस-मछली खाने की ओर हमें प्रेरित करता है और इस प्रकार आसानी से हमें अपने चंगुल में फँसा लेता है:

काले या जग पालिया, पलक करे नहिं भोर।
मीन मांस पोषन दिया, धैंचि आपनी ओर॥

ग्रन्थ विवेक सागर, साखी 18, पृ. 11

वह फिर कहते हैं:

खून खराब एहि मंह भूला। दोजक द्वार जीव सो भूला॥

दरिया-ग्रन्थावली, भाग 2, पृ. 368

दादू साहिब की भी स्पष्ट उक्ति है:

(दादू) कोई काहू जीव की, करै आतमा घात।
साच कहूँ संसा नहीं, सो प्राणी दोजगि जात॥

दादू दयाल की बानी, भाग1, साच 4

रविदास जी भी कहते हैं:

अपनह गीव कटाइहिं, जौ मांस पराया खांय।
'रविदास' मांस जौ खात हैं, ते नर नरकहिं जांय॥

रविदास दर्शन, पद 189

इसी प्रकार अन्य संतों ने शराब आदि नशीले पदार्थों से परहेज़ करने पर भी ज़ोर दिया है। वे हमें संसार के क्षणिक नशे का परित्याग कर, नाम के रस में सदा मस्त रहने की शिक्षा देते हैं। उदाहरण के लिए कबीर साहिब बड़े स्पष्ट शब्दों में कहते हैं:

भाँग तमाखू छूतरा, अफयूँ[1] और सराब।
कह कबीर इन को तजै, तब पावै दीदार॥...
कबीर मतवाला नाम का, मद मतवाला नाहिं।
नाम पियाला जो पियै, सो मतवाला आहिं॥

कबीर साखी-संग्रह, पृ.163

इसी भाव को व्यक्त करते हुए गुरु रविदास भी कहते हैं:

'रविदास' मदुरा[2] का पीजियै, जौ चढ़ै चढ़ै उतराय।
नांव महारस पीजियै, जौ चढ़ै नाहिं उतराय॥

रविदास दर्शन, पद35

1. अफ़ीम 2. शराब

यह बताते हुए कि परमार्थी साधक को किन पदार्थों से परहेज़ करना चाहिए और किन चीज़ों को ग्रहण करना चाहिए, दरिया साहिब भी कहते हैं:

मीन मांस मदिरा कर संगा। अहे अपावन पाप उतंगा[1]॥
फल औ फूल अंकुर जत अहई। यह सुख संत सदा गुण कहई॥

ग्रन्थ विवेक सागर, पृ. 8

मति करु खून पिबै जनि दारू। गर्ब गरूरि[2] दूरि करि डारू॥...
पियहु नाम मद असल करारा। रहहु मस्त कल्पन्हि मतवारा॥

दरिया ग्रन्थावली, भाग2, पृ.251-252

इसी तरह पवित्र आचरण रखने और काम से बचे रहने पर ज़ोर देते हुए कबीर साहिब कहते हैं:

भक्ति बिगारी कामियाँ, इन्द्री केरे स्वाद।
हीरा खोया हाथ से, जन्म गँवाया बाद॥

कबीर साखी-संग्रह, पृ.130

वह स्पष्ट कहते हैं:

जहाँ काम तहँ नाम नहिं, जहाँ नाम नहिं काम।
दोनों कबहूँ ना मिलैं, रबि रजनी इक ठाम॥

कबीर साखी-संग्रह, पृ.130

पर नारी पैनी छुरी, मत कोइ लावो अंग।
रावन के दस सिर गये, पर नारी के संग॥

कबीर साखी-संग्रह, पृ.156

1. ऊँचा 2. अहंकार

इसी तरह रविदास जी भी कहते हैं:

पाप गुलीचा धरम निबोली, देखि देखि फल चीख रे।
पर तिरिया संग भलो जौं होवै, तौ राजा रावन देख रे॥

रैदास जी की बानी, पृ. 22, शब्द 47

दरिया साहिब कहते हैं:

कंदर्प कसि कसि सभ मिलि थाके ऐन झरोखे झंका।
बिरला भागि गए सरनागत बांचे राव न रंका॥

दरिया-ग्रन्थावली, भाग1, पृ.131

स्वामी जी महाराज का भी वचन है:

काम दुष्ट और मन अपराधी। और लगावें कीचड़ सान॥

सारबचन संग्रह, 27:6:5

वह हमें चिताते हुए कहते हैं:

माया नारि पड़ी तेरे पीछे। क्यों नहिं छोड़त काम।
बिन गुरु दया छुटो नहिं या से। भजो गुरू का नाम॥

सारबचन संग्रह, 15:9:7-8

सतगुरु

गुर बिनु भव निधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥

मानस, 7.92(ख).3

गुरु के बिना कोई संसार को पार नहीं कर सकता, चाहे वह ब्रह्मा और शिव के समान भी क्यों न हो।

सतगुरु और परमात्मा की एकरूपता

यह कहा जा चुका है कि परमात्मा की प्राप्ति के लिए परमात्मा की भक्ति करना आवश्यक है। पर प्रश्न यह उठता है कि जिस परमात्मा को हमने देखा नहीं और जिसका हमें कोई ज्ञान नहीं, उसकी भक्ति कैसे की जाए? तुलसीदास जी अपनी सहज दीनता के साथ अपने को मलीन बुद्धिवाला कहते हुए हमें यह उपदेश देते हैं कि मनुष्यरूप संत-सतगुरु और अनंतरूप परमात्मा के बीच कभी भी कोई भेद नहीं होता। इसलिए हमें संत-सतगुरु को सदा परमात्मा का ही रूप समझना चाहिए। परमात्मा ही जीवों के उद्धार के लिए संत-सतगुरु के रूप में प्रकट होते हैं। इस तरह सतगुरु ही परमात्मा के प्रकट रूप हैं और उन्हीं की भक्ति के द्वारा परमात्मा की सच्ची भक्ति की जा सकती है तथा परमात्मा का वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

सतगुरु सच्चे परोपकारी होते हैं। वह मन, वचन और कर्म से कभी किसी का दिल नहीं दुखाते। संसार के अज्ञानी जीव कनक-कामिनी के मोह में उलझे रहते हैं, पर संतजन सोने को मिट्टी और कामिनी को काठ या पत्थर जैसा समझते हैं। मन और इंद्रियाँ सदा उनके वश में रहती हैं। वह भजन पर अधिक ज़ोर देते हैं तथा अपनी मधुर और शीतल वाणी द्वारा जीवों को उपदेश देकर जगाते हैं। जीवों को चिताने के लिए ही वह संसार में आते हैं। भक्तजनों को परमात्मा की कथा का ही आधार होता है। इसलिए परमात्मा की कथा सुनानेवाले संत और परमात्मा उन्हें एक समान प्रिय लगते हैं। गुरु रामदास जी भी इसी भाव को प्रकट करते हैं:

हर कीआ कथा कहाणीआ गुर मीत सुणाईआ॥
बलिहारी गुर आपणे गुर कउ बल जाईआ॥

आदि ग्रन्थ, पृ.725

अर्थात् परमात्मा की महिमा तथा उसकी प्राप्ति के मार्ग का वर्णन मेरे सच्चे मित्र गुरु ने सुनाया। मैं (इस कृपा के लिए) अपने गुरु पर न्योछावर होता हूँ, उन पर बलिहारी जाता हूँ।

तुलसीदास जी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि परमात्मारूप गुरु के समान कोई भी दूसरा नहीं है। गुरु की कृपा से ही भक्ति में पवित्रता और ज्ञान में निर्मलता आती है। *रामचरितमानस* के प्रारंभ में तुलसीदास जी अपने गुरु को कृपा का समुद्र और मनुष्यरूप में परमात्मा (*कृपा सिंधु नररूप हरि*) कहकर उनके चरण-कमलों की वंदना करते हैं:

बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज[1] जासु बचन रबि कर[2] निकर[3]॥

मानस, 1 आदि सोरठा 5

1. **महामोह...पुंज**=महामोह के घने अंधकार के लिए
2. **रबि कर**=सूर्य की किरणें 3. समूह

संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं[1],
किमपि[2] मति मलिन[3] कह दास तुलसी॥

विनय-पत्रिका 57

जानेसु संत अनंत[4] समाना॥

मानस 7.108 (घ).6

तन करि मन करि बचन करि, काहू दूखत नाहिं।
तुलसी ऐसे संतजन, रामरूप जग माहिं॥

वैराग्य-संदीपनी 23

कंचन को मृतिका[5] करि मानत। कामिनि काष्ठ[6] सिला[7] पहिचानत॥
तुलसी भूलि गयो रस एहा[8]। ते जन प्रगट राम की देहा॥

वैराग्य-संदीपनी 28

अति सीतल अति ही सुखदाई। सम[9] दम[10] राम भजन अधिकाई॥
जड़ जीवन कौं करें सचेता। जग महँ बिचरत हैं एहि हेता[11]॥

वैराग्य-संदीपनी 9

तुलसी कहत बिचार गुरु राम सरिस नहिं आन[12]।
जासु कृपा शुचि होत रुचि[13], विशद विवेक[14] प्रमान॥

तुलसी सतसई, 1:13

1. **अंतर...नहीं**=कभी अंतर नहीं होता 2. तनिक भी
3. **मति मलिन**=मलीन बुद्धिवाला 4. परमात्मा 5. मिट्टी 6. काठ
7. पत्थर 8. **रस एहा**=विषयों के रस 9. मन को वश में करना
10. इंद्रियों को वश में करना 11. **एहि हेता**=इसी कारण 12. दूसर
13. **शुचि...रुचि**=भक्ति की पवित्रता
14. **विशद विवेक**=ज्ञान का निर्मल होना

ऐसे परोपकारी और परमार्थी संत-सतगुरु बिरले ही होते हैं। इसलिए हमें दयालु संत-सतगुरु को खोजकर और उन्हें परमात्मा का प्रकट रूप मानकर उनसे दृढ़ प्रीति करनी चाहिए और उनसे विनती करनी चाहिए कि वह हमें परमात्मारूपी धन (रामधन) को प्राप्त करने की रीति बताएँ:

तुलसी ऐसे कहुँ कहूँ, धन्य धरनि[1] वह संत।
परकाजे परमारथी, प्रीति लिये निबहंत॥

वैराग्य-संदीपनी 10

ताते संत दयालवर देहि रामधन रीति।
तुलसी यह जिय जानि कै करिय हठि अति प्रीति॥

तुलसी सतसई, 2.68

संत और परमात्मा की एकरूपता को और अधिक स्पष्ट करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि परमात्मा को वही जानता है जिसे वह स्वयं कृपाकर जनाता है और जो उसे जान लेता है, वह परमात्मा का ही रूप बन जाता है। परमात्मा को केवल संत ही जानते हैं। इसलिए परमात्मा की जानकारी के लिए केवल संतों के ही वचन को प्रमाण मानना चाहिए। संतों को केवल अपने स्वामी परमात्मा का ही ध्यान होता है और परमात्मा का ध्यान संतों में लगा रहता है। इस प्रकार संत और परमात्मा परस्पर एक हैं। परमात्मा से वह तनिक भी भिन्न नहीं हैं। केवल ऐसे संत-सतगुरु ही जीव को परमात्मा की जानकारी दे सकते हैं और केवल उन्हीं की कृपादृष्टि से जीवों का कठिन से कठिन कर्मों का क्लेश दूर हो सकता है:

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर[2] चंदन[3]॥

मानस, 2.126.2

1. धरती 2. **भगत उर**=भक्तों के हृदय 3. शीतल करनेवाले

रामहि[1] जाने संतवर[2] संतहि राम प्रमान[3]।
संतन केवल राम प्रभु रामहि संत न आन॥

तुलसी सतसई, 2.67

तुलसी राम सुजान[4] को राम जनावै सोई[5]।
रामहिं जानै रामजन[6] आन कबहुँ नहिं होई[7]॥

तुलसी सतसई, 2.71

जो गुरु राम सुजान[8] सम नहीं विषमता लेश[9]।
ताकी कृपा-कटाक्ष[10] ते रहे न कठिन कलेश॥

तुलसी सतसई, 2.72

तुलसीदास जी के ही समान अन्य संतों ने भी गुरु और परमात्मा को एकरूप माना है। उदाहरण के लिए कबीर साहिब कहते हैं:

राम कबीरा एक है, कहन सुनन को दोय।
दो करि सोई जानई, सतगुरु मिला न होय॥

कबीर समग्र, भाग1, पृ.470

गुरु रामदास जी का वचन है:

गुर गोविंद गोविंद गुरू है नानक भेद न भाई॥

आदि ग्रन्थ, पृ.442

1. राम को 2. श्रेष्ठ संत 3. **संतहि...प्रमान**=संतजन ही प्रमाण हैं।
4. **राम सुजान**=चैतन्य स्वरूप राम 5. **राम...सोई**=वही जानता है जिसे राम जनाते हैं।
6. राम के सेवक 7. **आन...होई**=कोई दूसरा नहीं हो सकता
8. **गुरु...सुजान**=गुरु चैतन्य-स्वरूप राम 9. **नहीं...लेश**=तनिक भी अंतर नहीं
10. कृपादृष्टि

इसी भाव को दादू दयाल जी इस प्रकार व्यक्त करते हैं:

जहाँ राम तहँ संत जन, जहँ साधू तहँ राम।
दादू दून्यूँ एकठे, अरस परस बिसराम॥

दादू दयाल की बानी, भाग1, परचा 181

साधु-संतों की महिमा का वर्णन ब्रह्मा, विष्णु, शिव, नारद, शारदा और हज़ार मुख वाले शेषनाग भी नहीं कर सकते। अपनी संत-सुलभ विनम्रता के साथ तुलसीदास जी कहते हैं कि संतों की महिमा का कथन करने में वह उसी प्रकार असमर्थ हैं, जिस प्रकार कोई साग-सब्ज़ी बेचनेवाला मणियों का मूल्य लगाने में असमर्थ होता है। यदि समूची धरती काग़ज़ बन जाए, समुद्र स्याही बन जाए, पेड़ों को कलम बना लिया जाए और स्वयं गणेश जी संत-सतगुरु की महिमा को लिखें, तब भी अनंत परमात्मारूप संत-सतगुरु की महिमा लिखी नहीं जा सकती:

बिधि हरि हर[1] कबि कोबिद[2] बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥
सो मो सन कहि जात न कैसें। साक बनिक[3] मनि गुन गन जैसें॥

मानस, 1.2.6

मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद[4] श्रुति[5] तेते॥
कहि सक न सारद सेष नारद सुनत पद पंकज गहे।
अस दीनबंधु कृपाल अपने भगत गुन निज मुख कहे॥

मानस, 3.45.4, छन्द

को बरनै मुख एक, तुलसी महिमा संत की।
जिन्ह के बिमल बिबेक, सेस[6] महेस[7] न कहि सकत॥

वैराग्य-संदीपनी 34

1. **बिधि...हर**=ब्रह्मा, विष्णु और शिव 2. विद्वान 3. **साक बनिक**=साग-सब्ज़ी बेचनेवाला 4. सरस्वती 5. वेद 6. शेषनाग 7. शिव

महि[1] पत्री[2] करि सिंधु मसि[3], तरु[4] लेखनी[5] बनाइ।
तुलसी गनपत सों तदपि, महिमा लिखी न जाइ॥

वैराग्य-संदीपनी 35

परमात्मा की प्राप्ति के लिए सतगुरु की आवश्यकता

भक्ति ही परमात्मा को प्रसन्न करने और उसे प्राप्त करने का सुगम साधन है। पर सतगुरु की संगति प्राप्त किए बिना भक्ति हो ही नहीं सकती। इसलिए परमात्मा जब हम पर कृपा करता है, तब वह संत-सतगुरु से हमारा मिलाप करा देता है। जब संत-सतगुरु के चरण-कमलों में हमारा गहरा प्रेम लग जाता है और हम उनके सत्संग को सुनकर उनके बताए उपदेश के अनुसार नियमपूर्वक दृढ़ता के साथ मन, कर्म और वचन से भजन के अभ्यास में लग जाते हैं, तब हमारी भक्ति दृढ़ हो जाती है और परमात्मा हमारे अंतर में प्रकट हो जाता है। इस प्रकार प्रभु की कृपा द्वारा संत से मिलाप होता है और संत की कृपा से प्रभु की प्राप्ति होती है। इसी लिए संतों की संगति यानी सत्संग को मोक्ष यानी प्रभुप्राप्ति का मार्ग कहा जाता है। तुलसीदास जी ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिन जीवों का संत-सतगुरु के वचन में विश्वास नहीं है और जो उनके उपदेश पर नहीं चलते, वे सपने में भी कभी सुख-शांति प्राप्त नहीं कर सकते:

रघुपति-भगति सुलभ, सुखकारी। सो त्रयताप[6]-सोक-भय-हारी॥
बिनु सतसंग भगति नहिं होई। ते तब मिलैं द्रवै जब सोई॥
जब द्रवै दीनदयालु राघव, साधु-संगति पाइये।
जेहि दरस-परस-समागमादिक[7] पापरासि नसाइये॥

विनय-पत्रिका 136.10

1. धरती 2. काग़ज़ 3. स्याही 4. वृक्ष 5. कलम
6. दैहिक, दैविक और भौतिक दु:ख 7.अर्थात् सत्संग से

संसय-समन, दमन दुख, सुखनिधान हरि एक।
साधु-कृपा बिनु मिलहिं न, करिय उपाय अनेक॥

विनय-पत्रिका 203.19

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

मानस, 7.61

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला[1]॥

मानस, 3.15.2

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति[2] कर अंता॥

मानस, 7.44.3

बड़े भाग पाइब सतसंगा। बिनहिं प्रयास[3] होहिं भव भंगा॥

मानस, 7.32.4

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं नि:काम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

मानस, 3.15.5, 3.16

गुर कें बचन प्रतीति न जेही। सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही॥

मानस, 1.79.4

नाम-भक्ति की साधना में सतगुरु के चरण-कमलों में प्रेम बढ़ाने का विशेष महत्त्व है। जब हम अपने अभिमान या आपाभाव को मिटाकर सतगुरु के आंतरिक चरणों में अपने आप को समर्पित कर देते हैं, तब हमें अपने अंदर सतगुरु की चरण-धूलि प्राप्त होती है जिसे तुलसीदास

1. प्रसन्न 2. जन्म-मरण का चक्र 3. मेहनत

जी ने सकल सुमंगल मूल कहा है। गुरु के चरण-कमलों की धूलि का ही यह प्रभाव है कि हमें सच्ची नाम-भक्ति (प्रभुभक्ति) प्राप्त होती है जो कल्पवृक्ष या कामधेनु की तरह सभी अभिलाषाओं को पूर्ण करनेवाली है। तुलसीदास जी सतगुरु की इस चरण-कमल की धूलि की वंदना करते हुए कहते हैं कि यह धूलि सुंदर, सुगंधित प्रेमरस से पूर्ण है। यह मरे हुओं को जीवित करनेवाली संजीवनी बूटी के समान है जो संसार के काम, क्रोध आदि सभी रोगों के समूह को नष्ट कर देती है। यह भक्त के मनरूपी सुंदर आईने के मैल को दूर करनेवाली है और इसे सिर पर चढ़ानेवाला मनुष्य सभी ऐश्वर्य को वश में कर लेता है अर्थात् ऐश्वर्य की कामना यानी मोह को जीत लेता है। इसी लिए तुलसीदास जी संतों के चरण को *भवसागर कहँ नाव* कहते हैं जिसके सहारे जीव सहज ही संसार-सागर को पार करके परमात्मा को प्राप्त कर लेता है और सदा के लिए सांसारिक दु:खों से छुटकारा पा जाता है:

श्रीहरि-गुरु-पद-कमल भजहु मन तजि अभिमान।
जेहि सेवत पाइय हरि सुख-निधान भगवान॥
भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन के चरन।
तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुखहरन॥

विनय-पत्रिका 203.1, 20

सेवत साधु द्वैत-भय भागै। श्रीरघुबीर-चरन लय लागै[1]॥

विनय-पत्रिका 136.11

राम नाम कलि कामतरु[2], राम भगति सुरधेनु[3]।
सकल सुमंगल मूल जग, गुरुपद पंकज[4] रेनु[5]॥

दोहावली 27

1. **लय लागै**=प्रेम में मग्न होना 2. मनचाहा फल देनेवाला कल्पवृक्ष
3. कामधेनु 4. **गुरुपद पंकज**=गुरु के चरण-कमल 5. धूलि

बंदउँ गुरु पद पदुम परागा[1]। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥
अमिअ मूरिमय[2] चूरन चारू[3]। समन[4] सकल भव रुज[5] परिवारू॥
जन मन मंजु मुकुर[6] मल हरनी। किएँ तिलक गुन गन बस करनी॥

मानस, 1.0.1-2

जे गुर चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव[7] बस करहीं॥

मानस, 2.2.3

सतगुरु के बताए सुमिरन के अभ्यास से हमारे अंदर सतगुरु का स्वरूप प्रकट हो जाता है। उस स्वरूप के प्रकाश से हमारे हृदय का अज्ञानरूपी अंधकार दूर हो जाता है और ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है। गुरु के चरण के एक नख में अनेक मणियों के समूह का प्रकाश होता है और यह बड़े भाग्य से हमारे अंतर में प्रकट होता है। इसके प्रकट होने से हमारी आंतरिक आँख (दिव्य दृष्टि) खुल जाती है और हम अपने अंदर दिव्य वन, पर्वत आदि का अद्‌भुत दृश्य देखते हैं। सतगुरु के स्वरूप का यह प्रकाश कभी नष्ट नहीं होता। इसी लिए सतगुरु के चरणों से प्रेम करनेवाले मनुष्य का ज्ञान कभी नहीं मिटता। जब तक हमारे हृदय में यह प्रकाश प्रकट नहीं होता और हमारा मन विषयों की ही आस में लगा रहता है, तब तक जन्म-मरण के चक्कर से हमारा छुटकारा नहीं हो सकता और हम कभी सपने में भी सुख प्राप्त नहीं कर सकते:

श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती॥
दलन मोह तम[8] सो सप्रकासू। बड़े भाग उर[9] आवइ जासू॥
उघरहिं बिमल बिलोचन ही[10] के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी[11] के॥

1. **पद...परागा**=चरण-कमलों के पराग 2. **अमिअ मूरिमय**=संजीवनी जड़ी
3. सुंदर चूर्ण 4. मिटाना 5. **भव रुज**=सांसारिक रोग
6. आईना 7. वैभव 8. **दलन...तम**=अज्ञानरूपी अंधकार को मिटानेवाला
9. हृदय 10. हृदय 11. **भव रजनी**=संसाररूपी रात्रि

सूझहिं राम चरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक[1]॥
जथा सुअंजन अंजि दृग[2] साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैल[3] बन भूतल भूरि निधान[4]॥
गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिअ दृग दोष बिभंजन[5]॥

मानस, 1.0.3-4, दोहा 1.1

यहाँ तुलसीदास जी का भाव यह है कि गुरु के आंतरिक चरणों की धूलि आंतरिक आँख के लिए अमृत के समान अंजन है जो उन दोषों का विनाश कर देती है जिनके कारण हमारी आंतरिक आँख देख नहीं पाती और अंतर में अंधकार छाया रहता है।

गुरु के दिव्य स्वरूप का प्रकाश न कभी अस्त होता है, न बदलता है। परमात्मारूपी सतगुरु के सिवाय कोई दूसरा सत्य नहीं। वह अजन्मा है। वह सूर्य, चंद्र, दीपक आदि के माध्यम से प्रकाशित नहीं हो रहा है बल्कि स्वयं ही प्रकाशमान है। इसलिए इस प्रकाश का ज्ञान (अनुभव) स्थायी होता है।

सदा प्रकाश स्वरूप वर[6] अस्त न अपर न आन[7]॥
अप्रमेय[8] अद्वैत अज या ते दुरत[9] न ज्ञान॥

तुलसी सतसई, 5.2

जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास, अरु बिषय-आस मन माहीं।
तुलसिदास तब लगि जग-जोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं॥

विनय-पत्रिका 123.5

1. **गुपुत...खानिक**=गुप्त और प्रकट जहाँ जो जिस खान में हैं।
2. आँख 3. पर्वत 4. **भूतल...निधान**=पृथ्वी के अंदर के ख़ज़ाने
5. **दृग...बिभंजन**=आँख के दोषों का नाश करती है।
6. **प्रकाश...वर**=गुरु का दिव्य स्वरूप 7. दूसरा होना 8. अथाह 9. दूर

यद्यपि परमात्मा का निवास हमारे हृदय के अंदर ही है, फिर भी जब तक संत-सतगुरु से हमारा मिलाप नहीं होता और वह हमें परमात्मा से मिलने का तरीक़ा नहीं समझाते, तब तक हम न तो सच्ची भक्ति कर सकते हैं और न जन्म-मरण के दु:खों से छुटकारा पा सकते हैं। इस प्रकार परमात्मा के हमारे हृदय में रहते हुए भी हम दु:खी ही बने रहते हैं। केवल सतगुरु की ही कृपा से हमारे जन्म-मरण के दु:ख दूर होते हैं। इसी लिए तुलसीदास जी परमात्मा के सच्चे सेवक संत-सतगुरु को परमात्मा से भी बढ़कर मानते हैं और कई सुंदर उपमाओं द्वारा सतगुरु को परमात्मा की प्राप्ति के लिए अत्यंत आवश्यक बताते हैं। उदाहरण के लिए परमात्मा की भक्तिरूपी चिंतामणि की प्राप्ति का उपाय बताते हुए वह कहते हैं कि वेद, पुराण आदि सद्ग्रंथ मानों पवित्र पर्वत हैं जिनमें प्रभुभक्ति के उपदेश की सुंदर खानें भरी पड़ी हैं। पर इन पुस्तकों को केवल पढ़कर या इनका पाठ करके हम अपने आप इनके गूढ़ रहस्यों को नहीं समझ सकते और न हम इनका पूरा लाभ उठा सकते हैं। संतजन ही इन पारमार्थिक खानों के रहस्य के जानकार हैं। उनके सत्संग द्वारा उत्पन्न सुबुद्धि ही इन खानों को खोदनेवाली कुदाल है और उनके उपदेश से प्राप्त ज्ञान और वैराग्य (अनासक्ति) ही दो आँखें हैं। इन्हें पाकर जब साधक प्रेम के साथ परमार्थी साधना में लगता है, केवल तभी वह भक्तिरूपी चिंतामणि को प्राप्त करता है जो सभी सुखों का भंडार है:

ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन[1] घन[2] आनँद रासी[3]॥
अस प्रभु हृदयँ अछत[4] अबिकारी[5]। सकल जीव जग दीन दुखारी॥

मानस, 1.22.3-4

पावन पर्बत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर[6] नाना॥
मर्मी सज्जन[7] सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी[8]॥

1. **सत चेतन**=सत्य और चैतन्य 2. अत्यधिक 3. भंडार
4. रहते हुए भी 5. विकार रहित 6. सुंदर खान
7. **मर्मी सज्जन**=संतजन रहस्य के जानकार हैं। 8. सर्पों के शत्रु (गरुड़)

भाव[1] सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥
मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

मानस, 7.119(ख). 7-8

संत और परमात्मा के अनोखे संबंध पर प्रकाश डालते हुए और संत को परमात्मा से भी बढ़कर बताते हुए तुलसीदास जी कुछ और भी उपमाएँ देते हैं। वह कहते हैं कि परमात्मा समुद्र है और संत मेघ हैं अथवा परमात्मा चंदन का वृक्ष है और संत हवा हैं। समुद्र के अगाध जल को न हम पी सकते हैं और न इससे सिंचाई का ही काम ले सकते हैं। पर वही जल जब मेघ का रूप धारण करके वर्षा बनकर बरसता है तो सारी धरती और सभी जीव-जंतु तृप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार चंदन के वृक्ष की सुगंधि को हवा ही चारों ओर फैलाकर आसपास के वृक्षों को चंदन बनाती है। संत-सतगुरुरूपी हवा के बिना परमात्मारूपी चंदन वृक्ष की सुगंधि किसी भी जीवरूपी वृक्ष को प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए सतगुरु को परमात्मा से भी अधिक महत्त्व देकर हमें उनकी सेवा-भक्ति करनी चाहिए। यदि परमात्मा सेवक से नाराज़ हो जाए, तब भी सतगुरु उसे क्षमा दिलवा सकते हैं पर यदि सेवक सतगुरु का ही विरोध करता है तो फिर उसे कोई भी नहीं बचा सकता। इसी लिए तुलसीदास जी कहते हैं कि हमें उस सतगुरु की भक्ति करनी चाहिए जिसे स्वयं परमात्मा अपना मानते हैं:

राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा[2]॥
सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा[3]॥

मानस, 7.119(ख).9-10

1. प्रेम 2. हवा 3. पक्षी (गरुड़)

तुम्ह तें अधिक गुरहि जियँ जानी। सकल भायँ[1] सेवहिं सनमानी[2]॥

मानस, 2.128.4

राखइ गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहिं कोउ जग त्राता[3]॥

मानस, 1.165.3

सबइ कहावत राम के सबहि राम की आस।
राम कहहिं जेहि आपनो तेहि भजु तुलसीदास॥

दोहावली 141

कबीर साहिब ने भी तुलसीदास जी के ही समान सतगुरु को परमात्मा से बढ़कर माना है। वह कहते हैं:

गुरु गोबिंद दोऊ खड़े का के लागौं पाँय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोबिंद दियो बताय॥

कबीर साखी-संग्रह, पृ.2

कबिरा हरि के रूठते गुरु के सरने जाइ।
कहे कबीर गुरु रूठते हरि नहिं होत सहाय।

कबीर साखी-संग्रह, पृ.4

नवधा भक्ति का उपदेश करते हुए स्वयं राम ने भी संत-सतगुरु की संगति को ही प्रथम भक्ति कहा है जिसके द्वारा प्रभुभक्ति की प्राप्ति होती है। अपने मान या अहं भाव को मिटाकर गुरु के चरण-कमलों की सेवा में लगने से प्रभुभक्ति में निष्कपटता प्राप्त होती है तथा गुरु द्वारा दिए गए मंत्र के जाप (सुमिरन) से परमात्मा में विश्वास दृढ़ हो जाता है और अभ्यासी भजन (शब्द-धुन सुनने) की अवस्था में प्रवेश कर जाता है। भजन की अवस्था प्राप्त करने पर मन और इंद्रियाँ वश में आ जाती हैं, शील, वैराग्य आदि सद्धर्म प्राप्त हो जाते हैं और सारे संसार

1. **सकल भायँ**=सभी प्रकार से 2. आदर करना 3. बचानेवाला

में परमात्मा समाया दिखाई देने लगता है। जब संत-सतगुरु की कृपा से सर्वव्यापी परमात्मा प्रकट रूप में सर्वत्र दिखाई देने लग जाते हैं, तब इस बात की समझ आती है कि संत-सतगुरु और परमात्मा में कोई अंतर नहीं है। फिर तो अपने-पराए का भेद मिट जाता है और भक्त किसी में भी दोषदृष्टि नहीं रखता। वह अपने आप में संतुष्ट रहता है। सांसारिक सुख-दु:ख से ऊपर उठकर वह सरल और निष्कपट भाव से एकमात्र परमात्मा के भरोसे अपना जीवन बिताता है। इस प्रकार स्वयं राम द्वारा शबरी को बताई गई नवधा भक्ति में भी शुरू से अंत तक गुरुभक्ति की ही प्रधानता है:

नवधा[1] भगति कहउँ तोहि पाहीं[2]। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान[3]।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम[4] सील[5] बिरति[6] बहु करमा। निरत[7] निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना[8]॥

मानस, 3.34.4, 3.35.1-3

अंत में अपना निष्कर्ष बताते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि जीव तब तक अपने कर्मों से दु:खी बना रहता है, जब तक उसे सतगुरु का उपदेश प्राप्त नहीं होता। कर्मों के दु:ख तभी दूर होते हैं, जब वह सतगुरु से उपदेश लेकर सुमार्ग पर पाँव रखता है। जैसे शरद् ऋतु के आते ही

1. नौ अंगोंवाली 2. **तोहि पाहीं**=तुझसे 3. आपाभाव को मिटाकर
4. इंद्रियों को वश में करना 5. सदाचार 6. वैराग्य। 7. लीन
8. दु:खी होने का भाव

बरसाती कीड़े नष्ट हो जाते हैं और धरती साफ़ हो जाती है, ठीक वैसे ही सतगुरु के मिलते ही संशय और भ्रम के समूह नष्ट हो जाते हैं और हृदय निर्मल हो जाता है। गुरु ही हमें सच्चा ज्ञान देनेवाले हैं। इसलिए उनसे हमें कुछ भी छिपाना नहीं चाहिए। गुरु से छिपाव करनेवाले जीव के हृदय में कभी निर्मल ज्ञान हो ही नहीं सकता। गुरुभक्ति से ही निर्मल ज्ञान उत्पन्न होता है और इस ज्ञान द्वारा हम अज्ञान को नष्ट करके संसार-सागर को पार कर जाते हैं। इसी लिए तुलसीदास जी बड़े ज़ोरदार शब्दों में कहते हैं कि गुरु के बिना कोई भी संसार-सागर को पार नहीं कर सकता, भले ही वह ब्रह्मा, विष्णु और शिव के समान ही क्यों न हो:

निज कृत[1] बिलखत[2] सो सदा बिन पाये उपदेश।
गुरु पग पाय सुमग[3] धरै तुलसी हरै कलेश॥

तुलसी सतसई, 2.94

जे गुर पद अंबुज[4] अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी॥

मानस, 2.258.3

भूमि जीव संकुल रहे[5] गए सरद रितु पाइ।
सदगुर मिलें जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ॥

मानस, 4.17

बिनु गुर होइ कि ग्यान ग्यान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ[6] हरि भगति बिनु॥

मानस, 7.89(क)

1. **निज कृत**=अपने कर्मों से 2. रोना 3. सदाचार का मार्ग
4. **पद अंबुज**=चरण कमलों का 5. **भूमि...रहे**=बरसाती जीव पृथ्वी पर भर गए।
6. पाना

संत कहहिं असि नीति प्रभु श्रुति पुरान मुनि गाव।
होइ न बिमल बिबेक उर गुर सन किएँ दुराव॥

मानस, 1.45

तुलसिदास हरि-गुरु-करुना[1] बिनु बिमल बिबेक न होई।
बिनु बिबेक संसार-घोर-निधि[2] पार न पावै कोई॥

विनय-पत्रिका 115.5

गुर बिनु भव निधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर[3] सम होई॥

मानस, 7.92(ख). 3

अन्य संतों ने भी तुलसीदास जी की तरह गुरु की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है और बताया है कि प्रभु की कृपा से ही सतगुरु से मिलाप होता है और सतगुरु ही हमें सच्ची भक्ति का तरीक़ा सिखाकर भवसागर से पार कराते हैं।

गुरु नानक साहिब कहते हैं:

जिन कउ नदर[4] भई गुर मेले प्रभ भाणा[5] सच सोई॥

आदि ग्रन्थ, पृ. 1153

गुरु अमरदास जी कहते है:

करम होवै सतगुरू मिलाए॥ सेवा सुरत सबद चित लाए॥

आदि ग्रन्थ, पृ. 109-110

1. परमात्मारूपी गुरु की दया 2. भयंकर संसार-सागर
3. **बिरंचि संकर**= ब्रह्मा और शिव 4. कृपा 5. मौज

आदि ग्रन्थ में स्पष्ट कहा गया है:

सचै सबद सची पत होई॥ बिन नावै मुकति न पावै कोई॥
बिन सतगुर को नाउ न पाए प्रभ ऐसी बणत बणाई हे॥
आदि ग्रन्थ, पृ. 1046

और भी कहा गया है:

जिन के बंधन काटे सतगुर तिन साधसंगत लिव लाई॥
आदि ग्रन्थ, पृ. 205

दादू दयाल जी भी कहते हैं:

साध मिलै तब हरि मिलै, तब सुख आनन्द मूर।
दादू संगति साध की, राम रह्या भरपूर॥
दादू दयाल की बानी, भाग1, पृ.150

पलटू साहिब बड़े ही साफ़ शब्दों में संतों के संसार में आने का कारण बताते हुए कहते हैं:

संत संसार मैं आय परगट भये,
नाम दृढ़ाय कै जक्त तारा।
भजन भगवान को कोऊ ना जानता,
संत यहि हेतु औतार धारा।...
दास पलटू कहै रहे सब डूबते,
संत ने पकरि कै किहा पारा॥
पलटू साहिब की बानी, भाग2, रेखता16

कबीर साहिब भी तुलसीदास जी की तरह स्पष्ट शब्दों में कहते हैं:

बिन सतगुर उपदेस, सुर नर मुनि नहिं निस्तरे।
ब्रह्मा बिस्नु महेस, और सकल जिव को गनै॥
कबीर साखी-संग्रह, पृ. 11

तुलसी साहिब भी स्पष्टता के साथ कहते हैं:

तुलसी सतसंग संत बिन फिरि फिरि खेही खायँ।
सतगुर दीनदयाल बिन जुग जुग मारे जायँ॥
तुलसी साहिब की शब्दावली, भाग1, पृ.33

यह भव सिंध अगाध है, बूड़े भवजल धार।
बिन सतगुरु भरमत फिरै, कैसे उतरै पार॥
तुलसी साहिब की शब्दावली, भाग1, पृ.90

इसी प्रकार दरिया साहिब भी कहते हैं:

मेटि संसै सत सब्द से, जो गुर मिलै करार।
सतगुर बिना पार नहीं, भरमि रहा संसार॥
दरिया-ग्रन्थावली, भाग2, पृ. 23

स्वामी जी महाराज भी बड़े साफ़ शब्दों में कहते हैं:

यही सत्तपुरुष यही करतार। लगावें तोहि इक दिन पार॥
सारबचन संग्रह, 18:8:9

वह फिर कहते हैं:

बिन सतगुरु और बिना शब्द सुर्त। कोई न उतरे भौ पारा॥
सारबचन संग्रह, 14:12:15

गुरू बिन कभी न उतरे पार। नाम बिन कभी न होय उधार॥
सारबचन संग्रह, 19:4:1

संत-सतगुरु के लक्षण

परमात्मा के समान ही परमात्मा के रूप संत-सतगुरु के लक्षणों का वर्णन नहीं किया जा सकता। फिर भी तुलसीदास जी अपने आप को संतों का बालक मानकर उनकी वंदना करते हैं और उनसे प्रभु के चरण-कमलों का प्रेम माँगते हुए उनके कुछ गुणों की ओर संकेत करते हैं। जैसे अंजलि में रखे हुए सुगंधित फूल दोनों ही हाथों (जिस हाथ ने फूलों को तोड़ा और जिसने उन्हें रखा है) को समान रूप से सुगंधित करते हैं, ठीक उसी प्रकार सरल-हृदय और सच्चे परोपकारी संतजन भी मित्र और शत्रु का भेद नहीं करते, सबका समान रूप से कल्याण करते हैं। उनके मन में तिल भर भी सांसारिक तृष्णा या कामना नहीं होती। पानी को अलग करके दूध को ग्रहण करनेवाले हंस की तरह वे गुण और दोष से भरे इस संसार में दोष को त्यागकर केवल गुण को ही ग्रहण करते हैं:

बंदउँ संत समान चित[1] हित अनहित[2] नहिं कोइ।
अंजलि गत[3] सुभ सुमन[4] जिमि सम सुगंध कर दोइ॥
संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु।
बालबिनय सुनि करि कृपा रामचरन रति[5] देहु॥

मानस, 1.3(क), 3(ख)

जाके मन ते उठि गई, तिल-तिल तृष्ना चाहि।
मनसा बाचा कर्मना, तुलसी बंदत ताहि॥

वैराग्य-संदीपनी 26

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय[6] परिहरि[7] बारि बिकार[8]॥

मानस, 1.6

1. **समान चित**=चित्त में समभाव 2. **हित अनहित**=मित्र-शत्रु
3. **अंजलि गत**=अंजलि में रखे हुए 4. फूल 5. प्रेम 6. दूध
7. छोड़कर 8. **बारि बिकार**=पानीरूपी दोष को

सच्चा संत वही है जो मैं और मेरी की भावना से ऊपर उठ चुका है और जिसका हृदय ज्ञान के सूर्य से सदा जगमगाता रहता है। वह सांसारिक सुख-दु:ख से सुखी या दु:खी नहीं होता। संसार को मृगतृष्णा के समान झूठा जानकर और अपनी इंद्रियों को वश में रखकर वह अपने चित्त को अनन्य भाव से एकमात्र परमात्मा में लीन किए रहता है। लोक-परलोक के सुख की परवाह न करते हुए वह सदा नाम के रंग में रँगा रहता है और अपने मन को सदा सुमिरन में लगाए रखता है। ऐसे संतजनों की तुलना भला उन कुलीन मनुष्यों से कैसे की जा सकती है जो सदा अभिमान की अग्नि में जलते हैं? तुलसीदास जी सबको अच्छी तरह देख-परखकर कहते हैं कि संसार की सभी वस्तुओं से अछूते रहनेवाले और सदा परमात्मा में एकरस होकर लीन रहनेवाले संतजनों के समान और कोई नहीं है। पर ऐसे संतजन इस संसार में बिरले ही मिलते हैं:

मैं तैं मेट्यो मोह तम, उग्यो आतमा भानु[1]।
संत राज सो जानिये, तुलसी या सहिदानु[2]॥

वैराग्य-संदीपनी 33

अहंबाद 'मैं' 'तैं' नहीं। दुष्ट संग नहिं कोइ।
दुख ते दुख नहिं उपजै, सुख तैं सुख नहिं होइ[3]॥

वैराग्य-संदीपनी 30

अति अनन्य गति इंद्री जीता। जाको हरि बिनु कतहुँ न चीता॥
मृग तृष्ना सम जग जिय जानी। तुलसी ताहि संत पहिचानी॥

वैराग्य-संदीपनी 14

करि प्रेम निरंतर नेम लिएँ। पद पंकज सेवत सुद्ध हिएँ॥
सम मानि निरादर आदरही। सब संत सुखी बिचरंति मही[4]॥

मानस, 7.13(ख).8

1. सूर्य 2. पहचान
3. **दुख...होइ**=दु:ख में दु:खी और सुख में सुखी न होना 4. धरती

अति अनन्य जो हरि को दासा। रटै नाम निसिदिन प्रति स्वासा॥
तुलसी तेहि समान नहिं कोई। हम नीकें देखा सब कोई॥

वैराग्य-संदीपनी 40

जदपि साधु सबही बिधि हीना। तद्यपि समता के न कुलीना॥
यह दिन रैन नाम उच्चरै। वह नित मान अगिनि महँ जरै॥

वैराग्य-संदीपनी 41

दास रता[1] एक नाम सों, उभय लोक सुख त्यागि।
तुलसी न्यारो ह्वै रहै, दहै न दुख की आगि॥

वैराग्य-संदीपनी 42

आकिंचन[2] इंद्रीदमन, रमन राम इक तार[3]।
तुलसी ऐसे संत जन, बिरले या संसार॥

वैराग्य-संदीपनी 29

राग, द्वेष और तृष्णा को त्यागकर शील-संतोष धारण करनेवाले संतजन ही जीवों को संसार-सागर के पार ले जानेवाले जहाज़ हैं। इसलिए तुलसीदास जी को एकमात्र परमात्मा रूप संत-सतगुरु का ही भरोसा है, जैसे पपीहे को एकमात्र स्वाति की बूँद की ही आस रहती है:

सो जन जगत जहाज है, जाके राग न दोष।
तुलसी तृष्णा त्यागि कै, गहै सील संतोष॥

वैराग्य-संदीपनी 16

एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
रामरूप स्वाती जलद, चातक तुलसीदास॥

वैराग्य-संदीपनी 15

1. लीन 2. दीनता का भाव 3. **रमन...तार**=एकरस होकर लीन रहना

संत परोपकारी होते हैं। जिस प्रकार कपास का फल ऊपर से देखने में सूखा या नीरस होता है, उसी तरह संतजन भी बाहरी सांसारिक विषयों के प्रति शुष्क या नीरस दिखाई देते हैं। पर जिस प्रकार कपास के फल के अंदर स्वच्छ रूई भरी होती है, ठीक उसी प्रकार संतजन भी अंदर से निर्मल और स्वच्छ होते हैं। जैसे कपास लोढ़े जाने, धुने जाने, काते जाने और बुने जाने का कष्ट सहकर भी कपड़े का रूप धारण करके दूसरों का शरीर ढकता है, वैसे ही संतजन भी स्वयं अनेक कष्ट झेलकर दूसरों को सदा दोषों से बचाते और उनका उपकार करते हैं। जैसे कुल्हाड़ी चंदन के वृक्ष को काटती है किंतु चंदन का वृक्ष (अपने स्वभाववश) उस काटनेवाली कुल्हाड़ी को भी अपनी सुगंधि ही देता है; ठीक वैसे ही संतजन अपना अहित करनेवालों का भी हित ही करते हैं। चंदन का अहित करने के कारण दुष्ट कुल्हाड़ी को दहकती आग में तपाकर हथौड़े से पीटा जाता है जबकि चंदन को देवताओं के माथे पर चढ़ाया जाता है। संत सदा विषयों से निर्लिप्त रहते हैं। शील और सद्‌गुणों की तो वे मानों खान ही होते हैं। अपनी निंदा-स्तुति या सुख-दु:ख में वे समभाव से रहते हैं। वे केवल दूसरों के दु:ख से ही दु:खी और उनके सुख से सुखी होते हैं। उनका चित्त अत्यंत कोमल होता है और दीनों पर वे सदा दया करते हैं। स्वयं मान रहित रहते हुए वे सबको मान प्रदान करते हैं। काम से सर्वदा अछूते रहकर वे सदा नाम की साधना में लगे रहते हैं। मन-इंद्रियों को वश में रखकर वे सदाचार के पालन में सदा अडिग रहते हैं और कभी किसी को कठोर वचन नहीं बोलते:

साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद[1] गुनमय फल जासू॥
जो सहि दुख परछिद्र[2] दुरावा। बंदनीय जेहिं जग जस[3] पावा॥

मानस, 1.1.3

1. स्वच्छ 2. दूसरों के दोष 3. यश

संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान बिख्याता॥
संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार[1] चंदन आचरनी॥
काटइ परसु मलय[2] सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥
ताते सुर[3] सीसन्ह चढ़त जग बल्लभ[4] श्रीखंड[5]।
अनल[6] दाहि पीटत घनहिं[7] परसु[8] बदन यह दंड॥
बिषय अलंपट[9] सील गुनाकर[10]। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद[11] बिरागी। लोभामरष[12] हरष भय त्यागी॥
कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया[13]॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति[14] बिनती मुदितायन[15]॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर[16]॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष[17] बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥
निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज[18]।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥

मानस, 7.36.3-4, 3.37.1-4, 38

मन, वचन और कर्म से सदा परोपकार में लगे रहना ही संतों का स्वभाव है। जिस प्रकार सूर्य और चंद्रमा का उदय संसार का अँधेरा दूर करने और उसे सुखी बनाने के लिए होता है, ठीक उसी प्रकार संतों का आगमन भी जीवों का अज्ञान मिटाने और उन्हें आनंदित करने के लिए ही होता है। संतों की उपमा वृक्ष, नदी, पहाड़ और धरती से की गई है जो सब कुछ सहकर भी अपने परोपकार का व्रत निभाने में लगे रहते हैं। वृक्ष अपने

1. कुल्हाड़ा 2. मलय गिरि का चंदन 3. देवता 4. **जग बल्लभ**=संसार को प्रिय
5. चंदन 6. आग 7. लुहार के बड़े हथौड़े से 8. कुल्हाड़ा
9. नहीं लिपटनेवाला 10. गुणों की खान
11. जिसका कोई शत्रु नहीं, अभिमान रहित 12. लोभ और क्रोध
13. निष्कपट 14. वैराग्य 15. प्रसन्नता का घर 16. सच्चा
17. कठोर 18. **पद कंज**=चरण-कमल

ऊपर पत्थर मारनेवाले को भी फल देता है, नदी अपने अंदर स्नान करनेवाले की गंदगी साफ़ करके उसे शीतल जल प्रदान करती है, पहाड़ अपने खोदनेवाले को बहुमूल्य रत्न देता है और धरती अपने खोदनेवाले को अन्न से भर देती है। इसी तरह संतजन अपने अहित करनेवालों का भी सदा कल्याण ही करते हैं। संतों के कोमलचित्त की उपमा कवियों ने मक्खन से की है। पर तुलसीदास जी इसमें त्रुटि दिखाते हुए कहते हैं कि मक्खन तो स्वयं को तपाए जाने पर पिघलता है पर संतों का हृदय इतना अधिक कोमल होता है कि यह दूसरों के ताप यानी कष्ट से पिघल जाता है। फिर भी दुष्टों के कठोर वचन को संत पर्वत की तरह सख़्त बनकर शांत भाव से सह लेते हैं। उनका हृदय मोह और अभिमान से सर्वथा रहित होता है। बादलों से रहित निर्मल आकाश की तरह सभी सांसारिक आशाओं से रहित उनकी निर्मलता सदा सुशोभित बनी रहती है:

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया[1]॥

मानस, 7.120(ख).7

संत उदय संतत सुखकारी। बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी[2]॥

मानस, 7.120(ख).11

संत बिटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्ह कै करनी॥
संत हृदय नवनीत[3] समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

मानस, 7.124(ख).3-4

बूँद अघात सहहिं गिरि कैसें। खल के बचन संत सह जैसें॥

मानस, 4.13.2

1. पक्षिराज (गरुड़) 2. **इंदु तमारी**=चंद्रमा और सूर्य 3. मक्खन

सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा॥

मानस, 4.15(ख).2

बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव[1] परिहरि[2] सब आसा॥

मानस, 4.15(ख).5

यह विशेषता केवल संतों की ही है कि वे अपनी बुराई करनेवाले की भी भलाई ही करते हैं। सब कुछ सहते हुए अपने शील (शांति और समता) को निभाए चलना केवल संतों का ही काम है। वे मुख से या अपने हृदय के अंदर सदा परमात्मा का ही गुणगान करते हैं और शत्रु-मित्र या काँच-कंचन, सबको एक समान समझते हैं:

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

मानस, 5.40.4

सील गहनि सब की सहनि, कहनि हीय मुख राम।
तुलसी रहिए एहि रहनि, संत जनन को काम॥

वैराग्य-संदीपनी 17

सत्रु न काहू करि गनै, मित्र गनै नहिं काहि।
तुलसी यह मत संत को, बोलै समता माहि॥

वैराग्य-संदीपनी 13

सम कंचन काँचै गिनत, सत्रु मित्र सम दोइ।
तुलसी या संसार में, कहत संत जन सोइ॥

वैराग्य-संदीपनी 31

कंचन काँचहिं सम गनै, कामिनि काष्ठ पषान[3]।
तुलसी ऐसे संतजन, पृथ्वी ब्रह्म समान॥

वैराग्य-संदीपनी 27

1. समान 2. छोड़कर 3. पत्थर

सच्चे संत षड्विकारों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर) पर विजय प्राप्त किए हुए होते हैं। वे पूरी तरह निष्पाप, निष्काम और निर्लोभ होते हैं। उनकी ख़ुराक थोड़ी होती है और सत्य ही उनके जीवन का सार होता है। अपनी प्रशंसा सुनने में उन्हें संकोच होता है पर दूसरों की प्रशंसा सुनकर वे बहुत प्रसन्न होते हैं। वे भूलकर भी कभी सदाचार का त्याग नहीं करते और श्रद्धा, दया, क्षमा, मैत्री, मुदिता, विवेक, वैराग्य आदि सद्गुणों को सदा अपनाए रहते हैं। वे वेद, शास्त्र आदि सद्ग्रंथों के यथार्थ मर्म के ज्ञाता होते हैं और इन सद्ग्रंथों का वास्तविक भेद केवल उन्हीं से खुल सकता है। जब संत-सतगुरु उपदेश देते हैं तो उनकी सारगर्भित वाणी तथा उसकी मधुरता बरबस हृदय को आकृष्ट कर लेती है और उसकी कोमलता से कठोर हृदय भी पसीज उठता है। उनके वचनों से मानों अमृत बरसता है और उनके अनुभव से निकले वचन सीधे हृदय में प्रवेश कर जाते हैं:

संतन्ह के लच्छन रघुबीरा। कहहु नाथ भव भंजन भीरा[1]॥
सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उन्ह कें बस रहऊँ॥
षट बिकार जित अनघ[2] अकामा[3]। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमित बोध अनीह मितभोगी[4]। सत्यसार कबि कोबिद[5] जोगी॥
सावधान मानद[6] मदहीना। धीर धर्म गति परम प्रबीना॥
गुनागार[7] संसार दुख रहित बिगत संदेह।
तजि मम चरन सरोज[8] प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह॥
निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥

1. **भव...भीरा**=जन्म-मरण के भय को नाश करनेवाला 2. पाप रहित
3. कामना रहित 4. कम खानेवाला 5. ज्ञानी 6. प्रतिष्ठा देनेवाले
7. गुणों का भंडार 8. **चरन सरोज**=चरण-कमल

दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला[1]॥

मानस, 3.44.3-5, 3.45.1-4

कोमल बानी संत की, स्रवत अमृतमय आइ।
तुलसी ताहि कठोर मन, सुनत मैन[2] होइ जाइ॥

वैराग्य-संदीपनी 19

अनुभव सुख उतपति करत, भय-भ्रम धरै उठाइ।
ऐसी बानी संत की, जो उर भेदै आइ॥

वैराग्य-संदीपनी 20

शांति के सागर में समाकर शांतिमय बने हुए संतों की शीतलता अत्यंत निराली होती है। सर्परूपी दुष्टजनों का भी उनके चंदन जैसे हृदय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यद्यपि दुष्टजन उन पर बाण सरीखे तीखे और कठोर वचनों की वर्षा करते हैं, फिर भी उनमें तनिक भी क्रोध या अशांति का भाव नहीं आता। सारा संसार अहंकार की अग्नि में जलता है पर संतजन अपने अहंकार को समूल नष्ट करके सदा के लिए शांति-सागर में समाए रहते हैं। एक बार शीतल जल का रूप धारण कर लेने के बाद वे फिर कभी भी अग्नि का रूप नहीं लेते। स्वयं शीतल रहकर संसार को शीतलता प्रदान करना ही उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य होता है:

तुलसी ऐसे सीतल संता। सदा रहैं एहि भाँति एकंता[3]॥
कहा करैं खल लोग भुजंगा[4]। कीन्ह्यो गरल-सील जो अंगा॥
अति सीतल अति ही अमल[5], सकल कामना हीन।

1. **परहित...सीला**=दूसरों के हित में लगे रहनेवाले 2. मोम
3. अलग 4. सर्प 5. निर्मल

तुलसी ताहि अतीत गनि[1], बृति[2] सांति लय लीन॥
जो कोई कोप भरे मुख बैना। सन्मुख हतै गिरा-सर पैना[3]॥
तुलसी तऊ लेस रिस[4] नाहीं। सो सीतल कहिए जग माहीं॥

वैराग्य-संदीपनी 47-49

अहंकाररूपी सूर्य के ताप से शरीर गर्म हो जाता है। पर लोगों को आश्चर्य होता है कि संतजन ऐसे शीतल जल का रूप हो जाते हैं कि उनमें फिर किसी भी उपाय से क्रोधरूपी अग्नि का प्रवेश नहीं हो पाता।

अहंकार की अगिनि में, दहत सकल संसार।
तुलसी बाँचै संतजन, केवल सांति अधार॥
महा सांति जल परसि कै, सांत भए जन जोइ।
अहं अगिनि ते नहिं दहैं, कोटि करै जो कोइ॥
तेज होत तन तरनि को, अचरज मानत लोइ।
तुलसी जो पानी भया, बहुरि न पावक होइ॥

वैराग्य-संदीपनी 53-55

सच्चे संतों के गुणों पर प्रकाश डालते हुए तुलसीदास जी नक़ली संतों या गुरुओं से हमें सावधान करते हैं। संसार की माया से अनासक्त रहनेवाले सच्चे संत बिरले ही कहीं मिलते हैं। पर मोर के समान केवल बाहर के सुंदर वेष बनाकर संत बनने का ढोंग रचनेवाले कामी और कुटिल पाखंडियों से संसार भरा पड़ा है। जिस प्रकार मोर विषैले सर्पों को खा जाता है, उसी प्रकार ये पाखंडी साधु भी विष तुल्य विषयों का सेवन करते हैं। ऐसे पाखंडियों से सावधान करते हुए तुलसीदास जी हमें समझाते हैं कि संसार में झूठा आडंबर रचकर अभिमान करनेवाले

1. **ताहि...गनि**=उन्हें सबके परे गिनना चाहिए 2. चित्तवृत्ति
3. **गिरा-सर पैना**=तीखे बचनरूपी बाण 4. **लेस रिस**=तनिक भी क्रोध

पाखंडियों को ही सीधे-सादे लोग संत समझ बैठते हैं। दूसरों का धन हड़पनेवाले बुद्धिमान माने जाते हैं और अभिमानपूर्वक दिखावा करनेवाले बड़े भारी आचारी समझे जाते हैं। जो बड़े-बड़े नख और बड़ी-बड़ी जटाएँ रखते हैं, वे ही इस कलियुग में भारी तपस्वी कहे जाते हैं और जो तरह-तरह की वेषभूषा बनाकर भक्ष्य-अभक्ष्य सब कुछ खाते हैं, वे योगी, सिद्ध और पूजनीय माने जाते हैं। स्त्री के मरने पर या घर की संपत्ति नष्ट हो जाने पर जो सिर मुँडाकर घर से निकल जाते हैं, वे ही संन्यासी कहे जाते हैं। किसको क्या कहा जाए? ऐसे गुरु अंधे हैं जिनकी आंतरिक दृष्टि खुली नहीं है और उनके शिष्य बहरे हैं जिन्हें कोई आंतरिक शब्द सुनाई नहीं देता। संसार केवल वेष देखकर वेषधारी ठगों की पूजा करता है पर अंत में ऐसे पाखंडियों की पोल खुल जाती है और कालनेमि, रावण और राहू के समान उनकी दुर्गति होती है। बगुला यदि अपने पैर, चोंच और आँखों को रँगकर हंस बनने की कोशिश करे तो दूध और पानी को अलग-अलग करने के समय आख़िर उसकी पोल खुल ही जाएगी। जब तक मन विषयों में लीन है, तब तक केवल बाहर के सुंदर वेष बनाने और मीठी बोली बोलकर लोगों को भुलावा देने से परमात्मा कभी नहीं मिल सकता। अंत में ऐसे पाखंडी गुरुओं को घोर नरक में जाना पड़ता है जो शिष्यों का केवल धन हड़पते हैं और उनका दु:ख दूर नहीं करते।

बिरले बिरले पाइए, माया त्यागी संत।
तुलसी कामी कुटिल कलि, केकी केक[1] अनंत॥

वैराग्य-संदीपनी 32

मिथ्यारंभ[2] दंभ रत[3] जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान[4] जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥

1. **केकी केक**=मोर-मोरनी 2. ढोंग करनेवाला 3. **दंभ रत**=अभिमान में लीन
4. बुद्धिमान

जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥
असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ[1] जें खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

मानस, 7.97(ख).2-4, 7.98(क)

नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी॥

मानस, 7.99(ख).3

गुर सिष बधिर अंध का लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा॥

मानस, 7.98(ख).3

लखि सुबेष जग बंचक[2] जेऊ। बेष प्रताप पूजिअहिं तेऊ॥
उघरहिं अंत न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू॥

मानस, 1.6.3

चरन चोंच लोचन रँगौ चलौ मराली[3] चाल।
छीर नीर बिबरन समय बक उघरत तेहि काल॥

दोहावली 333

बेष बिसद[4] बोलनि मधुर मन कटु करम मलीन।
तुलसी राम न पाइऐ भएँ बिषय जल मीन[5]॥

दोहावली 153

हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई॥

मानस, 7.98(ख).4

1. खाद्य-अखाद्य 2. ठग 3. हंस की 4. स्वच्छ
5. **बिषय...मीन**=विषयरूपी जल में मछली के समान

अन्य संतों ने भी हमें धन के भूखे पाखंडियों से बचे रहने का उपदेश दिया है और बताया है कि सच्चे संत दूसरों से भीख माँगकर अपना गुज़ारा नहीं करते। गुरु नानक साहिब कहते हैं:

गुर पीर सदाए मंगण जाए॥ ता कै मूल न लगीऐ पाए॥
घाल खाए किछ हथहो दे॥ नानक राह पछाणह से॥

आदि ग्रन्थ, पृ.1245

कबीर साहिब भी कहते हैं:

मरि जाऊँ माँगूँ नहीं, अपने तन के काज।
परमारथ के कारने, मोहिं न आवै लाज॥

कबीर साखी-संग्रह, पृ.139

दादू दयाल जी का भी कथन है:

तीरथ बरत न बनखंड बासा। माँगि न खाइ नहीं जग आसा॥

दादू दयाल की बानी, भाग2, शब्द 230

दरिया साहिब भी कहते हैं:

साधु जन मांगे नहिं माँगि खाय सो भाँड[1]।

सहस्रानी, ह.ग्र.पृ.21

स्वामी जी महाराज भी कहते हैं:

गुरु नहिं भूखा तेरे धन का। उन पै धन है भक्ति नाम का॥
पर तेरा उपकार करावें। भूखे प्यासे को दिलवावें॥

सारबचन छन्द-बन्द, 13:1:30-31

1. निर्लज्ज होकर नक़ल करनेवाला

इसी तरह अन्य संतों ने भी पाखंडी गुरुओं के धोखों की ओर हमारा ध्यान दिलाया है। कबीर साहिब कहते हैं:

सब्द गुरू को कीजिये, बहुतक गुरू लबार[1]।
अपने अपने लोभ को, ठौर ठौर बटमार[2]॥

कबीर साखी-संग्रह, पृ.93

दरिया साहिब भी हमें चिताते हुए कहते हैं:

निरखि परखि नीके गुरु कीजे, बेड़ा[3] बांधु सम्भारी।
कलि के गुरु बड़े प्रपंची, डारि ठगौरी मारी॥

दरिया विचार मुक्तावली, पृ.247

बधिर सिख आंधर गुरु कीन्हा। नैन बिहुंन मग कैसे चिन्हा।
इत उत नाहिं बुड़े मंझधारा। कनहरि[4] चीन्हिना कीन्ह गवारा।

ग्यान दीपक, भाग1, चौपाई 154, 157

दर्व हरहिं परसोक ना हरहीं। सो गुरू नरक अघोरहिं परहीं॥

ग्यान दीपक, भाग1, चौपाई 320

स्वामी जी महाराज भी गुरु-चेले के झूठे व्यवहार पर तरस खाकर कहते हैं:

गुरु चेला ब्योहार जगत में। झूठा बरत रहा॥
का से कहूं खोज नहिं काहू। धोखे धार बहा॥
गुरु तो लोभ प्रतिष्ठा चाहत। शिष स्वारथ सँग आन बँधा॥
गुरु चेला पाखंडी कपटी। चौरासी में दोउ गया॥

सारबचन छन्द-बन्द, 13:3:1-3, 5

1. गप्प हाँकनेवाला 2. लुटेरा 3. नाव 4. कर्णधार

संत-असंत का अंतर

परमार्थी साधना में संतों की संगति जितनी आवश्यक है, असंतों की संगति उतनी ही बाधक है। असंत से तुलसीदास जी का तात्पर्य संसार में सदा आसक्त रहनेवाले और अकारण दूसरों को दु:ख पहुँचानेवाले दुराचारियों से है जिन्हें अन्य संतों ने असाध, साकत, पापी या दुर्जन कहा है। संतों का उद्देश्य किसी की निंदा करना नहीं है पर परमार्थ की साधना में बुरी संगति से बचना अत्यंत आवश्यक होता है। इसलिए तुलसीदास जी संत-असंत के अंतर को बड़े ही स्पष्ट रूप से समझाते हैं और असंतों की संगति को त्यागने और संतों की संगति को अपनाने पर ज़ोर देते हैं।

संत इस संसार में केवल परोपकार के लिए ही अवतार लेते हैं। जैसे भोजपत्र का वृक्ष अपनी खाल (छाल) उतरवाकर भी इसे परोपकार में लगा देता है, ठीक वैसे ही संतजन महान संकट उठाकर भी अपने आप को मन, कर्म और वचन से सदा दूसरों की भलाई में ही लगाए रहते हैं। इसके विपरीत, असंत अपना जीवन केवल दूसरों का अहित करने में ही लगाते हैं। सर्प और चूहे की तरह वे स्वभाव से ही दूसरों की बुराई करनेवाले होते हैं। सन के पौधे की तरह अपनी खाल खिंचवाकर भी वे दूसरों को बाँधते या उनका अपकार करते हैं। जिस प्रकार ओला खेती का नाश करके स्वयं नष्ट हो जाता है, ठीक उसी प्रकार असंत भी पराई प्रतिष्ठा या संपत्ति का नाश करने में अपनी जान तक दाव पर लगा देते हैं:

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥
संत सहहिं दुख परहित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी॥
भूर्ज तरू सम संत कृपाला। पर हित निति सह बिपति बिसाला॥
सन इव खल पर बंधन करई। खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई॥
खल बिनु स्वारथ पर अपकारी[1]। अहि[2] मूषक[3] इव सुनु उरगारी[4]॥

1. **पर अपकारी**=दूसरों की बुराई करनेवाले 2. साँप 3. चूहा
4. सर्पों के शत्रु (गरुड़)

पर संपदा बिनासि नसाहीं। जिमि ससि हति[1] हिम[2] उपल[3] बिलाहीं॥
दुष्ट उदय जग आरति हेतू[4]। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू[5]॥

मानस, 7.120(ख).7-10

संत और असंत के इस विरोधी स्वभाव के बावजूद तुलसीदास जी ने बड़े सुंदर व्यंग्य के साथ इनकी समानताएँ दिखाकर संतों की भाँति असंतों की भी वंदना की है। वह कहते हैं कि संत और असंत – दोनों ही दु:खदायी हैं। अंतर केवल यही है कि संत के बिछुड़ने से हमें असह्य दु:ख होता है जबकि असंत मिलने पर घोर कष्ट देते हैं। समान रूप से जल में पैदा होनेवाले कमल और जोंक की भाँति संत और असंत भी एक समान ही इस संसार में पाए जाते हैं। पर दोनों में यह अंतर है कि कमल दर्शन और स्पर्श से सुख प्रदान करता है जबकि जोंक शरीर का स्पर्श करते ही इसका ख़ून चूसने लगती है। इसी प्रकार संत अपने अमृत वचनों द्वारा संसार से हमारा उद्धार करते हैं जबकि असंत मोह, जड़ता आदि की मदिरा पिलाकर हमें बेहोश कर देते हैं; यद्यपि शास्त्रों के अनुसार अमृत और मदिरा – दोनों की उत्पत्ति समान रूप से समुद्र से ही हुई है। तुलसीदास जी संत और असंत – दोनों को अथाह समुद्र के समान मानते हैं; अंतर केवल इतना ही है कि संत सद्गुणों के समुद्र होते हैं जबकि असंत पापों या दुर्गुणों के समुद्र होते हैं। दोनों ही अपने-अपने ढंग से एक समान निपुण हैं, संतजन अपने उपदेश का अमृत पिलाकर हमें अमरता प्रदान करने में निपुण हैं जबकि असंत हमें विष तुल्य विषयों में फँसाकर मृत्यु का घोर कष्ट देने में निपुण हैं। इसलिए इन दोनों के बाहरी रूप या इनकी कुछ समानताओं को देखकर हमें धोखा नहीं खाना चाहिए। इनके मर्म को भलीभाँति पहचानकर ही हमें उनकी संगति को अपनाना या त्यागना चाहिए। सुंदर रत्न जड़े हुए पात्र में रखी मदिरा और

1. **ससि हति**=फ़सल को नष्ट करके 2. बर्फ़ 3. ओला
4. **आरति हेतू**=दु:ख देने के लिए 5. **ग्रह केतु**=पुच्छल तारा

साधारण मिट्टी के बरतन में रखे अमृत को अच्छी तरह परखने के बाद ही हमें एक का परित्याग और दूसरे का सेवन करना चाहिए:

बंदउँ संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय[1] बीच कछु बरना॥
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दुख दारुन देहीं॥
उपजहिं एक संग जग माहीं। जलज[2] जोंक जिमि गुन बिलगाहीं॥
सुधा[3] सुरा सम साधु असाधू। जनक[4] एक जग जलधि[5] अगाधू॥

मानस, 1.4.2-3

भलो भलाइहि पै लहइ लहइ निचाइहि नीचु।
सुधा सराहिअ अमरताँ गरल[6] सराहिअ मीचु[7]॥
खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि[8] अवगाहा॥
तेहि तें कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥

मानस, 1.5, 1

मनि भाजन मधु[9] पारई[10] पूरन अमी[11] निहारि।
का छाँड़िअ का संग्रहिअ कहहु बिबेक बिचारि॥

दोहावली 351

परमार्थ में असंतों की संगति से होनेवाली अपार क्षति को ध्यान में रखकर तुलसीदास जी हमें उनसे बचाए रखने के ख़याल से असंतों के लक्षण विस्तार के साथ समझाते हैं। दुष्ट या असंतजन बिना किसी कारण के अपनी भलाई करनेवालों का भी नुक़सान करते हैं। दूसरों के हित की हानि को ही वे अपना लाभ मानते हैं। दूसरों के उजड़ने में उन्हें ख़ुशी और उनके बसने में उन्हें दु:ख होता है। दूसरों के हितरूपी घी

1. **दुखप्रद उभय**=दोनों ही दु:ख देनेवाले हैं। 2. कमल 3. अमृत
4. जन्म देनेवाला 5. समुद्र 6. विष 7. मृत्यु 8. समुद्र
9. **मनि...मधु**=मणिमय पात्र में शराब हो 10. एक मिट्टी का बरतन
11. अमृत

के लिए उनका मन मक्खी के समान होता है अर्थात् जिस प्रकार मक्खी घी में गिरकर उसे ख़राब कर देती है और स्वयं भी मर जाती है, उसी प्रकार दुष्टजन दूसरों के बने-बनाए काम को भी बिगाड़ देते हैं भले ही उनकी अपनी हानि होती हो। लाख विनय करने पर भी वे अपनी बुराई करने की आदत से कभी बाज़ नहीं आते। कौवे को हम चाहे जितने भी प्रेम से दूध-भात का आहार देकर क्यों न पालें, वह अपनी मांस खाने की आदत को कभी छोड़ नहीं सकता। वैसे ही दुष्टजन दूसरों की बुराई करने की अपनी आदत से कभी बाज़ नहीं आते, चाहे हम उनकी लाख भलाई क्यों न करें:

बहुरि बंदि खल गन सतिभाएँ[1]। जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ[2]॥
पर हित हानि लाभ जिन्ह केरें। उजरें हरष बिषाद बसेरें॥
जे पर दोष लखहिं सहसाखी[3]। पर हित घृत[4] जिन्ह के मन माखी॥
उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति।
जानि पानि जुग जोरि जन बिनती करइ सप्रीति॥
मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा। तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा॥
बायस[5] पलिअहिं अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा॥

मानस, 1.3(ख).1-2, 1.4, 1

असंतों के स्वभाव पर और भी अधिक प्रकाश डालते हुए तुलसीदास जी हमें उनकी संगति से बचे रहने की ज़ोरदार चेतावनी देते हैं। वह कहते हैं कि जैसे एक हरहाई (बिगड़ैल) गाय अनेक कपिला (सीधी और दुधार) गायों को अपने संग से बिगाड़ डालती है, वैसे ही एक दुष्ट, सज्जनों के समाज को दूषित कर देता है। दुष्टों का यह स्वभाव है कि वे दूसरे की संपत्ति देखकर जल उठते हैं और दूसरे की निंदा सुनकर ऐसे

1. सच्चे भाव से 2. **दाहिनेहु बाएँ**=भलाई करनेवाले की बुराई करते हैं।
3. हज़ारों आँखों से 4. **पर...घृत**=दूसरों के हितरूपी घी के लिए
5. कौआ

प्रसन्न होते हैं मानों उन्हें कहीं पड़ा हुआ ख़ज़ाना मिल गया हो। दूसरों की विपत्ति को देखकर तो वे इतने अधिक आनंदित होते हैं मानों उन्हें संसार का राज्य ही मिल गया हो। पर यदि कहीं उन्हें दूसरे की बड़ाई सुनने को मिल जाए तो वे ऐसी दु:खभरी उसासें लेते हैं मानों उन्हें जाड़े का ज्वर हो आया हो। वे सदा काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार से युक्त और निर्दयता, कपट, कुटिलता और दुर्व्यसन से भरे हुए होते हैं तथा सदा झूठ का ही व्यवहार करते हैं। तुलसीदास जी ने इनकी उपमा मोर से दी है। जिस प्रकार मोर ऊपर से सुंदर दीख पड़ता है पर वह विषैले साँपों को खा जाता है, ठीक उसी प्रकार असंतजन भी बाहर से मधुर बोलनेवाले होते हैं पर उनका हृदय कठोरता से कूट-कूटकर भरा हुआ होता है। वे दूसरों से सदा द्रोह करते हैं तथा पराई स्त्री, पराए धन और पराई निंदा में आसक्त रहते हैं। दूसरों का धन हड़पने में वे निपुण होते हैं पर संतों की संगति और हरिकथा से उन्हें सदा चिढ़ होती है। तुलसीदास जी ऐसे दुष्टों और पापियों को राक्षसों का साकार रूप मानते हैं और कहते हैं कि ऐसे दुष्टों की संगति में रहने से तो नरक में रहना ही अच्छा है। इसलिए वह प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वह उन्हें कभी दुष्टों की संगति न दें:

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि[1] घालइ हरहाई[2]॥
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि[3] पाई॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन[4]॥
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥
झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना॥

1. सीधी और दुधार गायों को 2. बिगड़ैल गाय
3. **परी निधि**=पड़ा हुआ ख़ज़ाना 4. पापों का घर

बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाइ महा अहि[1] हृदय कठोरा॥
पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद[2]।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद[3]॥
लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदर पर[4] जमपुर त्रास न[5]॥
काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी[6] आई॥
जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जग नृपती[7]॥
स्वारथ रत परिवार बिरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी॥
करहिं मोह बस द्रोह परावा। संत संग हरि कथा न भावा॥
अवगुन सिंधु मंदमति कामी। बेद बिदूषक[8] परधन स्वामी॥
ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग[9] त्रेताँ नाहिं।
द्वापर कछुक बृंद बहु[10] होइहहिं कलिजुग माहिं॥

मानस, 7.38.1-4, 7.39.1-4, 40

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥

मानस, 5.45.4

संत-सतगुरु से मिलाप का फल

संत या सतगुरु से मिलाप के समान संसार में और कोई सुख नहीं है पर उनसे मिलाप बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। जिसके भाग्य में पहले से लिखा हुआ है, वही सतगुरु के संपर्क में आ सकता है। सतगुरु का दर्शन करने, उनके वचन (सत्संग) सुनने, उनसे दीक्षा (नामदान) प्राप्त करने और नाम की साधना में लगने का फल परम गुणकारी और मुक्तिदायक होता है। उनके वचन (उपदेश) सुनने से मन से मोह निकल जाता है। उनकी वाणी में चंद्रमा से भी बढ़कर शीतलता होती है जो मन की जलन को मिटा देती है और सभी पाप-ताप को दूर कर देती है:

1. **महा अहि**=विषैले साँपों को 2. निंदा 3. राक्षस
4. **सिस्नोदर पर**=वासना और भोजन के प्रेमी 5. **जमपुर...न**=यमपुर का डर नहीं
6. जाड़े का ज्वर 7. राजा 8. **बेद बिदूषक**=वेदों के निंदक
9. सतयुग 10. **बृंद बहु**=झुंड के झुंड

संत मिलन सम सुख जग नाहीं॥

मानस, 7.120(ख).7

मुख दीखत पातक हरै, परसत कर्म बिलाहिं[1]।
बचन सुनत मन मोहगत, पुरुब भाग मिलाहिं॥

वैराग्य-संदीपनी 24

सरदातप[2] निसि ससि अपहरई[3]। संत दरस जिमि पातक[4] टरई॥

मानस, 4.16.3

सीतल बानी संत की, ससिहू ते अनुमान।
तुलसी कोटि तपन हरै, जो कोउ धारै कान॥

वैराग्य-संदीपनी 21

पाप ताप सब सूल नसावै। मोह अंध रबि बचन बहावै[5]॥
तुलसी ऐसे सदगुन साधू। बेद मध्य गुन बिदित अगाधू॥

वैराग्य-संदीपनी 22

जब सतगुरु अपने शांतिदायक नाम का बीज हमारे हृदय में डालते हैं, तब काम, क्रोध की जड़ नष्ट हो जाती है और उनकी फैली हुई लताएँ जो हमारे जीवन पर छाई रहती हैं, धीरे-धीरे सूख जाती हैं। जब हम तन-मन से उस नाम के सुखद शांति-सागर में मग्न हो जाते हैं तो राग-द्वेष की अग्नि बुझ जाती है और अहंकाररूपी आग की लपट भी हमें जला नहीं सकती। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अंधकार दूर हो जाता है, ठीक उसी प्रकार हमारे आंतरिक घर में प्रभु का प्रकाश फैल जाने पर काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार सदा के लिए भाग जाते हैं। फिर तो वहाँ एकमात्र प्रभु का ही साम्राज्य छा जाता है:

1. नष्ट होना कर देता है। 2. शरद् ऋतु का ताप 3. **निसि...अपहरई**=रात को चंद्रमा दूर 4. पाप 5. **रबि...बहावै**=सूर्यरूपी वचन दूर कर देता है।

जहाँ सांति सतगुरु की दई[1]। तहाँ क्रोध की जर जरि गई॥
सकल काम बासना बिलानी। तुलसी बहै सांति सहिदानी[2]॥
तुलसी सुखद सांति को सागर। संतन गायो करन उजागर[3]॥
तामें तन मन रहै समोई[4]। अहं अगिनि नहिं दाहैं कोई॥

वैराग्य-संदीपनी 51-52

राग द्वेष की अगिनि बुझानी। काम क्रोध बासना नसानी॥
तुलसी जबहिं सांति गृह आई। तब उरहीं उर फिरी दोहाई॥
फिरी दोहाई राम की, गे कामादिक भाजि[5]॥
तुलसी ज्यों रबि कें उदय तुरत जात तम लाजि॥

वैराग्य-संदीपनी 60-61

सतगुरु की कृपा अपने शिष्यों की, उनके संबंधियों सहित घर में या वन में—सर्वत्र रखवाली करती है। इसलिए शिष्य को चाहिए कि अपना सब कुछ सतगुरु के चरण-कमलों के भरोसे छोड़कर प्रेम के साथ निस्स्वार्थ भाव से सतगुरु की सेवा में लगा रहे और अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—किसी की भी कभी इच्छा न रखे। सतगुरु जिसे जो आज्ञा दें, उसे सिर पर धारण करके उसका पालन करने से संसार की सभी उलझनें समाप्त हो जाती हैं और सभी उपद्रव अपने आप दूर हो जाते हैं। आज्ञापालन के समान समर्थ साहिब (सतगुरु) की और कोई सेवा नहीं है। इसलिए गुरु की आज्ञा को गुरु की कृपा मानकर शिष्य को उसे प्रेमपूर्वक निभाना चाहिए। गुरु और साधु-संतों की आज्ञा की अवहेलना समस्त कल्याण का नाश कर देती है:

सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुर प्रसाद रखवारा॥

मानस, 2.305.1

1. **सांति...दई**=सतगुरु द्वारा दिया गया शांतिदायक नाम 2. पहचान 3. **संतन...उजागर**=नाम की महिमा संतजनों ने प्रकाशित की है। 4. लीन करना 5. भाग जाना

देसु कोसु[1] परिजन[2] परिवारू। गुर पद रजहिं[3] लाग छरुभारू[4]॥

मानस, 2.314.4

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु[5] देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट[6] अवरेब[7]॥

मानस, 2.269

सहज सनेहँ स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई[8]॥
अग्या सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जन पावै देवा॥

मानस, 2.300.2

साधु अवग्या तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल[9] कै हानी॥

मानस, 5.41.1

तुलसीदास जी उन जीवों का बड़ा मार्मिक चित्र उपस्थित करते हैं जो न संत-सतगुरु का दर्शन करते, न उनका उपदेश सुनते, न उनके चरणों में सिर झुकाते और न उनकी बताई युक्ति द्वारा प्रभु की भक्ति ही करते हैं। जो संत-सतगुरु का दर्शन नहीं करते, उनकी आँखें मानों मोर के पंखों पर दीखनेवाली नक़ली आँखें हैं; जो उनसे प्रभुभक्ति का उपदेश नहीं सुनते, उनके कानों के सुराख़ मानों साँप के बिल हैं; जो परमात्मा-रूप गुरु के चरणों में सिर नहीं झुकाते, उनके सिर मानों कड़वी तुमड़ी हैं; जिनकी जीभ प्रभु का गुणगान नहीं करती, वह मेंढक की जीभ के समान व्यर्थ शोर मचानेवाली है और जिनके हृदय में सतगुरु का उपदेश सुनकर भी प्रभुभक्ति नहीं उत्पन्न होती, वे जीते-जी मुर्दे के समान हैं। जो संतों की निंदा करते हैं, वे उल्लू का जन्म पाते हैं। उनके लिए ज्ञानरूपी सूर्य मानों अस्त हो गया है और उन्हें मोह या अज्ञानरूपी रात ही प्रिय लगती है। गुरु से ईर्ष्या करनेवाले जीव करोड़ों युग घोर नरक में पड़े रहते हैं

1. ख़ज़ाना 2. कुटुंब 3. चरण-धूलि 4. ज़िम्मेदारी 5. आज्ञा
6. उपद्रव 7. उलझन 8. छोड़कर 9. समूचा

और फिर पशु-पक्षी की अधम योनियों में जन्म लेकर दस हज़ार वर्षों तक कष्ट भोगते हैं:

जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र[1] अहिभवन समाना[2]॥
नयनन्हि संत दरस नहिं देखा। लोचन[3] मोरपंख कर लेखा॥
ते सिर कटु तुंबरि समतूला[4]। जे न नमत हरि गुर पद मूला॥
जिन्ह हरि भगति हृदयँ नहिं आनी। जीवत सव[5] समान तेइ प्रानी॥
जो नहिं करइ राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥
कुलिस[6] कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरिचरित न जो हरषाती॥

मानस, 1.112.1-4

होहिं उलूक संत निंदा रत। मोह निसा[7] प्रिय ग्यान भानु[8] गत॥

मानस, 7.120(ख).13

जे सठ गुर सन इरिषा करहीं। रौरव नरक कोटि जुग परहीं॥
त्रिजग[9] जोनि पुनि[10] धरहिं सरीरा। अयुत[11] जन्म भरि पावहिं पीरा॥

मानस, 7.106(ख).3

जो गुरु के चरण-कमलों में प्रेम रखता है, वह लौकिक और पारमार्थिक दृष्टि से 'बड़भागी' माना जाता है। साधु-संत या सतगुरु की सेवा से अर्थात् सतगुरु की बताई युक्ति द्वारा नाम की साधना से द्वैत भाव मन से निकल जाता है, शरीर से उत्पन्न सभी विकार दूर हो जाते हैं और परमात्मा के चरणों में ध्यान लग जाता है तथा जीव अपने सहज स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। सतगुरु के उपदेश को भलीभाँति समझकर उनकी सेवा में लगे रहने से हमें प्रभुभक्ति में स्थिरता प्राप्त हो जाती है

1. **श्रवन रंध्र**=कान के सुराख़ 2. **अहिभवन समाना**=सर्प के बिल के समान
3. आँख 4. समान 5. मुर्दा 6. वज्र 7. **मोह निसा**=मोहरूपी रात
8. **ग्यान भानु**=ज्ञानरूपी सूर्य 9. पशु-पक्षी 10. फिर 11. दस हज़ार वर्ष

अर्थात् हमारी प्रभुभक्ति अच्छी तरह पक जाती है। जिस तरह बचपन से तैरने के अभ्यास में मँजा हुआ व्यक्ति पानी में ढकेल दिए जाने पर भी अपना तैरना नहीं भूलता और तैरकर पानी से बाहर निकल आता है, ठीक उसी तरह सतगुरु की सेवा-भक्ति से जिसकी प्रभुभक्ति पक चुकी होती है, वह अपने अंत समय में प्रभु को बिना भुलाए उनके ध्यान में लीन होकर आसानी से भवसागर को पार कर जाता है:

जे गुर पद अंबुज[1] अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी॥

मानस, 2.258.3

सेवत साधु द्वैत-भय भागै। श्री रघुबीर-चरन लय लागै[2]॥
देह-जनित बिकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरूप[3] अनुरागै॥

विनय-पत्रिका 136.11

सेइ साधु गुरु समुझि सिखि[4] राम भगति थिरताई।
लरिकाई को पैरिबो[5] तुलसी बिसरि न जाइ॥

दोहावली 140

स्वामी जी महाराज ने भी अपने आख़िरी वचन में यही दृष्टांत दिया है:

कि कच्चा पैराक हो, उसको डूबते वक़्त कहो कि अब तू पैर (तैर) तो उस वक़्त वह क्या पैरेगा, वह तो डूबेगा ही और जो लड़कपन से तैरना सीख रहा है उसको दरिया में डाल दोगे तो वह नहीं डूबेगा...जिन्दगी भर का भजन-सुमिरन सिर्फ़ इसी वास्ते है कि इस वक़्त न भूले, इस वास्ते ऐसा नाम का अभ्यास करो कि चलते फिरते नाम न भूले।

सारबचन वार्तिक, बचन 4

1. **पद अंबुज**=चरण-कमल
2. **लय लागै**=ध्यान लग जाता है।
3. **निज स्वरूप**=अपना असली स्वरूप
4. **समुझि सिखि**=समझ और सीखकर
5. तैरना

सत्संग

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

मानस, 5.4

हे भाई! यदि स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को तराज़ू के एक पलड़े पर रखें तो वे सब मिलकर भी (दूसरे पलड़े पर रखे हुए) क्षणमात्र के सत्संग के सुख के बराबर नहीं हो सकते।

संगति का प्रभाव

संगति के प्रभाव से ही हमारा जीवन अच्छे या बुरे रूप में ढलता है। इसलिए लौकिक या पारमार्थिक दृष्टि से संगति का बहुत महत्त्व है। उच्च आचरण वाले व्यक्ति के संपर्क में आकर हम सदाचारी बन जाते हैं और नीच आचरण वाले व्यक्ति की संगति हमें दुराचार की ओर ले जाती है।

तुलसीदास जी ने अनेक सुंदर उपमाओं द्वारा संगति के प्रभाव पर प्रकाश डाला है। वह कहते हैं कि ऊँचे आसमान की ओर उठनेवाली हवा की संगति पाकर धूल आसमान पर चढ़ जाती है और वही नीचे की ओर गिरनेवाले पानी की संगति में पड़कर दुर्गंधमय कीचड़ बन जाती है। इसी तरह साधु के घर रहनेवाले तोता-मैना परमात्मा का नाम लेते हैं, जबकि बुरे लोगों के घर रहनेवाले तोता-मैना गालियाँ सुनाते हैं। कुसंगति के कारण ही धुआँ कालिख कहा जाता है और वही सुसंगति पाकर सुंदर

स्याही का रूप बनकर सद्ग्रंथों के लिखने के काम आता है। वही धुआँ फिर गर्मी और हवा की सुसंगति पाकर आकाश का बादल बन जाता है और संसार को वर्षा द्वारा नया जीवन प्रदान करता है:

हानि कुसंग सुसंगति लाहू[1]। लोकहुँ बेद बिदित सब काहू॥
गगन चढ़इ रज[2] पवन प्रसंगा। कीचहिं मिलइ नीच जल संगा॥
साधु असाधु सदन[3] सुक सारीं[4]। सुमिरहिं राम देहिं गनि गारीं॥
धूम कुसंगति कारिख होई। लिखिअ पुरान मंजु[5] मसि[6] सोई॥
सोई जल अनल[7] अनिल[8] संघाता। होइ जलद[9] जग जीवन दाता॥

मानस, 1.6.4-6

कुसंग और सुसंग पाकर ही ग्रह, औषधि, पानी, हवा और वस्त्र बुरा या भला फल देते हैं। कुयोग या सुयोग के कारण ग्रहों का शुभ या अशुभ फल होता है, कुशल या अकुशल वैद्य के द्वारा सदुपयोग या दुरुपयोग किए जाने के कारण दवा प्राणरक्षक या प्राणघातक सिद्ध होती है, पानी ज़मीन के संपर्क से गंदे कीचड़ और आकाश के संपर्क से स्वच्छ मेघ का रूप धारण करता है। इसी प्रकार सुगंधमयी या दुर्गंधमयी वस्तु के संपर्क से हवा भी सुगंधमयी या दुर्गंधमयी हो जाती है। विवाह के मांगलिक अवसर पर दिया गया वस्त्र मंगल सूचक और मृत्यु के समय कफ़न आदि के रूप में दिया गया वस्त्र अमांगलिक समझा जाता है। इसी प्रकार लोहा नाव में लगकर सबको पार उतारनेवाला और सितार में लगकर मधुर स्वर सुनानेवाला बन जाता है, पर वही तलवार या तीर के साथ लगकर मृत्यु का कारण बन जाता है। जैसे देवी-देवताओं के नाम भी नीच स्त्री-पुरुषों के साथ लग जाने पर निरादर के साथ पुकारे जाते हैं, वैसे ही महान पुरुष भी बुरी संगति में पड़ने के कारण नीच बन जाते है:

1. लाभ 2. धूलि 3. घर 4. **सुक सारीं**=तोता-मैना 5. सुंदर 6. स्याही 7. आग 8. हवा 9. बादल

ग्रह भेषज[1] जल पवन पट[2] पाइ कुजोग सुजोग।
होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग लखहिं सुलच्छन लोग[3]॥

मानस, 1.7(क)

तुलसी भलो सुसंग तें पोच[4] कुसंगति सोइ।
नाउ[5] किंनरी[6] तीर असि[7] लोह[8] बिलोकहु लोइ[9]॥

दोहावली 358

तुलसी गुरु लघुता लहत[10] लघु संगति परिनाम।
देवी देव पुकारिअत नीच नारि नर नाम॥

दोहावली 360

मनुष्य सबसे अधिक संवेदनशील अथवा अच्छे या बुरे प्रभावों को ग्रहण करनेवाला प्राणी है। इसलिए संगति का प्रभाव उस पर और भी विशेष रूप से पड़ता है। यही कारण है कि सत्संग को परमार्थी साधना के लिए अत्यंत आवश्यक माना गया है। तुलसीदास जी बड़े स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि जिनका साधु-संतों के सत्संग में प्रेम नहीं है, वे अभागे जीव परमार्थ के मार्ग से सदा विमुख ही रह जाते हैं। जैसे बादलों के छा जाने से दिन में भी घोर अँधेरा हो जाता है, वैसे ही मनुष्य जीवन पाकर भी कुसंगति के कारण मनुष्य का ज्ञान नष्ट हो जाता है। पर सुसंगति या सत्संग को पाकर उसका हृदय ज्ञान के सूर्य से चमक उठता है:

जे नहिं साधुसंग अनुरागे। परमारथ पथ बिमुख अभागे॥

मानस, 2.167.3

कबहुँ दिवस महँ निबिड़[11] तम कबहुँक प्रगट पतंग[12]।
बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसंग सुसंग॥

मानस, 4.15(ख)

1. दवा 2. वस्त्र 3. **लखहिं...लोग**=गुणी लोग ही इसे समझ सकते हैं। 4. नीच 5. नाव 6. सितार 7. तलवार 8. लोहा 9. लोग 10. पाना 11. घना 12. सूर्य

गुरु रविदास जी भी संगति के प्रभाव का वर्णन इन शब्दों में करते हैं:

प्रभु जी संगति सरनि तिहारी। जग जीवन राम मुरारी॥ टेक॥
गली गली कौ नीर बहि आयो, सुरसरी जाइ समायो।
संगति कै परताप महातम, नांव गंगोदिक पायो॥
स्वांति बूंद बरषै फनि[1] ऊपर, सीस विषै विष होई।
वाही बूंद को मोती निपजै[2], संगति की अधिकाई॥
तुम चंदन हम इरंड[3] बापुरे, निकटि तुम्हारे बासा।
नीच व्रिष तै ऊँच भए हैं, तुम्हरी बास सुबासा॥
जाति भी ओछी पांति भी ओछी, ओछा कसब[4] हमारा।
तुम्हरी क्रिपा तैं ऊंच भए हैं, कहै 'रविदास' चमारा॥

संत गुरु रविदास-वाणी, पद116

सत्संग की महिमा

तुलसीदास जी के अनुसार इस संसार में सत्संग की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है। जिसके बहुत ऊँचे भाग्य होते हैं, उसी को सत्संग प्राप्त होता है। वह घड़ी सचमुच ही धन्य है जब हम किसी पूरे संत या साधु की संगति में आते हैं क्योंकि एक-आध घड़ी का सत्संग भी हमारे करोड़ों पापों को नष्ट कर डालता है।

वास्तव में संत की संगति के समान और कोई लाभ नहीं है। सभी स्वर्गों और मोक्ष का सुख एक क्षण के भी सत्संग के सुख की बराबरी नहीं कर सकता। सत्संग द्वारा हम सच्ची हरिकथा सुनते हैं जिससे मोह दूर हो जाता है, विवेक की उत्पत्ति होती है, हरिभक्ति दृढ़ हो जाती है और परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। पर परमात्मा की कृपा से ही ऐसे सत्संग की प्राप्ति होती है। परमात्मा कृपा करके जिसे किसी संत के सत्संग में ला देते हैं, उसका जीवन धन्य-धन्य हो जाता है:

1. सर्प 2. उत्पन्न होता है 3. रेंड का पौधा 4. व्यवसाय

संत संगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि[1] एकउ बारा॥
मानस, 7.122 (ग).3

धन्य घरी सोइ जब सतसंगा।
मानस, 7.126.4

बड़े भाग पाइब सतसंगा। बिनहिं प्रयास होहिं भव भंगा[2]॥
मानस, 7.32.4

पुन्य पुंज[3] बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति[4] कर अंता॥
मानस, 7.44.3

असन बसन[5] सुत नारि सुख पापिहु के घर होय।
संत समागम रामधन तुलसी दुरलभ दोय॥
तुलसी सतसई, 2.14

संत मिलन सम सुख जग नाहीं॥
मानस, 7.120(ख).7

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान॥
मानस, 7.125(ख)

तात स्वर्ग अपबर्ग[6] सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव[7] सतसंग॥
मानस, 5.4

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥
मानस, 1.2.4

1. **निमिष...भरि**=पल अथवा घड़ी भर 2. **भव भंगा**=आवागमन के चक्र का नष्ट होना।
3. **पुन्य पुंज**=पुण्यों का ढेर 4. संसार के जन्म-मरण का चक्र
5. **असन...बसन**=अन्न-वस्त्र 6. मोक्ष 7. क्षण भर

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

मानस, 7.61.

अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥

मानस, 7.119(ख).10

तुलसी कवनेहुँ जोग ते सतसंगति जब होय।
राम मिलन संशय नहीं कहहिं सुमति सब कोय॥

तुलसी सतसई, 5.38

आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन।
निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन॥

मानस, 7.123(क)

कबीर साहिब भी कहते हैं:

एक घड़ी आधी घड़ी, आधी हूँ से आध।
कबीर संगति साध की, कटै कोटि अपराध॥

कबीर साखी-संग्रह, पृ.50

तुलसीदास जी जिस सत्संग की ओर यहाँ संकेत करते हैं, उसका वास्तविक मर्म समझ लेना आवश्यक है। वह कौन-सा सत्संग है जो परमात्मा की कृपा से किसी संत के मिलाप द्वारा प्राप्त होता है और जिस सत्संग से हरिकथा सुनाई पड़ती है, मोह दूर हो जाता है, विवेक उत्पन्न हो जाता है, परमात्मा के प्रति प्रेम जाग उठता है और अंत में परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है? चूँकि सभी संतों की शिक्षा एक होती है, इसलिए एक संत की वाणी का रहस्य दूसरे संतों की वाणी की सहायता से आसानी से समझा जा सकता है। संतों के अनुसार शब्द ही परमात्मा का रूप है, इसलिए अपने अंदर शब्द-धुन का सुनना ही सच्ची हरिकथा का सुनना है। यही कारण है कि तुलसीदास जी कहते हैं कि स्वर्ग और मोक्ष का

सुख भी सच्चे सत्संग (जिसमें अपने अंदर हरिकथा सुनी जाती है) के एक क्षण के भी सुख की बराबरी नहीं कर सकता और एक-आध घड़ी का सत्संग करोड़ों पापों को नष्ट कर डालता है। बाहर से सतगुरु का उपदेश सुनना बाहरी सत्संग है और अपने अंदर शब्द-धुन को सुनना आंतरिक सत्संग या हरिकथा सुनना है। श्री आदि ग्रन्थ में इसी अर्थ में हरिकथा या हरिकीर्तन का प्रयोग किया गया है:

कथा कीरतन आनंद मंगल धुन पूर रही दिनस अर रात॥

आदि ग्रन्थ, पृ.820

हर कीरतन मह ऊतम धुना॥ नानक गुर मिल गाए गुना॥

आदि ग्रन्थ, पृ.1182

हर कीआ कथा कहाणीआ गुर मीत सुणाईआ॥

आदि ग्रन्थ, पृ.725

इस सत्संग की महिमा बताते हुए तथा बाहरी और आंतरिक सत्संग का भेद समझाते हुए स्वामी जी महाराज कहते हैं:

सतसंग महिमा है अति भारी। पर कोइ जीव मिले अधिकारी॥
पत्थर पानी लेखा बरता। जल मिसरी सम मेल न करता॥
बाहर का संग जब अस होई। सतगुरु सम प्रीतम नहिं कोई॥
तब अंतर का सतसंग धारे। सुरत चढ़े असमान पुकारे॥

सारबचन संग्रह, मास 38: 6:20, 24-26

इसी आंतरिक सत्संग में अपने को लीन करने का आदेश स्वामी जी महाराज देते हैं:

धारा अगम पकड़ सुर्त जोड़ो। इस सतसंग में सदा समाना॥

सारबचन संग्रह, 20:27:4

संत मेंहीदास जी भी बाहरी और आंतरिक सत्संग का भेद बताते हुए कहते हैं:

नित सतसंगति करो बनाई। अन्तर बाहर द्वै विधि भाई॥
धर्म कथा बाहर सत्संगा। अन्तर सत्संग ध्यान अभंगा॥

सत्संयोग, भाग 4, पृ.53

तुलसीदास जी के कथन की स्पष्ट झलक पलटू साहिब के इस पद में मिलती है:

बिना सतसंग ना कथा हरि नाम की, बिना हरि नाम ना मोह भागै॥
मोह भागे बिना मुक्ति ना मिलैगी, मुक्ति बिनु नाहिं अनुराग लागै॥
बिना अनुराग से भक्ति ना मिलैगी, भक्ति बिनु प्रेम उर नाहिं जागै॥
प्रेम बिनु नाम ना नाम बिनु संत ना, पलटू सतसंग बरदान माँगै॥

पलटू साहिब की बानी, भाग2, रेखता21

तुलसीदास जी के अनुसार परमार्थी साधना में हरिकथा या हरिकीर्तन को अपने अंदर सुनना अत्यंत आवश्यक है। भवसागर को पार करने के लिए यही 'दृढ़ नाव' है। पर हरिकथा सुनने का अधिकारी वही होता है जिसे सतगुरु का सत्संग अत्यंत प्यारा लगे। एक बार हरिकथा का रस अंतर में प्राप्त हो जाने पर फिर इससे कभी भी जी नहीं भरता। यही कारण है कि जीवन-मुक्त महात्मा भी इस हरिकथा या हरिगुण को सदा अपने अंदर सुनते रहते हैं। तुलसीदास जी कहते हैं कि इस हरिकथा में जिसे प्रेम नहीं, उसका हृदय मानों पत्थर ही है:

राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह कें सत संगति अति प्यारी॥

मानस, 7.127.3

राम चरित जे सुनत अघाहीं[1]। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥
जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥
भव सागर चह[2] पार जो पावा। राम कथा ता कहँ दृढ़ नावा॥

मानस, 7.52(ख).1-2

जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।
जे हरि कथाँ न करहिं रति तिन्ह के हिय पाषान॥

मानस, 7.42

सत्संग हमारे संशय को दूर करता है, चित्त को शुद्ध करके इसे एकाग्र बनाता और धीरे-धीरे हमारे सभी क्लेशों को हटा देता है। इस प्रकार सत्संग द्वारा हमें मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इसी लिए तुलसीदास जी ने इसे मुद मंगल मूल (आनंद और कल्याण का मूल) कहा है। जिस प्रकार पारस के स्पर्श से लोहा भी सोना बन जाता है, उसी प्रकार सत्संगति के प्रभाव से दुर्जन भी सज्जन बन जाते हैं। इतना ही नहीं बल्कि संतजन पापियों को अपनी संगति में लाकर उन्हें अपना रूप ही बना लेते हैं, जैसे गंगा में मिलकर गंदा पानी भी गंगाजल बन जाता है:

सतसंगति को फल यही संशय रहै न लेश।
है अस्थिर[3] शुचि[4] सरल चित पावै पुनि न कलेश॥

तुलसी सतसई, 6.24

संत संग अपबर्ग[5] कर कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कबि कोबिद[6] श्रुति पुरान सदग्रंथ॥

मानस, 7.33

---

1. तृप्त हो जाते हैं 2. चाहता है 3. स्थिर 4. पवित्र
5. मोक्ष 6. ज्ञानी

सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला[1]॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई॥

मानस, 1.2.4-5

राम कृपा तुलसी सुलभ गंग सुसंग समान।
जो जल परै जो जन मिलै कीजै आपु समान॥

दोहावली 363

संतों की संगति के असीम लाभ, आश्चर्यजनक प्रभाव और अद्‌भुत महिमा का वर्णन करना कठिन है। संतों का सत्संग (बाहरी और आंतरिक) तीर्थ ही नहीं बल्कि तीर्थराज के समान पवित्र होता है। बाहरी तीर्थराज (प्रयाग) तो केवल एक ही जगह स्थित है पर संतों की संगतिरूपी तीर्थराज चलता-फिरता तीर्थराज है। बाहरी तीर्थराज में जो गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम (त्रिवेणी) तथा अक्षयवट है, उसे तुलसीदास जी ने संत-समाजरूपी तीर्थराज में अच्छी तरह घटाकर दिखाया है। यहाँ रामभक्ति का प्रवाह ही पवित्र गंगा की धारा है, ब्रह्म-विचार के प्रचार के रूप में सरस्वती की धारा बहती है तथा निष्काम कर्मयोग की कथा के रूप में यमुना की धारा प्रवाहित होती है। संत समाज में अटल विश्वास ही कभी नष्ट न होनेवाला अक्षयवट है। यह संत-समागम सभी देशों में और हर समय सबको सहज ही प्राप्त हो जाता है जो बाहरी तीर्थराज के लिए संभव नहीं है। सत्संगरूपी तीर्थराज में स्नान करके मनुष्य जीते-जी अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष नामक चारों फलों को प्राप्त कर लेता है। तुलसीदास जी ने अनेक पौराणिक उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि सत्संगरूपी सरोवर में स्नान करने के कारण कौए और बगुले जैसे जीव, जो विषयरूपी गंदगी का भोग करने में लगे हुए थे, कोयल और हंस जैसे बन गए अर्थात् कठोर वचन छोड़कर मीठी बोली बोलने लग गए

1. फूल के समान हैं

और पानी को छोड़ दूध को पीनेवाले हंस की तरह विषय-वासनाओं को छोड़ प्रभुभक्ति के अमृत को पीने लगे। इस प्रकार सत्संग के प्रभाव से जीव का लौकिक और पारमार्थिक कल्याण होता है।

मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम[1] तीरथराजू॥
राम भक्ति जहँ सुरसरि[2] धारा। सरसइ[3] ब्रह्म बिचार प्रचारा॥
बिधि निषेधमय कलिमल[4] हरनी। करम कथा रबिनंदनि[5] बरनी॥
बटु बिस्वास अचल निज धरमा। तीरथराज समाज सुकरमा॥
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा[6]॥
अकथ अलौकिक तीरथराऊ[7]। देइ सद्य[8] फल प्रगट प्रभाऊ॥
सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं[9] अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु[10] साधु समाज प्रयाग॥
मज्जन फल पेखिअ ततकाला। काक होहिं पिक[11] बकउ मराला[12]॥
सुनि आचरज करै जनि कोई। सतसंगति महिमा नहिं गोई[13]॥
बालमीक नारद घटजोनी[14]। निज निज मुखनि कही निज होनी॥
जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना[15]॥
मति कीरति गति[16] भूति[17] भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥

मानस, 1.1.4-7, 1.2, 1-3

इसी लिए तुलसीदास जी प्रभु से बार-बार केवल सत्संग और प्रभुभक्ति का ही वरदान माँगते हैं:

1. चलता-फिरता 2. गंगा 3. सरस्वती 4. कलियुग के पाप को 5. यमुना 6. **समन कलेसा**=क्लेशों को दूर करनेवाला 7. तीर्थराज 8. जल्दी 9. स्नान करना 10. **अछत तनु**=जीते-जी 11. कोयल 12. हंस 13. छिपी हुई 14. अगस्त्य जी 15. संसार में 16. सद्‌गति 17. ऐश्वर्य

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज[1] अनपायनी[2] भगति सदा सतसंग॥

मानस, 7.14(क)

अबिरल भगति बिरति सतसंगा। चरन सरोरुह[3] प्रीति अभंगा॥

मानस, 3.12.6

देहि सतसंग निज-अंग श्रीरंग[4]! भवभंग-कारण[5] शरण-शोकहारी[6]।
ये तु भवदंघ्रिपल्लव-समाश्रित सदा[7], भक्तिरत[8], विगत संशय[9] मुरारी॥

विनय-पत्रिका 57

अन्य संतों ने भी परमार्थी साधना के लिए सत्संग की आवश्यकता पर बहुत ज़ोर दिया है। उदाहरण के लिए गुरु रामदास जी कहते हैं:

गोबिंद जीउ सतसंगत मेल हर धिआईऐ॥

आदि ग्रन्थ, पृ.1179

दरिया साहिब भी कहते हैं:

जौं मीले सतसंग सुभागा। होए बिबेक भग्ति (अरु) बैरागा॥

दरिया-ग्रन्थावली, भाग2, भक्ति हेतु, चौपाई 476

पारस परसे कंचन होई। सो कुधातु कहि सके ना कोई॥

दरिया ग्रन्थावली, भाग 2, ग्यान रतन, चौपाई 1716

1. **पद सरोज**=चरण-कमल 2. अचल, दृढ़ 3. **चरन सरोरुह**=चरण-कमल
4. **निज...श्रीरंग**=प्रभु यह आपका निज अंग है।
5. संसार के जन्म-मरण के चक्र को नष्ट करनेवाला
6. शरण में आए जीवों का शोक दूर करनेवाला
7. जो सदा आपके चरण-कमल का आश्रय लेते हैं। 8. भक्ति में लगे हुए हैं।
9. **विगत संशय**=संदेह नष्ट हो जाता है।

संत समाज सदा सुख राजू। भक्ति महातम सिर पर छाजू॥

दरिया-ग्रन्थावली, भाग 2, ग्यान रतन, चौपाई 1721

इसी लिए कबीर साहिब कहते हैं:

कबीर संगत साध की जौ की भूसी खाय।
खीर खाँड भोजन मिलै, साकत संग न जाय॥

कबीर साखी-संग्रह, पृ.49

तुलसी साहिब का भी यह स्पष्ट वचन है:

बिन सतसंग समझ नहिं आवै। सतगुरु बिना राह नहिं पावै॥

घट रामायण, भाग2, पृ.129

स्वामी जी महाराज भी बड़ी स्पष्टता के साथ कहते हैं:

यह मारग निज संत का। सतसँग से पइये॥

सारबचन छन्द-बन्द, 6:18:13

सतसंग महिमा कहा बखानूं। अस सम यत्न और नहिं मानूँ॥

सारबचन छन्द-बन्द, 11.1.54

बिन सतसंग बूझ नहिं आवे। भाग बिना सतसंग न पावे॥

सारबचन छन्द-बन्द, 41:15:4

पूरन दया गुरू जब करईं। भक्ति पदारथ जबही मिलई॥

सारबचन संग्रह, 8:1:59

ताते सतसंग सतगुरु सेवो। नाम पदारथ दम दम लेवो॥

सारबचन संग्रह, 16:1:62

नाम

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥

मानस, 1.25.4, 1.26.1

नाम की बड़ाई मैं कहाँ तक कहूँ? दशरथ के पुत्र राम भी नाम के गुणों को नहीं गा सकते। चारों युगों, तीनों कालों और तीनों लोकों में नाम को जपकर ही जीव दु:खों से मुक्त हुए हैं। वेद, पुराण और संतों का मत भी यही है। सभी सत्कर्मों का फल भी रामनाम से ही प्रेम करना है।

नाम का रहस्य

तुलसीदास जी ने सतगुरु और सत्संग को इसलिए इतना आवश्यक बताया है कि सतगुरु की संगति में आने पर ही हमें सतगुरु द्वारा नाम का भेद प्राप्त होता है। यह नाम ही परमार्थ का सार है और नाम-भक्ति ही सच्ची हरिभक्ति है। तुलसीदास जी बड़े स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि नाम का भेद जाने बिना चारों वेद, चौदह शास्त्र, अठारहों पुराण आदि सद्ग्रंथों का पढ़ना-पढ़ाना, सुंदर रीति से पाठ करना या गाना अथवा बौद्धिक विवेचन करना धूलि के समान तुच्छ और निस्सार है। नाम का भेद केवल सतगुरु द्वारा ही प्राप्त होता है। सतगुरु के बिना कोई भी नाम का भेद प्राप्त नहीं

कर सकता, भले ही वह ब्रह्मा और शिव के समान भी क्यों न हो और बिना इस भेद को पाए वह कभी भी संसार-सागर को पार नहीं कर सकता। जैसा कि तुलसीदास जी कहते हैं:

चारौ चौदह अष्टदश, रस समुझब भरिपूर।
नाम भेद समुझै बिना, सकल समझ महँ धूर॥

तुलसी सतसई, 6.97

जहँ लगि जन[1] देखब सुनब समुझव कहब सुरीत[2]।
भेद बिना कछु है नहीं तुलसी बदहिं बिनीत[3]॥

तुलसी सतसई, 6.100

भेद जाहि बिधि नाम मँह, बिन गुरु जान न कोय।
तुलसी कहहिं बिनीत बर, जौं बिरंचि[4] शिव होय॥

तुलसी सतसई, 6.101

गुर बिनु भव निधि[5] तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥

मानस, 7.92(ख).3

यद्यपि परमात्मा सर्वव्यापी, चेतन और आनंद का भंडार है और हमारे हृदय के अंदर ही निवास करता है, फिर भी नाम की साधना किए बिना हम उसे प्रकट नहीं कर सकते। इस तरह अपने अंदर परमात्मा के रहते हुए भी संसार के जीव दु:खी बने रहते हैं। केवल यत्नपूर्वक नाम की साधना द्वारा यथार्थ रूप में नाम का अनुभव करने पर ही परमात्मा प्रकट होता है, जैसे रत्न को खोदकर निकाल लेने पर उसकी क़ीमत अपने आप प्रकट हो जाती है:

---

1. लोग 2. **कहब सुरीत**=सुंदर ढंग से पाठ करना
3. **बदहिं बिनीत**=विनम्र भाव से कहते हैं। 4. ब्रह्मा 5. **भव निधि**=संसार-सागर

ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी[1]॥
अस प्रभु हृदयँ अछत[2] अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥
नाम निरूपन[3] नाम जतन तें[4]। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥

मानस, 1.22.3-4

फिरत भटकत जगत में, हरि हृदय जीवन मूरि[5] रे।
नाम को जान्यो नहीं, सब जानिवे में धूरि रे॥

बारहमासी, पृ.4

अपने प्रसिद्ध ग्रंथ *रामचरितमानस* की रचना भी तुलसीदास जी ने नाम की महिमा बताने के लिए ही की है। वह कहते हैं कि मेरी रचना भले ही सभी गुणों से रहित हो पर इसमें प्रभु के नाम की महिमा गाई गई है जो विश्वविख्यात तथा अत्यंत पवित्र है और जो वेद, पुराण आदि सभी सद्ग्रंथों का सार है:

भनिति[6] मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह कें बिमल बिबेक॥
एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा।

मानस, 1.9, 1

जिस नाम का भेद परमात्मा-स्वरूप सतगुरु से प्राप्त होता है, उस नाम से तुलसीदास जी का क्या तात्पर्य है, यह समझ लेना आवश्यक है। यह नाम किसी अवतार विशेष का वर्णात्मक नाम नहीं हो सकता क्योंकि तुलसीदास जी इस नाम को सर्वोच्च सत्ता मानते हैं, जिससे सूर्य, चंद्रमा आदि नक्षत्रों और अग्नि आदि तत्त्वों सहित समूची सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। देवताओं के शिरोमणि माने जानेवाले ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी इसे

1. **आनँद रासी**=आनंद का भंडार 2. रहते हुए भी 3. यथार्थ अनुभव
4. **नाम...तें**=नाम के अभ्यास द्वारा 5. **जीवन मूरि**=परमात्मारूपी संजीवन बूटी
6. रचना

सिर झुकाते हैं। तुलसीदास जी इस नाम को परमात्मा का स्वरूप मानकर इसकी वंदना करते हुए कहते हैं:

बंदउँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु[1] भानु[2] हिमकर[3] को॥

मानस, 1.18.1

भानु कृशानु मयंक[4] को कारन रघुबर नाम।
बिधि हरि शंभु[5] शिरोमणि प्रणत[6] सकल सुखधाम॥

तुलसी सतसई, 2.39

तुलसीदास जी के अनुसार इस नाम के नामी अर्थात् परमात्मा से एकता का संबंध है और परमात्मा नाम का ही अनुगमन करता है अर्थात् नाम के पीछे चलता है। दूसरे शब्दों में, जहाँ नाम प्रकट होता है वहीं परमात्मा भी प्रकट होता है; या यों कहें कि नाम द्वारा ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। इस बात को बताते हुए तुलसीदास जी कहते हैं:

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी॥

मानस, 1.20.1

तुलसीदास जी की तरह स्वामी जी महाराज ने भी नाम और नामी की एकता बताई है। वह कहते हैं:

एकता नाम और नामी। करावें जो मिलें स्वामी॥

सारबचन संग्रह, 10:1:7

नामी यानी परमात्मा अपने को नाम के ही रूप में व्यक्त करता है। परमात्मा के निर्गुण (निराकार) और सगुण (साकार) – दो रूप माने जाते हैं। नाम परमात्मा के इन दोनों रूपों का सार है। परमात्मा का निर्गुण रूप

1. अग्नि 2. सूर्य 3. चंद्रमा 4. चंद्रमा
5. **बिधि...शंभु**=ब्रह्मा, विष्णु और शिव 6. सिर झुकाना

और उसका सगुण (मनुष्य अर्थात् देहधारी गुरु) रूप – दोनों ही वास्तव में नाम से अभिन्न हैं। फिर भी तुलसीदास जी साधक की व्यावहारिक दृष्टि से नाम को परमात्मा के निर्गुण और सगुण – दोनों रूपों से अधिक उपयोगी या महत्त्वपूर्ण बताते हैं; क्योंकि नाम में परमात्मा के दोनों रूपों की अच्छाइयाँ विद्यमान हैं और साथ ही नाम इन दोनों रूपों की त्रुटियों से रहित है। परमात्मा अपने निर्गुण रूप में अविनाशी है (अच्छाई) पर यह अगम और अगोचर अर्थात् हमारी पहुँच से बाहर है (त्रुटि), जबकि अपने सगुण (मनुष्य) रूप में यह सुगम और इंद्रियगोचर अर्थात् हमारी पहुँच के अंदर है (अच्छाई), पर यह नश्वर है (त्रुटि)। नाम की विशेषता यह है कि यह परमात्मा के निर्गुण रूप के समान अविनाशी होते हुए उसके सगुण रूप के समान हमारी पहुँच के अंदर है क्योंकि बाहरी वर्णात्मक नाम को बोला या सुना जा सकता है और आंतरिक धुनात्मक नाम को आंतरिक प्रकाश और आंतरिक शब्द के रूप में अपने अंदर देखा और सुना जा सकता है। अपनी इसी विशेषता के कारण नाम परमात्मा के निर्गुण और सगुण – दोनों रूपों की वास्तविकता का बोध करवाता है, उनके पारस्परिक संबंध या एकता को प्रकट करता है और साथ ही जीवों की मुक्ति का भी एकमात्र साधन सिद्ध होता है (जो बंधनग्रस्त जीवों के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है)। नाम की इस विशेषता को बताते हुए तुलसीदास जी इसकी तुलना एक कुशल दुभाषिए से करते हैं जो एक बिचौलिए का काम करके परमात्मा के निर्गुण और सगुण रूपों के बीच संबंध दिखाता है और उनके यथार्थ स्वरूप का बोध कराता है। जैसा कि तुलसीदास जी कहते हैं:

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी[1]। उभय प्रबोधक[2] चतुर दुभाषी[3]॥

मानस, 1.20.4

1. उत्तम प्रमाण 2. बोध करानेवाला 3. दुभाषिया

नामी यानी परमात्मा के समान नाम भी अविनाशी है। तुलसीदास जी कहते हैं कि नाम चारों युगों में प्रभाव रखनेवाला है। यही वेद, पुराण और संतमत की शिक्षा का सार है। चारों युगों, तीनों कालों और तीनों लोकों में नाम को जपकर ही जीव जन्म-मरण के दु:ख से मुक्त होते हैं। विशेषकर इस कलियुग में, जो घोर पाप से भरा हुआ है और पापरूपी समुद्र में मनुष्य का मन मछली के समान लीन है। इस समय में मनुष्य के मन को पाप से मुक्त करने का नाम के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। नाम इस लोक में माता-पिता के समान हमारी सँभाल करता है और साथ ही हमारा परमार्थ भी सँवार देता है। इसलिए इस कलियुग में, जो पापों का घर है, अन्य सभी साधनों का भरोसा छोड़कर हमें एकमात्र नाम के सुमिरन और भजन में लग जाना चाहिए। कलियुग में नाम का प्रताप पूरी तरह प्रकट है और नाम-भक्ति में लगा जीव संसार-सागर को अवश्य पार करता है। जैसा कि तुलसीदास जी कहते हैं:

चहुँ जुग चहुँ श्रुति[1] नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥

मानस, 1.21.4

चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका[2]॥
बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥

मानस, 1.26.1

कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि[3] जन मन मीना[4]॥
नाम कामतरु[5] काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥
राम नाम कलि अभिमत[6] दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥

मानस, 1.26.2-3

1. **चहुँ श्रुति**=चारों वेद 2. शोक रहित 3. **पाप पयोनिधि**=पापरूपी समुद्र
4. मछली 5. कल्पवृक्ष 6. मनचाही वस्तु

यह कलिकाल मलायतन[1] मन करि देखु बिचार।
श्रीरघुनाथ नाम तजि नाहिन आन अधार॥

मानस, 6.121(ख)

कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना[2]॥
सब भरोस तजि जो भज रामहि। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥

मानस, 7.102(ख).3-4

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो नाम या रामनाम चारों युगों और तीनों कालों में जीवों का उद्धार करनेवाला कहा गया है, वह त्रेता युग में उत्पन्न होनेवाले दशरथ-पुत्र राम का वर्णात्मक नाम नहीं हो सकता क्योंकि त्रेता से पहले सतयुग में राम का यह वर्णात्मक नाम प्रचलित नहीं था। इससे यह सिद्ध होता है कि नाम से तुलसी का तात्पर्य उस सच्चे अविनाशी धुनात्मक नाम से है जो सभी वर्णात्मक नामों से परे है और अविनाशी परमात्मा का सार है। यदि नाम से तुलसीदास जी का तात्पर्य दशरथ-पुत्र राम के केवल वर्णात्मक नाम से होता तो उसके गूढ़ रहस्य को प्राप्त करने के लिए परमात्मा स्वरूप सतगुरु की कोई आवश्यकता नहीं होती।

साधारणत: संतों ने नाम के दो भेदों का उल्लेख किया है: (1) वर्णात्मक और (2) धुनात्मक (ध्वन्यात्मक)। जो शब्द वर्णों या अक्षरों में व्यक्त किए जा सकते हैं या जो लिखने, पढ़ने और बोलने में प्रयुक्त होते हैं, उन्हें वर्णात्मक नाम या वर्णात्मक शब्द कहते हैं। पर जो शब्द-धुन अंतर्मुखी अभ्यास द्वारा अपने अंतर में सुनी जाती है, उसे धुनात्मक नाम कहते हैं। सतगुरु के दिए हुए वर्णात्मक नाम के द्वारा ही धुनात्मक नाम को अपने अंदर प्रकट किया जा सकता है। सतगुरु के बिना वर्णात्मक

1. पापों का घर 2. **गुन गाना**=संतों के अनुसार शब्द-धुन का सुनना।

नाम को जपकर कोई विशेष लाभ नहीं उठाया जा सकता। स्वामी जी महाराज ने बड़े स्पष्ट रूप से कहा है:

नाम निर्णय करूँ भाई। दुधा विधि भेद बतलाई॥
वर्ण धुनआत्मक गाऊँ। दोऊ का भेद दरसाऊँ॥
वर्ण कहु चाहे कहु अक्षर। जो बोला जाय रसना कर॥
लिखन और पढ़न में आया। उसे वर्णात्मक गाया॥
लखायक है यही धुन का। बिना गुरु फल नहीं किनका[1]॥
वर्ण से सुरत मन माँजो। बहुरि चढ़ गगन धुन साधो॥
धुनी धुन एक कर जानो। सुरत से शब्द पहिचानो॥
शब्द और सुरत भये एका। नाम धुनआत्मक देखा॥
गुरु बिन और बिना करनी। मिले कस कहो यह रहनी॥

सारबचन संग्रह, 10:1:1-12

तुलसीदास जी ने भी नाम के इन दोनों भेदों को स्वीकार किया है पर उन्होंने 'श्रवणात्मक' नामक शब्द के एक और भेद का उल्लेख किया है। 'श्रवणात्मक' से उनका तात्पर्य बाहर की उन ध्वनियों से है जो किसी प्रकार के टंकार, गर्जन या बाहरी बाजे-गाजे से उत्पन्न होती हैं। इन्हें भी वर्णों या अक्षरों में लिखा, पढ़ा या बोला नहीं जा सकता, केवल श्रवण (कान) द्वारा इन्हें सुना जा सकता है। आंतरिक धुनात्मक शब्द को बाहरी ध्वनियों से परे और भिन्न बताने के लिए तुलसीदास जी ने इस 'श्रवणात्मक' शब्द का एक अलग भेद बताया है। शब्द के इन तीन भेदों को बताकर तुलसीदास जी कहते हैं कि शब्द-भेद को अच्छी तरह न परखने के कारण लोग बाहरी शब्द या ध्वनि को ही सब कुछ मानकर केवल इसी में भूले रह जाते हैं। पर जब परमात्मा स्वरूप गुरु की कृपा से आंतरिक शब्द-धुन यानी नाम का भेद मिल जाता है तब जीव

1. कण के बराबर भी

के अंदर ज्ञान का सूरज प्रकाशित हो उठता है। इस तथ्य को समझाते हुए वह कहते हैं:

श्रवणात्मक ध्वन्यात्मक वर्णात्मक विधि तीन।
त्रिविध शब्द अनुभव अगम तुलसी कहहिं प्रवीन[1]॥

तुलसी सतसई, 4.14

रसना-सुत[2] पहिचानि बिनु कहहु न कौन भुलान।
जानै कोऊ हरि गुरु कृपा उदित भये रबि ज्ञान॥

तुलसी सतसई, 4.16

तुलसीदास जी परमात्मा की दो उपाधियों या विशेषताओं का उल्लेख करते हैं जिन्हें वह नाम (शब्द-धुन) और रूप (दिव्य प्रकाश) कहते हैं। इन्हीं दोनों के सहारे हम नामी (परमात्मा) तक पहुँचते हैं। दोनों ही अनादि और अकथ हैं क्योंकि दोनों ही अनादि काल से हमारे अंदर हैं और इन्हें किसी भी भाषा में लिखा, पढ़ा या बोला नहीं जा सकता। वर्णात्मक नाम के अभ्यास से मन के निर्मल होने पर ही इनकी सिद्धि होती है अर्थात् ये प्रकट होते हैं। इनमें से किसी को भी बड़ा या छोटा कहना ठीक नहीं। इनके गुण और रहस्य को जानकर साधुजन स्वयं इन्हें समझ सकते हैं। दिव्य रूप या प्रकाश का दिखाई पड़ना नाम (शब्द-धुन) के अधीन है अर्थात् शब्द-धुन से ही प्रकाश आता है। नाम के खुले बिना यदि कोई विशेष प्रकार का प्रकाश दिखाई भी पड़े तो उसके रहस्य की पहचान उसी तरह नहीं हो सकती जिस तरह पारखी के बिना हथेली पर रखे हुए हीरे की परख नहीं होती। पर प्रकाश को देखे बिना केवल नाम के सुमिरन से ही हृदय के अंदर विशेष रूप से प्रेम उभर आता है। तुलसीदास जी कहते हैं कि नाम (शब्द-धुन) और रूप (दिव्य प्रकाश) की यह कहानी अकथ है क्योंकि इसका केवल अनुभव किया जा सकता है, वर्णन नहीं किया जा सकता:

1. ज्ञानी 2. शब्द

नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि[1] साधी[2]॥
को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेदु समुझिहहिं साधू॥
देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत[3] न परहिं पहिचानें॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥
नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी॥

मानस, 1.20.1-4

तुलसीदास जी समझाते हैं कि गुरु द्वारा बताए गए वर्णात्मक नाम को सुनकर और उसमें विश्वास करके जब हम उसका सुमिरन करते हैं, तब गुरु की कृपा से हमारे अंदर शब्द-धुन प्रकट हो जाती है। यह शब्द की धार समुद्र की तरह अगम और अपार है। सतगुरु के सत्संग के सहारे ही इस निर्मल या पवित्र शब्द की धार का ज्ञान होता है। यह शब्द की धार ही हमें कर्ता से मिलाती और अपने निज सुखधाम में पहुँचाती है। पर जब तक हम सतगुरु की कृपा से उनकी बताई हुई साधना का विधिपूर्वक अभ्यास नहीं करते, तब तक भला यह अनुभव कैसे हो सकता है और हमारे दु:खों का अंत कैसे हो सकता है?

सुनै बरण[4] मानै बरण बरण बिलग नहिं ज्ञान[5]।
तुलसी गुरु प्रसाद बल परत बरण पहिचान॥

तुलसी सतसई, 4.55

वर्णधार[6] बारिधि[7] अगम को गम करै अपार।
जन तुलसी सतसंग बल पाये विषद[8] बिचार॥

तुलसी सतसई, 4.11

1. निर्मल विवेक से 2. अंदर प्रकट होता है 3. **करतल गत**=हथेली पर रखा
4. **सुनै बरण**=वर्णात्मक नाम सुनना 5. **बरण...ज्ञान**=आंतरिक ज्ञान नहीं हो सकता
6. शब्द की धार 7. समुद्र 8. निर्मल

करता जानि न परत है बिनु गुरुवर प्रसाद।
तुलसी निज सुख विधि रहित[1] केहि विधि मिटै बिषाद[2]।

तुलसी सतसई, 5.85

सुमिरन के अभ्यास पर ज़ोर देते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि अपनी आंतरिक जीभरूपी ड्योढ़ी के दरवाज़े पर रामनाम का मणिदीपक रखो। संतों के अनुसार दोनों भौंहों के बीच का स्थान ही आंतरिक ड्योढ़ी का दरवाज़ा है। इस केंद्र पर ध्यान जमाकर नाम का सुमिरन करने से नाम का मणिदीपक प्रकाशित हो उठता है। इस दीपक के प्रकाश में जीव को अंदर और बाहर जो भी चाहे, सबका ज्ञान प्राप्त हो जाता है। तुलसीदास जी का यह निश्चित सिद्धांत है कि यह यथार्थ ज्ञान तभी प्राप्त होता है जब हमें गुरु मिलते हैं। सुमिरन और भजन के अभ्यास द्वारा आंतरिक दिव्य प्रकाश को देखने और दिव्य धुन को सुनने की ओर संकेत करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि रामनाम का सुमिरन और भजन करो तथा राम को (दिव्य प्रकाश के रूप में) देखो और राम को (दिव्य धुन के रूप में) सुनो। राम को जानने के लिए दिन-रात इस सुमिरन और भजन के काम की ओर हमारी लाग लगी रहनी चाहिए। इसके बिना जीव राम से अनजान रह जाता है और तब भला कैसे वह अपने परमधाम को प्राप्त कर सकता है?:

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ[3] जौं चाहसि उजिआर[4]॥

मानस, 1.21

गुरु करिबो सिद्धान्त यह होय यथारथ बोध।
अनुचित उचित लखाय उर तुलसी मिटै बिरोध॥

तुलसी सतसई, 6.23

1. **विधि रहित**=विधिपूर्वक अभ्यास के बिना 2. **केहि...बिषाद**=दु:ख कैसे मिटेगा?
3. भीतर और बाहर-दोनों ओर 4. **चाहसि उजियार**=प्रकाश चाहता है

सुमिरु राम भजु राम पद देखु राम सुनु राम।
तुलसी समझहु राम कहँ अहनिशि[1] यह तव काम॥

तुलसी सतसई, 2.92

रामहिं जानहिं रामरट भजु रामहिं तजु काम।
तुलसी राम अजान नर किमि पावहिं पर धाम॥

तुलसी सतसई, 2.23

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसीदास जी ने नाम की बहुत महिमा की है और नाम और नामी को एक बताया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि नाम ही सृष्टि का आधार है और नाम के भेद की प्राप्ति किसी पहुँचे हुए महात्मा यानी पूर्ण गुरु से ही होती है। नाम के इन पक्षों के बारे में विभिन्न संतों ने अपनी वाणी में जो कहा है, उसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं।

पलटू साहिब कहते हैं कि नाम के भेद के जानकार केवल संत ही होते हैं और वे ही नाम के अभ्यास का भेद बताते हैं:

संत सनेही नाम है नाम सनेही संत॥
नाम सनेही संत नाम को वही मिलावैं।
वे हैं वाकिफकार[2] मिलन की राह बतावैं॥
जप तप तीरथ बरत करै बहुतेरा कोई।
बिना वसीला[3] संत नाम से भेंट न होई॥
कोटिन करै उपाय भटक सगरौ से आवै।
संत दुवारे जाय नाम को घर तब पावै॥

पलटू साहिब की बानी, भाग1, कुंडलिया14

दरिया साहिब भी उसी को सतगुरु कहते हैं जो शब्द का अनुरागी है और जो शब्द का भेद देकर जीवों का उद्धार करता है:

1. दिन-रात 2. जानकार 3. ज़रिया

सतगुर सो सत सब्द सनेही...।
दरिया-ग्रन्थावली, भाग1, पृ.122

सतगुर सो सत सब्द द्रिढ़ावै। जीव मुकुताए पाप सब जावै॥
संत दरिया, विवेक सागर, पृ.14-66

दरिया सब्द बिचारिये, तीनि लोक ते न्यार।
गुर ते भ्रम जनि राखहु, मिलहि सब्द निजु सार॥
दरिया सागर, पृ.5

स्वामी जी महाराज भी बड़े स्पष्ट शब्दों में इसकी पुष्टि करते हैं:

भेद नाम का जब तू पावे। सतसंग में स्वामी के आवे॥
सारबचन छन्द-बन्द, 11:1:109

जब लग सतगुरु मिलें न पूरे। पड़े रहोगे अघ में॥
नाम सुधा रस कभी न पाओ। भरमो जोनी खग में॥
सारबचन संग्रह, 15:20:3-4

गुरु की भक्ति प्रेम चित धारो। वही सुधारें काम॥
नाम भेद दे सुरत चढ़ावें। पहुचावें निज धाम॥
सारबचन संग्रह, 20:22:2-3

शब्द भेद तुम गुरु से पाओ। शब्द माहिं फिर जाय समाओ॥
सारबचन संग्रह, 9:5:7

हम देख रहे हैं कि तुलसीदास जी ने नाम को सृष्टि का आधार माना है। इसी भाव को अन्य संतों ने भी प्रकट किया है। गुरु नानक साहिब कहते हैं:

सबदै धरती सबदै अकासु। सबदै सबद होआ परगासु॥
सारी स्रिसटि सबद के पाछै। नानक सबद घटै घटि आछै॥
स्री प्राण संगली, पृ.103

गुरु अर्जुन देव जी भी यही कहते हैं:

नाम के धारे सगले जंत॥ नाम के धारे खंड ब्रहमंड॥...
नाम के धारे आगास पाताल॥ नाम के धारे सगल आकार॥
आदि ग्रन्थ, पृ.284

दरिया साहिब भी इसी की पुष्टि करते हुए कहते हैं:

सब्दे धरती सब्द अकासा। सब्दे भगति प्रेम परकासा॥
सब्दे रचा सकल संसारा। सब्दे बंधन लोक बिस्तारा॥
दरिया-ग्रन्थावली, भाग2, *दरिया सागर*, चौपाई 935-936

कबीर साहिब का भी यही उपदेश है। वह कहते हैं:

साधो सब्द साधना कीजै।
जेहिं सब्द तें प्रगट भये सब, सोई सब्द गहि लीजै॥
कबीर साहिब की शब्दावली, भाग1, पृ.4

स्वामी जी महाराज भी शब्द को ही सृष्टिकर्ता बताते हुए कहते हैं:

शब्द ने रची त्रिलोकी सारी।
सब की आदि शब्द को जान। अंत सभी का शब्द पिछान॥
सारबचन संग्रह, 9:2:1 और 9:3:1

सतगुरु के दिए हुए वर्णात्मक नाम के सुमिरन से सच्चे शब्द यानी धुनात्मक नाम के प्रकट होने का उल्लेख भी अन्य संतों ने किया है। उदाहरण के लिए दरिया साहिब कहते हैं:

इह अच्छर महं निअच्छर पावै। ग्यान भगति जब द्रिढ़ता लावै॥
दरिया-ग्रन्थावली, भाग2, *दरिया सागर*, चौपाई 465

भाव भगति जो द्रिढ़ता लावै। हीरा नाम सौ परगट पावै॥
भूले फिरहिं बिना गुर ग्यानी। सत सब्द नहिं पावहिं बानी॥
भगति हेतु प्रगट होए जाई। जब सुमिरै दृढ़ प्रेम लगाई॥

दरिया-ग्रन्थावली, भाग 2,
दरिया सागर, चौपाई 493-494, 497

स्वामी जी महाराज भी इसी सत्य की पुष्टि करते हुए कहते हैं:

लिखन और पढ़न में आया। उसे वर्णात्मक गाया॥
लखायक है यही धुन का। बिना गुरु फल नहीं किनका॥
वर्ण से सुरत मन माँजो। बहुरि चढ़ गगन धुन साधो॥
गुरू बिन और बिना करनी। मिले कस कहो यह रहनी॥

सारबचन संग्रह, 10:1:4-5, 9, 12

इसमें संदेह नहीं कि धुनात्मक या नि:अक्षर नाम को ही संतों ने सच्चा शब्द या नाम कहा है। पलटू साहिब ने समझाया है:

जो कोइ चाहै नाम तो नाम अनाम है।
लिखन पढ़न में नाहिं निअच्छर काम है॥
नाम डोरि है गुप्त कोऊ नहिं जानता।
नि:अच्छर नि:रूप दृष्टि नहिं आवता॥

पलटू साहिब की बानी, भाग2, अरिल्ल 2-3

मूल शब्द के प्रकाश और ध्वनि के रूप में प्रकट होने का उल्लेख अन्य संतों ने भी किया है। गुरु नानक साहिब कहते हैं:

अंतर जोत निरंतर बाणी साचे साहिब सिउ लिव लाई॥

आदि ग्रन्थ, पृ.634

पलटू साहिब भी कहते हैं:

दीपक बारा नाम का महल भया उजियार॥
महल भया उजियार नाम का तेज बिराजा।
सब्द किया परकास मानसर ऊपर छाजा॥...
होत छतीसो राग दाग तिर्गुन का छूटा।
पूरन प्रगटे भाग करम का कलसा फूटा॥

पलटू साहिब की बानी, भाग1, कुंडलिया 15

वह फिर कहते हैं:

उलटा कूवा गगन में तिस में जरै चिराग॥
तिस में जरै चिराग बिना रोगन बिन बाती।
छ: रितु बारह मास रहत जरतै दिन राती॥...
निकसै एक अवाज चिराग की जोतिहिं माहीं।
ज्ञान समाधी सुनै और कोउ सुनता नाहीं॥

पलटू साहिब की बानी, भाग1, कुंडलिया 169

दरिया साहिब भी कहते हैं:

मूल सब्द धुनि होत अंजोरा। सुरति बांधि राखे एक ठौरा॥

दरिया-ग्रन्थावली, भाग2, दरिया सागर, चौपाई 165

वह फिर कहते हैं:

आगे मारग झीन अति है सब्द सुरति बिचारहीं।
अजर जोति अनूप बानी देखि तंह सुख पावहीं॥

दरिया-ग्रन्थावली, भाग2, दरिया सागर, छन्द 5

स्वामी जी महाराज भी बार-बार आंतरिक ज्योति और धुन का उल्लेख करते हैं:

सीतल शब्द जोत लख पाई। गगन मँडल में सुरत समाई॥
सारबचन संग्रह, 6:16:2

गई नभ अन्दर जोत लखा री। देख कर तारा शब्द सुना री॥
सारबचन संग्रह, 6:19:5

देखियो जोत उजाला चमचम। रहो फिर धुन में छिन छिन रम रम॥
सारबचन संग्रह, 9:6:4

अन्य संतों के विचारों के साथ तुलसीदास जी के विचारों की समानता देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य सभी संतों के समान तुलसीदास जी ने भी नाम को अपनी शिक्षा का मूल आधार रखा है।

अन्य संतों के समान नाम से तुलसी का तात्पर्य धुनात्मक नाम ही है। 'राम' का केवल वर्णात्मक नाम तुलसीदास जी का अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता क्योंकि वह राम या परमात्मा को मन, बुद्धि और तर्क के साथ ही वर्ण या वचन से भी परे मानते हैं। परम दयालु, परमपुरुष, परमधाम और सबका स्वामी परमात्मा जिसे संत अपने प्यार में अनेक वर्णात्मक नामों से याद करते हैं, वास्तव में अनामी अर्थात् सभी वर्णात्मक नामों से परे है। उसे केवल आंतरिक अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। जैसा कि तुलसीदास जी स्पष्ट रूप से कहते हैं:

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी॥
मानस, 1.120 (घ).2

मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगम[1] नेति[2] कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस रहई[3]॥
मानस, 1.340.4

1. वेद 2. इसका अंत नहीं है 3. **तिहुँ...रहई**=तीनों कालों में एक समान है।

एक अनीह[1] अरूप अनामा। अज[2] सच्चिदानंद पर धामा[3]॥
मानस, 1.12.2

अकल[4] अनीह अनाम अरूपा। अनुभव गम्य अखंड अनूपा॥
मानस, 7.110 (घ).2

तग्य[5] कृतग्य[6] अग्यता भंजन। नाम अनेक अनाम निरंजन[7]॥
मानस, 7:33.3

अनामी पुरुष का कोई भी वर्णात्मक नाम नहीं हो सकता। फिर भी सबमें रमे हुए होने के कारण उसे 'राम' नामक वर्णात्मक नाम से अकसर याद किया जाता है। पर संतों के अनुसार अनामी पुरुष का सच्चा नाम भी वास्तव में अनाम अर्थात् वर्णों से परे ही है। अनामी पुरुष के इस सच्चे नाम (अनाम) को ही, जो लिखने, पढ़ने या बोलने में नहीं आता, संतजन 'नाम', 'रामनाम' या 'हरिनाम' कहते हैं।

तुलसीदास जी ने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि केवल वर्णात्मक शब्दों के ज्ञान या वाक्य-ज्ञान द्वारा कोई संसार-सागर को पार नहीं कर सकता। परमार्थी साधना करनी का मार्ग है, कथनी का नहीं। धुनात्मक नाम का अभ्यास किए बिना वाचक ज्ञान, बौद्धिक विश्लेषण या बाहरी पठन-पाठन द्वारा हम परमात्मा का आंतरिक अनुभव नहीं कर सकते। दीपक की केवल बातें करने से रात्रि का अँधेरा दूर नहीं होता, कल्पवृक्ष या कामधेनु का केवल चित्र बनाने से किसी दीन-दुखिया को भोजन नहीं मिलता, षट्रस भोजन का दिन-रात केवल बखान करने से भोजन का सुख-संतोष नहीं मिल सकता और धन-दौलत की केवल बातें करते रहने से कोई धनी नहीं हो जाता। ठीक इसी तरह जब तक हम गुरु के बताए मार्ग पर चलकर नाम के अभ्यास द्वारा अपने हृदय को प्रकाशित

1. इच्छा रहित 2. अजन्मा 3. **पर धामा**=परमधाम 4. अखंड
5. असलियत को जाननेवाला 6. सेवा को माननेवाला
7. अंजन (माया) रहित

नहीं कर लेते, तब तक न हम परमात्मा की प्राप्ति कर सकते हैं और न हमारा जन्म-मरण का चक्कर ही समाप्त हो सकता है:

वाक्य-ग्यान अत्यंत निपुन भव-पार न पावै कोई।
निसि[1] गृहमध्य[2] दीप की बातन्ह, तम निबृत्त नहिं होई॥
जैसे कोई इक दीन दुखित अति असन-हीन[3] दुख पावै।
चित्र कलपतरु कामधेनु गृह लिखे न बिपति नसावै॥
षटरस बहु प्रकार भोजन कोउ, दिन अरु रैन[4] बखानै।
बिनु बोले संतोष-जनित सुख खाइ सोइ पै जानै॥
जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास, अरु बिषय-आस मनमाहीं।
तुलसिदास तब लगि जग-जोनि भ्रमत[5] सपनेहुँ सुख नाहीं॥

विनय-पत्रिका 123

धन धन कहे न होत कोउ समुझि देखु धनमान।
होत धनिक तुलसी कहत दुखित न रहत जहान॥

तुलसी सतसई, 4.73

इसी भाव को व्यक्त करते हुए कबीर साहिब ने भी कहा है:

बिन देखे बिन दरस परस बिन, नाम लिये का होई।
धन के कहे धनी जो होई निरधन रहै न कोई॥

कबीर साहिब की शब्दावली, भाग3, पृ.47

स्वामी जी महाराज भी कथनी को छोड़ करनी करने और परमार्थी अभ्यास द्वारा सच्चे नाम यानी सार शब्द को प्राप्त करने का उपदेश देते हैं:

1. रात 2. घर के अंदर 3. भोजन के बिना 4. रात
5. **जग-जोनि भ्रमत**=संसार की योनियों में भटकना

यह करनी का भेद है, नाहीं बुद्धि विचार।
बुद्धि छोड़ करनी करो, तो पावो कुछ सार॥

सारबचन छन्द-बन्द, 24:1:148

नाम की महिमा

नाम की अपार महिमा और असीम प्रभाव का वर्णन करते हुए तुलसीदास जी कभी नहीं थकते। उनके अनुसार नाम ही वेद, पुराण, उपनिषद् आदि सद्ग्रंथों का निचोड़ और संतमत का सार है। इसकी महिमा इतनी अधिक है कि स्वयं राम भी इसके गुणों का गान नहीं कर सकते। नाम द्वारा ही चारों युगों, तीनों कालों और तीनों लोकों में जीव दु:खों से मुक्त होते हैं। तुलसीदास जी कहते हैं कि विवेकीजन यदि विचार करके देखें तो उन्हें पता चलेगा कि सतगुरु से नाम लेते ही जीव सतगुरु के लेखे में आ जाता है और उनकी बताई युक्ति के अभ्यास से उसके लिए संसार-सागर सूख जाता है। खोटे और दुष्टजन भी नाम की ओट लेकर पवित्र बन जाते हैं। एक बार सतगुरु जिसे नाम का सुमिरन करा देते हैं अर्थात् नाम के सुमिरन का भेद दे देते हैं, वह उनकी कृपा से नाम की साधना करके संसार के अपार सागर को पार कर जाता है। पापी से पापी जीव भी नाम के सुमिरन द्वारा निस्तार पा जाते हैं। नाम की एक छोटी-सी चिनगारी भी जन्म-जन्म के असंख्य उग्र पापों के ढेर को रूई के समान सहज ही जलाकर ख़ाक कर देती है। इसलिए तुलसीदास जी उस कृपालु प्रभु को प्रसन्न करना चाहते हैं जिनका नाम जन्म-मरणरूपी रोग की अचूक दवा है और संसार के त्रिविध दु:खों को सदा के लिए नष्ट कर देनेवाला है:

राम नाम कर अमित[1] प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा॥

मानस, 1.45.1

1. असीम

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

मानस, 1.25.4

चहुँ जुग[1] तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका[2]॥

मानस, 1.26.1

नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माहीं॥

मानस, 1.24.2

जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥

मानस, 2.100.2

जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भव बंधन काटहिं नर ग्यानी॥

मानस, 5.19.2

पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं। अति अपार भवसागर तरहीं॥

मानस, 4.28.2

जा कर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥

मानस, 3.30.3

जासु नाम पावक[3] अघ तूला[4]। सुमिरत सकल सुमंगल मूला॥

मानस, 2.247.1

जन्म जन्म अनेक के अघ, ओघ[5] दारुण जे करे।
अग्नि किनका[6] नाम हरि को, पुंज पापन के जरे॥

बारहमासी, पृ.2

1. **चहुँ जुग**=सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग 2. शोक रहित
3. आग 4. **अघ तूला**=पापरूपी रूई 5. **अघ ओघ**=पापों का समूह
6. **अग्नि किनका**=आग की चिनगारी

अन्य संतों ने भी गुरु से प्राप्त नाम को सभी उग्र पापों के ढेर को जलानेवाला कहा है। उदाहरण के लिए आदि ग्रन्थ में कहा गया है:

आन आन समधा बहु कीनी पल बैसंतर भसम करीजै॥
महा उग्र पाप साकत नर कीने मिल साधू लूकी दीजै॥

आदि ग्रन्थ, पृ. 1324

कबीर साहिब भी कहते हैं:

जबहिं नाम हिरदे धरा, भया पाप का नास।
मानो चिनगी आग की, परी पुरानी घास॥

कबीर साखी-संग्रह, पृ.84

परमात्मा के सगुण और निर्गुण – दो रूप बताए जाते हैं: तुलसीदास जी ने सगुण रूप को राम और निर्गुण रूप को ब्रह्म कहा है। पर उन्होंने नाम को राम और ब्रह्म दोनों से बड़ा माना है। इसका कारण समझाते हुए वह कहते हैं कि यद्यपि सर्वव्यापी परमात्मा हमारे शरीर के अंदर ही है, फिर भी वह काठ में गुप्त रहनेवाली अग्नि के समान हमारे अंदर गुप्त ही बना रहता है। जब तक उचित विधि से काठ से काठ को रगड़कर गुप्त अग्नि को प्रकट नहीं किया जाता, तब तक उस गुप्त अग्नि से अग्नि का काम नहीं लिया जा सकता। ठीक उसी तरह जब तक यत्नपूर्वक वर्णात्मक नाम का अभ्यास करके धुनात्मक नाम का निरूपण या प्रकाशन नहीं किया जाता, तब तक गुप्त परमात्मा को अपने अंदर प्रकट नहीं किया जा सकता और न उसका कोई लाभ ही उठाया जा सकता है। इस तरह परमात्मा के हमारे हृदय के अंदर रहते हुए भी हम दु:खी ही बने रहते हैं। केवल नाम ही परमात्मा के दोनों रूपों की हमें जानकारी देता और परमात्मा को प्रकट करके हमें सुखी बनाता है। इसलिए तुलसीदास जी नाम को निर्गुण ब्रह्म और सगुण राम – दोनों से बड़ा कहते हैं:

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरें मत बड़ नामु दुहू तें। किए जेहिं जुग[1] निज बस निज बूतें[2]॥
प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं[3] जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥
एकु दारुगत[4] देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥
उभय अगम जुग[5], सुगम नाम तें[6]। कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तें॥
ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी[7]। सकल जीव जग दीन दुखारी॥
नाम निरूपन[8] नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल[9] रतन तें॥
निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नामु बड़ राम तें निज बिचार अनुसार॥

मानस, 1.22.1-4, 1.23

चूँकि नाम ही संसार-सागर को पार करने का साधन है और सतगुरु नाम का भेद बतानेवाले हैं, इसलिए तुलसीदास जी नाम को भवसागर की नाव या जहाज़ और सतगुरु को इस नाव का नाविक या कर्णधार कहते हैं:

राम जपु, राम जपु , राम जपु बावरे।
घोर भव-नीर-निधि[10] नाम निज नाव रे॥

विनय-पत्रिका 66

साधन-फल[11], श्रुति-सार[12] नाम तव, भव सरिता कहँ बेरो[13]।

विनय-पत्रिका 143

1. दोनों को 2. **निज बूतें**=अपने बल से 3. **जनि जानहिं**=न समझें
4. काठ के अंदर 5. **उभय...जुग**=दोनों जानने में कठिन हैं।
6. **सुगम...तें**=नाम द्वारा जाने जाते हैं। 7. **प्रभु...अबिकारी**=विकार रहित प्रभु के रहते हुए भी 8. ठीक से समझ में आना 9. मूल्य
10. संसाररूपी समुद्र 11. सभी साधनों का फल 12. वेद का सार
13. नाव

नाथ नाम तव सेतु[1] नर चढ़ि भव सागर तरहिं॥

मानस, 6.आदि सोरठा 2

जात बूड़यो मूढ़ अंधे, परयो माँझाधार रे।
बैठि नाम जहाज हरि के, उतरु पैले पार[2] रे॥

बारहमासी, पृ.2

करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥

मानस, 7.43.4

सुमिरहु नाम राम कर सेवहु साधु।
तुलसी उतरि जाहु भव उदधि अगाधु॥

बरवै रामायण 61

नाम की तुलना दशरथ-पुत्र राम से करके तथा नाम द्वारा प्राप्त होनेवाले अनंत लाभों की तुलना राम द्वारा किए गए कुछ उपकारों से करके तुलसीदास जी अनेक प्रकार से नाम को राम से बड़ा सिद्ध करते हैं। वह कहते हैं कि राम ने मनुष्य का रूप धारण करके और बहुत कष्ट उठाकर कुछ साधुओं को सुखी बनाया, जबकि नाम का प्रेम से सुमिरन कर भक्तजन सहज ही आनंद और कल्याण के धाम बन गए। राम ने एक अहल्या को तारा, जबकि नाम ने करोड़ों पापियों का उद्धार किया। राम ने एक ताड़का को उसके पुत्र और सेना के साथ नष्ट किया, जबकि नाम ने अपने भक्तों के सभी दोषों, दु:खों और दुराशाओं को उसी तरह नष्ट कर दिया जैसे सूर्य रात्रि को नष्ट कर देता है। राम ने एक दंडक वन को पवित्र किया, जबकि नाम ने असंख्य जीवों के मन को पवित्र कर दिया। राम ने केवल राक्षसों के समूह को मारा, जबकि नाम ने कलियुग के सभी पापों को जड़-मूल से नष्ट कर डाला। राम ने शबरी, जटायु और कुछ उत्तम सेवकों को मुक्ति दी, जबकि नाम ने असंख्य दुष्टों को भी मुक्त

1. पुल 2. **पैले पार**=उस पार

कर दिया। राम ने केवल सुग्रीव और विभीषण को ही अपनी शरण दी, जबकि नाम ने अनेक दीन-ग़रीबों को शरण देकर कृतार्थ किया। राम ने बहुत परिश्रम से समुद्र को पार करने के लिए एक पुल बँधवाया, जबकि नाम को हृदय में धारण करते ही संसार-समुद्र अपने आप सूख जाता है। राम ने युद्ध करके सपरिवार रावण को मारा और सीता के साथ अयोध्या में प्रवेश किया, जबकि नाम का प्रीतिपूर्वक सुमिरन करके भक्तजन बिना किसी परिश्रम के मोह की अपार प्रबल सेना को जीतकर प्रेममग्न होकर अपने सहज सुख के निजधाम में विचरण करने लगते हैं और नाम की कृपा से सपने में भी उन्हें कोई चिंता नहीं सताती। इस तरह दशरथ-पुत्र राम की या उनके निर्गुण रूप ब्रह्म की नाम के साथ कोई बराबरी नहीं हो सकती:

राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
राम एक तापस तिय[1] तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
रिषि हित राम सुकेतुसुता[2] की। सहित सेन[3] सुत कीन्हि बिबाकी[4]॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा[5]॥
भंजेउ राम आपु भव[6] चापू[7]। भव भय भंजन[8] नाम प्रतापू॥
दंडक बनु प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित[9] नाम किए पावन॥
निसिचर निकर[10] दले[11] रघुनंदन। नामु सकल कलि कलुष निकंदन[12]॥
सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित[13] गुन गाथ[14]॥
राम सुकंठ[15] बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सबु कोऊ॥

1. स्त्री (अहल्या) 2. सुकेतु की पुत्री ताड़का 3. सेना
4. **कीन्हि बिबाकी**=समाप्त कर देना 5. **निसि नासा**=रात्रि को नष्ट करना
6. शिव 7. धनुष 8. नष्ट करनेवाला 9. असीम 10. समूह
11. नष्ट किए 12. (जड़ से) उखाड़नेवाला 13. **बेद बिदित**=वेदों में प्रसिद्ध
14. **गुन गाथ**=गुणों की गाथा 15. सुग्रीव

नाम गरीब अनेक नेवाजे[1]। लोक बेद बर[2] बिरिद[3] बिराजे॥
राम भालु कपि कटकु[4] बटोरा। सेतु[5] हेतु श्रमु कीन्ह न थोरा॥
नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माहीं॥
राम सकुल[6] रन[7] रावनु मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा॥
राजा रामु अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि बर बानी॥
सेवक सुमिरत नामु सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती॥
फिरत सनेहँ मगन सुख अपनें। नाम प्रसाद सोच नहिं सपनें॥
ब्रह्म राम तें नामु बड़ बर दायक बर दानि[8]।
रामचरित सत कोटि मँह लिय महेस जियँ जानि॥

मानस, 1.23.1-4.1.24.1-4, 25

तुलसीदास जी के इन कथनों से यह निस्संदेह सिद्ध हो जाता है कि नाम से उनका तात्पर्य दशरथ-पुत्र राम का वर्णात्मक नाम कदापि नहीं हो सकता।

हाथरस के प्रसिद्ध संत तुलसी साहिब ने भी नाम का भेद समझाते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरितमानस की इन्हीं उक्तियों की ओर संकेत करके यह कहा है कि नाम से तुलसीदास जी का वही अभिप्राय है जो अन्य संतों का है:

ब्रह्म राम से नाम बढ़, रामायन के बाक॥
सोई नाम संतन कहा, तुलसी सूरत ताक॥

तुलसी साहिब की शब्दावली, भाग2, पृ. 135

वह फिर कहते हैं:

नाम वोही नाम वोही, कोई बूझे भेद भेदी जिन जाना री॥
राम न सके नाम गुन गाई, संतन को दरसाना री॥

1. कृपा की 2. श्रेष्ठ 3. यश 4. सेना 5. पुल 6. सपरिवार
7. युद्ध 8. **बर दानि**=वर देता है

ब्रह्म राम से नाम निनारा, रामायन बाखाना री॥
चौदह भवन काल केरी बन्धन, पद चौथे परमाना री॥
कोई सज्जन सतगुर से पावे, हिये दृग दृष्टि दिखाना री॥

तुलसी साहिब की शब्दावली, भाग2, पृ.105

तुलसीदास जी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि नाम का प्रभाव सदा ही रहता है। पर विशेषकर इस कलियुग में, जो घोर पाप से भरा हुआ है, पापों से मुक्त होने का नाम के अलावा कोई और साधन नहीं है और मनुष्य का मन पापरूपी समुद्र में मछली के समान मग्न है। नाम इस कलियुग के लिए मनचाहा फल देनेवाला कल्पवृक्ष है क्योंकि यह इस लोक में माता-पिता के समान हमारी सँभाल करता है और साथ ही हमारा परलोक भी सँवार देता है। नाम के सुमिरन से संसार के सभी जाल नष्ट हो जाते हैं। नाम के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार की भक्ति, कर्म या ज्ञान का साधन इस कलियुग में सफल नहीं हो सकता। इस युग में उद्धार पाने का एकमात्र आधार नाम ही है। यदि मनुष्य नाम पर विश्वास कर ले तो कलियुग के समान सचमुच ही और कोई कल्याणकारी युग नहीं हो सकता क्योंकि इस युग में केवल नाम के भजन-सुमिरन द्वारा मनुष्य सहज ही यानी बिना किसी कठिन परिश्रम के भवसागर को पार कर सकता है। इसलिए तुलसीदास जी इस कलिकाल में एकमात्र नाम पर भरोसा रखकर प्रेम के साथ नाम के भजन-सुमिरन में लगने पर ज़ोर देते हैं:

चहुँ जुग चहुँ श्रुति[1] नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥

मानस, 1.21.4

कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि[2] जन मन मीना॥
नाम कामतरु[3] काल कराला। सुमिरत समन[4] सकल जग जाला॥

1. **चहुँ श्रुति**=चारों वेद 2. समुद्र 3. कल्पवृक्ष 4. शांत करना

राम नाम कलि अभिमत[1] दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥
नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥

मानस, 1.26.2-4

यह कलिकाल मलायतन[2] मन करि देखु बिचार।
श्रीरघुनाथ नाम तजि नाहिन आन अधार॥

मानस, 6.121(ख)

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव[3] तर बिनहिं प्रयास॥

मानस, 7.103(क)

कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥
सब भरोस तजि जो भज रामहि। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि[4]॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥

मानस, 7.102(ख).3-4

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो नाम यानी रामनाम चारों युगों में जीवों के उद्धार का कारण कहा गया है, वह किसी विशेष युग में अवतार लेनेवाले किसी पुरुष का वर्णात्मक नाम नहीं हो सकता। दशरथ-पुत्र राम का अवतार त्रेता युग में होने के कारण उनका नाम इसके पूर्वयुग (सतयुग) में प्रचलित नहीं था। इसलिए इस नाम को चारों युगों में प्रभाव रखनेवाला नहीं कहा जा सकता। इससे यह स्पष्ट है कि नाम से तुलसीदास जी का तात्पर्य उस सच्चे अविनाशी धुनात्मक नाम से है जो वर्णात्मक दृष्टि से अनाम है और जो अनामी परमात्मा यानी परमपुरुष का सार है।

परमात्मा के चार प्रकार के भक्त बताए जाते हैं: 1. धन आदि की चाह लेकर भक्ति करनेवाले (अर्थार्थी), 2. संकट की निवृत्ति के लिए

1. मनचाहा फल 2. पापों का घर 3. संसार 4. **गुन ग्रामहि**=गुणों का समूह

भक्ति करनेवाले (आर्त), 3.प्रभु के स्वरूप को जानने की इच्छा से भक्ति करनेवाले (जिज्ञासु) और 4.प्रभु के स्वरूप को तत्त्वत: जानकर स्वाभाविक प्रेम से भक्ति करनेवाले (ज्ञानी)। अंतिम प्रकार के भक्त को तुलसीदास जी सबसे उत्तम मानते हैं। पर यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि भक्ति में लगने का प्रारंभिक उद्देश्य चाहे जो भी हो, जब तक साधक नाम की साधना में नहीं लगता, तब तक वह कभी सफल नहीं हो सकता। नाम के सुमिरन के बिना कोई भी सच्ची भक्ति नहीं कर सकता। नाम की साधना को छोड़कर केवल बाहरी कीर्तन करने, भक्ति का गीत गाने, तीर्थों में जाने, तिलक लगाने, उपवास करने आदि बाहरमुखी क्रियाओं द्वारा परमात्मा की सच्ची भक्ति नहीं होती और न इनसे परमात्मा कभी प्रसन्न ही होता है। इसी लिए तुलसीदास जी कहते हैं कि नाम ही सभी प्रकार के भक्तों का एकमात्र आधार है। नाम के बिना परमात्मा की किसी भी तरह भक्ति की ही नहीं जा सकती:

राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती[1] चारिउ अनघ[2] उदारा॥
चहू चतुर कहुँ नाम अधारा। ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पिआरा॥

मानस, 1.21.3-4

इस नाम को तुलसीदास जी ने सभी अभिलाषाओं को पूर्ण करनेवाला 'चिंतामणि' कहा है क्योंकि इस नामरूपी चिंतामणि को पाकर युगों-युगों से सोया हुआ जीव जाग उठता है और युगों-युगों से भटकता हुआ मन तृप्त होकर शांत हो जाता है। इसी लिए इसे पाकर तुलसीदास जी कहते हैं कि अब तक तो मैं बरबाद हुआ पर अब मैं अपने को बरबाद न होने दूँगा। परमात्मा की कृपा से मेरे लिए संसार की मायारूपी रात्रि का अंत हो गया है और अब मैं जाग उठा हूँ। अब मैं फिर कभी माया की सेज नहीं बिछाऊँगा। मुझे नामरूपी सुंदर चिंतामणि प्राप्त हो गई है। अब मैं इसे अपने हृदयरूपी हाथ से कभी खिसकने नहीं दूँगा:

1. पुण्यात्मा 2. निष्पाप

अब लौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम-कृपा भव-निसा[1] सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं॥
पायेउँ नाम चारु[2] चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं॥

विनय-पत्रिका 105

इस नामरूपी चिंतामणि को पाकर जिसे तुलसीदास जी ब्रह्ममृत (ब्रह्म पीयूष) भी कहते हैं, हमारा मन सदा के लिए तृप्त हो जाता है और सांसारिक विषयों के मृगतृष्णा रूपी जल के लिए दिन-रात का उसका भटकना बंद हो जाता है। जिसके घर चिंतामणि हो, वह काँच के टुकड़ों को क्यों बटोरता फिरेगा? संसार के सपने में परवश पड़ा हुआ जीव जब जाग उठता है तब फिर उसे झूठे संसार के बंधन से छूटने के लिए दूसरों से निहोरा करने की ज़रूरत नहीं रह जाती। वह तो अज्ञान की नींद से उठकर तथा नामरूपी अमृत को पीकर आनंदमग्न हो जाता है:

ब्रह्म-पियूष[3] मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै।
तौ कत मृगजल-रूप बिषय कारन[4] निसि-बासर[5] धावै॥
जेहि के भवन बिमल चिंतामनि, सो कत काँच बटोरै।
सपने परबस परै, जागि देखत[6] केहि जाइ निहोरै॥

विनय-पत्रिका 116

यह नाम अनंत कोटि तीर्थों के समान पवित्र है। इसलिए पापी से पापी जीव भी नाम की ओट लेने से पापमुक्त और पवित्र हो जाते हैं। जैसे कोई मिले हुए धन को तुरंत गाँठ में बाँध लेता है और उसके खरे या खोटे होने की परख नहीं करता, वैसे ही परमात्मा नाम की साधना में लगे जीव के पाप-पुण्य का विचार किए बिना ही उसे तुरंत अपना लेते हैं।

1. संसाररूपी रात 2. सुंदर 3. नाम का अमृत
4. **मृगजल...कारन**=विषयरूपी झूठे मृगजल के लिए 5. रात-दिन
6. **जागि देखत**=जागकर देखने के बाद

इसलिए तुलसीदास जी कहते हैं कि हे प्रभु! आप पहले अपने नाम की महिमा की ओर देखिए और तब फिर मेरी ओर देखकर मुझ पापी को भी अपना सच्चा सेवक मान लीजिए। कौन भला नामरूपी धन की गठरी को पाकर बिना परिश्रम ही निहाल नहीं हुआ है? तब इस तुलसी की बारी आने पर यह ढिलाई क्यों हो रही है? तुलसीदास जी अपनी संत-सुलभ नम्रता सहित कहते हैं कि मुझ जैसा नीच और पापी तीनों लोकों और तीनों कालों में न हुआ है, न है और न होगा, पर नाम की मर्यादा रखने और अपने प्रण को निभाने के लिए पतित-पावन प्रभु ने आख़िर मुझे भी इस कलिकालरूपी सर्प से बचा ही लिया:

तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल[1] अघ पूग[2] नसावन॥

मानस, 7.91(ख).1

कैसेउ पाँवर[3] पातकी[4], जेहि लई नाम की ओट।
गाँठी बाँध्यो दाम तो, परख्यो न फेरि खर-खोट[5]॥

विनय-पत्रिका 191

आपु देखि मोहि देखिये जन मानिय साँचो।
बड़ी ओट राम नाम की जेहि लई सो बाँचो॥

विनय-पत्रिका 149

नाम-ओट लेत ही निखोट[6] होत खोटे खल,
चोट बिनु मोट[7] पाइ भयो न निहालु को?
तुलसी की बार बड़ी ढील होति सीलसिंधु!
बिगरी सुधारिबो को दूसरो दयालु को॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 17

1. समस्त 2. अघ पूग=पापों के ढेर को 3. नीच 4. पापी
5. अच्छा-बुरा 6. पवित्र 7. धन की मोटी गठरी

मंदमति, कुटिल, खल-तिलक[1] तुलसी सरिस,
भो न तिहुँ लोक तिहुँ काल कोऊ।
नाम की कानि[2] पहिचानि पन[3] आपनो,
ग्रसित कलि-ब्याल[4] राख्यो सरन सोऊ॥

विनय-पत्रिका 106

नाम का सुमिरन और भजन

तुलसीदास जी के अनुसार नाम का सुमिरन और भजन ही परमार्थी साधना का सार है। इसलिए वह अपनी रचनाओं में बार-बार सुमिरन और भजन पर ज़ोर देते हैं। सतगुरु ही अपने शिष्यों को सुमिरन और भजन के अभ्यास का तरीक़ा बतलाते हैं। सतगुरु द्वारा बताए पवित्र नामों के जप को संतों ने सुमिरन करना कहा है और इस अभ्यास से अंतर में प्रकट होनेवाले धुनात्मक शब्द के सुनने को वे भजन करना कहते हैं। बहुत-से महात्मा भजन-सुमिरन के अभ्यास के लिए सतगुरु की आवश्यकता बताकर संतोष कर लेते हैं और इस अभ्यास के गुप्त तरीक़े को खोलकर नहीं समझाते। तुलसीदास जी ने भी यही किया है। फिर भी वह सुमिरन और भजन का बार-बार उल्लेख करते हैं। वह कहते हैं कि लोगों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार मोक्ष के अनेक मार्ग चला रखे हैं और वे इस विषय को लेकर आपस में झगड़ते रहते हैं। पर मुझे तो गुरु का बताया भजन का मार्ग ही ठीक लगता है और मैं इसे ही सबसे उत्तम मार्ग या राजमार्ग मानता हूँ। वह बताते हैं कि सुमिरन से हमें अपार लाभ होता है और इस अभ्यास को न अपनाकर हम बहुत बड़ी हानि उठाते हैं:

नाना पथ निरबान के, नाना बिधान बहु भाँति।
तुलसी तू मेरे कहे जपु राम-नाम दिन-राति॥

विनय-पत्रिका 192

1. दुष्ट-शिरोमणि 2. लाज 3. प्रण 4. कलिकालरूपी सर्प

जपहि नाम रघुनाथ को, चरचा दूसरी न चालु।
सुमुख, सुखद, साहिब, सुधी[1], समरथ, कृपालु, नतपालु[2]॥

विनय-पत्रिका 193

बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो[3] सो॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि-फिरि पचि मरै मरो सो।
रामनाम-बोहित[4] भव-सागर चाहै तरन तरो सो॥

विनय-पत्रिका 173

तुलसी हठि हठि कहत नित चित सुनि हित करि मान।
लाभ राम सुमिरन बड़ो बड़ी बिसारें हानि॥

दोहावली 21

साधारणत: कुछ लोग सगुण ईश्वर और कुछ लोग निर्गुण ब्रह्म के ध्यान का उपदेश देते हैं। पर तुलसीदास जी इनकी त्रुटियों को समझाते हुए यह कहते हैं कि परमात्मा का सगुण (साकार) रूप हमारे सामने नहीं होता, उसे किसी ने कभी देखा नहीं। उसके बदले अपनी कल्पना से उसकी मूर्ति बनाकर उसका ध्यान करना न रुचिकर होता है और न इसमें रस ही आता है तथा निर्गुण को पकड़ पाना हमारे मन के सामर्थ्य से बाहर है। इसलिए परमात्मा की प्राप्ति के लिए एकमात्र नाम का सुमिरन ही संजीवनी बूटी के समान लाभदायक है। नाम-सुमिरन में आलस्य करनेवाले अपने जीवन के इने-गिने दिनों को व्यर्थ ही बरबाद कर डालते हैं। इस कलिकाल में केवल नाम ही सभी सुखों को देनेवाला और सभी अभिलाषाओं को पूरा करनेवाला कल्पवृक्ष है। इसलिए तुलसीदास जी हमें एकमात्र नाम पर ही भरोसा और विश्वास रखने और केवल नाम का ही सुमिरन करने का उपदेश देते हैं।

1. ज्ञानी 2. शरणागतों की रक्षा करनेवाले 3. राजमार्ग
4. रामनाम का जहाज़

सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं निर्गुन मन ते दूरि।
तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवन मूरि॥

दोहावली 8

राम नाम जपि जीहँ जन भए सुकृत[1] सुखसालि[2]।
तुलसी इहाँ जो आलसी गयो आजु की कालि॥

दोहावली 12

राम नाम कलि कामतरु सकल सुमंगल कंद।
सुमिरत करतल[3] सिद्धि सब पग पग परमानंद॥

दोहावली 28

जथा भूमि सब बीजमय नखत[4] निवास अकास।
राम नाम सब धरममय जानत तुलसीदास॥

दोहावली 29

राम नाम पर[5] नाम तें प्रीति प्रतीति भरोस।
सो तुलसी सुमिरत सकल सगुन[6] सुमंगल कोस॥

दोहावली 33

राम भरोसो राम बल राम नाम बिस्वास।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल माँगत तुलसीदास॥

दोहावली 38

राम नाम रति[7] राम गति राम नाम बिस्वास।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल दुहुँ दिसि[8] तुलसीदास॥

दोहावली 39

1. पुण्यात्मा 2. सुख के घर 3. हथेली में 4. नक्षत्र
5. **राम...पर**=प्रभु के नाम में लगा हुआ 6. **सकल सगुन**=सभी सद्गुण
7. प्रेम 8. **दुहुँ दिसि**=लोक और परलोक – दोनों में

सुमिरन के बाद फिर भजन की आवश्यकता पर ज़ोर देते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि जब सुमिरन द्वारा हमारा निजी आंतरिक अनुभव खुलता है और परमात्मा की शक्ति और स्वरूप का कुछ ज्ञान होता है, तब हमें यह समझ आती है कि भजन किए बिना हमारे क्लेशों का कभी अंत नहीं हो सकता। तब जीव भजन को छोड़ किसी दूसरे काम की ओर ध्यान देना नहीं चाहता। वह मैं-मेरी की ममता, अहंकार और मोह को छोड़कर नाम में लीन हो जाता है। इस सुख को वही जान सकता है जिसे इस परम आनंदमय अवस्था का आंतरिक अनुभव है। अज्ञान से भरे जड़ तुल्य मानव जीवन में यह भजन ही आध्यात्मिक चेतना का संचार करता है। इसलिए तुलसीदास जी उन मनुष्यों के जीवन को धन्य मानते हैं जो प्रभु के भजन में लगे रहते हैं:

निज अनुभव अब कहउँ खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा॥

मानस, 7.88(ख).3

कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।
बिनु हरि भजन न भव भय नासा॥

मानस, 7.89(ख).4

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना[1]॥

मानस, 5.33.2

मम गुन ग्राम नाम रत[2] गत ममता मद मोह।
ता कर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह[3]॥

मानस, 7.46

जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य॥

मानस, 7.119(ख)

1. दूसरा 2. लीन 3. भंडार को प्राप्त कर चुका है।

सुमिरन के अभ्यास के तरीक़े की ओर संकेत करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि अपनी आंतरिक जीभरूपी ड्योढ़ी के दरवाज़े पर रामनाम का मणिदीपक रखो। दोनों भौंहों के बीच का स्थान ही आंतरिक ड्योढ़ी का दरवाज़ा है। इस केंद्र पर ध्यान जमाकर नाम का सुमिरन करने से नाम का मणिदीपक प्रकाशित हो उठता है। इस प्रकाश के अनुभव से जीव जाग उठता है और उसे अंदर और बाहर का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। वह सच्चा योगी बनकर संसार के प्रपंच से उदासीन हो जाता है और अपने अंदर ब्रह्म-सुख का अनुभव करने लगता है। यह एक निर्मल और अकथनीय अवस्था है जिसको न कोई नाम दिया जा सकता है और न इसके रूप का ही वर्णन किया जा सकता है। नाम-सुमिरन के इस गूढ़ रहस्य को अभ्यासी केवल अपनी आंतरिक अनुभूति द्वारा ही समझ सकता है। नाम की साधना में अपने को लवलीन कर, अभ्यासी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है। अणिमा आदि (आठ) सिद्धियाँ ये हैं – अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। इस साधना के प्रभाव से कठिन से कठिन संकट दूर हो जाते हैं और साधक को महान सुख की प्राप्ति होती है:

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर[1]॥
नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति[2] बिरंचि प्रपंच[3] बियोगी[4]॥
ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय[5] नाम न रूपा॥
जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ॥
साधक नाम जपहिं लय लाएँ[6]। होहिं सिद्ध अनिमादिक[7] पाएँ॥
जपहिं नामु जन आरत[8] भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥

मानस, 1.21, 1-3

1. उजाला 2. वैराग्य 3. **बिरंचि प्रपंच**=ब्रह्मा के बनाए सांसारिक झमेले
4. निर्लेप है 5. मायारहित, निर्दोष 6. **लय लाएँ**=प्रेम लगाकर
7. अणिमा आदि सिद्धियाँ 8. पीड़ित

सुमिरन ही आध्यात्मिक साधना की नींव या आधार है। इसलिए तुलसीदास जी ने इसके महत्त्व पर विशेष ज़ोर दिया है। अनेक प्रसिद्ध घटनाओं का उल्लेख करके वह सुमिरन की अद्‌भुत महिमा और नाम के अमिट प्रभाव की ओर हमारा ध्यान दिलाते हैं। वह कहते हैं कि नाम जपने के फलस्वरूप ही प्रह्लाद प्रभु के कृपापात्र बने और उन्हें भक्त-शिरोमणि का पद प्राप्त हुआ, ध्रुव को अचल पद की प्राप्ति हुई तथा हनुमान ने राम को अपने वश में कर लिया। स्वयं अपना ही उदाहरण देकर तुलसीदास जी कहते हैं कि वह नाम-सुमिरन के प्रताप से ही अत्यंत तुच्छ होकर भी महात्मा कहे जाने लगे। उनके अनुसार कलियुगरूपी हिरण्यकश्यप से मुक्त होने के लिए प्रभुनाम का सुमिरन नरसिंह के समान है और नाम के जाप में लगा हुआ साधक प्रह्लाद जैसा है, जिसके मार्ग में बाधा पहुँचाने वाली दानवी शक्तियों का विनाश प्रभु स्वयं करते हैं:

नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥
ध्रुवँ सगलानि[1] जपेउ हरि नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥

मानस, 1.25.2-3

नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु[2]।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु॥

मानस, 1.26

राम नाम नरकेसरी[3] कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल[4]॥

मानस, 1.27

1. ग्लानि के साथ 2. **कलि...निवासु**=कलियुग में यह नाम कल्याण का घर है।
3. नरसिंह 4. **दलि सुरसाल**=देवताओं के शत्रु को नष्ट करके

जो भक्तजन सांसारिक इच्छाओं को त्यागकर नाम के अमृत-सरोवर में प्रेम के साथ अपने मन को मछली बनाए रखते हैं और इस प्रकार प्रभुभक्ति में लीन रहते हैं, उनका तो कुछ कहना ही नहीं। उनके लिए तो संसार-सागर गाय के खुर से बने गड्ढे के समान तुच्छ हो जाता है और वे इसे सहज ही पार कर जाते हैं। पर जो प्रेम भाव के अभाव में भी आलस्य और अनिच्छा के साथ जैसे-तैसे नाम का सुमिरन करते हैं, उनका भी कल्याण हो जाता है। जो लाचारी में पड़कर नाम का सुमिरन करते हैं, उनके भी अनेक जन्मों के पाप जल जाते हैं। परम दयालु परमात्मा नाम का सुमिरन करनेवाले का स्वागत सदा आगे बढ़कर करने को तैयार रहता है। जो भी नाम का आश्रय ले लेता है, चाहे वह कैसा भी नीच और पापी क्यों न हो, प्रभु उसे अपना ही लेता है।

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद[1] तिन्हहुँ किए मन मीन॥

मानस, 1.22

सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव बारिधि गोपद इव तरहीं॥

मानस, 1.118.2

तुलसी प्रीति प्रतीति सों राम नाम जप जाग[2]।
किएँ होइ बिधि दाहिनो देइ अभागेहि भाग[3]॥

दोहावली 36

भायँ कुभायँ अनख[4] आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ[5]॥

मानस, 1.27.1

बिबसहुँ जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ[6] दहहीं॥

मानस, 1.118.2

1. **पियूष ह्रद**=अमृत सरोवर 2. **जप जाग**=जपरूपी यज्ञ
3. **देइ...भाग**=अभागे को भी भाग्य देता है। 4. नाराज़गी
5. **दिसि दसहूँ**=दसों दिशाओं में 6. पाप

कैसेहु नाम लेइ कोउ पामर, सुनि सादर आगे ह्वै लेते॥

विनय-पत्रिका 241

जिनको सपने में भी सुख नहीं मिलते, ऐसे जीव भी नाम के सुमिरन द्वारा संसार के कठिन क्लेश से छुटकारा पा जाते हैं। फिर भी मैं-मेरी की भावना में उलझे जीव नाम का भजन-सुमिरन नहीं करते। इसलिए तुलसीदास जी हमें यह उपदेश देते हैं कि हमें या तो अपने को सुमिरन में लगाए रखना चाहिए या शांत भाव से शब्द-धुन के सुनने में तल्लीन रहना चाहिए। सुमिरन और भजन से ख़ाली समय का कोई महत्त्व नहीं। हमें पहले अपने सच्चे स्वरूप को पहचानना चाहिए और फिर जो सचमुच में हमारा है अर्थात् जो परमात्मा हमारा सब कुछ है, उसको पहचानना चाहिए। फिर आत्मा और परमात्मा के बीच दुराव पैदा करनेवाली माया को पहचानकर उससे अलग रहना चाहिए। नाम के सुमिरन द्वारा आंतरिक प्रकाश के प्रकट हुए बिना यह अधम जीव अलख पुरुष को कभी लख नहीं सकता। इसलिए तुलसीदास जी उचित रीति से प्रीति और प्रतीति के साथ परमात्मा के नाम का सुमिरन करने पर ज़ोर देते हैं और कहते हैं कि इसी अभ्यास के द्वारा जीव का आदि, मध्य और अंत में कल्याण होता है:

स्वारथ सुख सपनेहुँ अगम परमारथ न प्रबेस।
राम नाम सुमिरत मिटहिं तुलसी कठिन कलेस॥

दोहावली 17

मोर मोर सब कहँ कहसि तू को कहु निज नाम।
कै चुप साधहि सुनि[1] समुझि कै तुलसी जपु राम॥

दोहावली 18

1. अंदर नाम को सुनो

हम लखि लखहि हमार लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखहि राम नाम जप नीच॥

दोहावली 19

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥

दोहावली 22

प्रीति प्रतीति सुरीति सों राम राम जपु राम।
तुलसी तेरो है भलो आदि मध्य परिनाम[1]॥

दोहावली 23

फिर भजन की आवश्यकता पर ज़ोर देते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि जैसे धरती के बिना कहीं पेड़ नहीं उग सकता, वैसे ही भजन के बिना सांसारिक कामनाओं (इच्छाओं) का कभी अंत नहीं हो सकता। अपनी सारी चतुराई को छोड़कर भजन के अभ्यास में लग जाने पर परमात्मा अवश्य कृपा करता है। तुलसीदास जी ने स्वयं राम के मुख से इस निश्चित सिद्धांत का कथन कराया है कि जो मनुष्य मन, वचन और कर्म से परमात्मा पर भरोसा रखकर निष्काम भाव से भजन के अभ्यास में लगता है, उसके हृदय-कमल में परमात्मा सदा विराजने लगता है:

राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा[2]।
थल बिहीन तरु[3] कबहुँ कि जामा॥

मानस, 7.89(ख).1

मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥

मानस, 1.199.3

1. अंत 2. कामनाएँ 3. वृक्ष

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं नि:काम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

मानस, 3.16

मानस में तुलसीदास जी ने राम के व्यक्तित्व को तीन अलग-अलग रूपों में प्रस्तुत किया है: 1. मानस की कथा के नायक दशरथ-पुत्र के रूप में 2. परमपिता परमात्मा के रूप में और 3. *मानस* के अन्य पात्रों को शिक्षा देनेवाले गुरु के रूप में।

राम गुरु के रूप में भक्ति और प्रभुप्रेम की प्रेरणा देते हैं। कई प्रसंगों में वह उन्हें नेक जीवन बिताने और सुमिरन करने का उपदेश भी देते हैं।

रामचरितमानस के कथानक के संदर्भ में राम अपने मित्रों और सेवकों को विदा देते समय उन्हें यही अंतिम संदेश देते हैं कि वे अपने-अपने घर लौटकर अत्यंत प्रेम के साथ नियमपूर्वक नाम का भजन-सुमिरन करें। उदाहरण के लिए गुरु के रूप में भक्त विभीषण के माध्यम से वह हमें यह दिलासा देते हैं कि निष्काम भाव से सांसारिक कर्तव्यों को पूरा करते हुए नाम की अंतर्मुखी साधना द्वारा हम संतों के परमधाम के अधिकारी बन सकते हैं:

करेहु कल्प भरि राजु तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं।
पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं॥

मानस, 6.116 (घ)

वह अपने अन्य सभी मित्रों को भी घर जाकर नियम के साथ दृढ़तापूर्वक प्रेम से भजन का अभ्यास करने का उपदेश देते हैं और कहते हैं कि वह सदा सबके अंग-संग हैं:

अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम।
सदा सर्बगत[1] सर्बहित जानि[2] करेहु अति प्रेम॥

मानस, 7.16

1. सर्वव्यापक 2. **सर्बहित जानि**=सबका हित करनेवाला जानकर

अपने प्रिय भक्त काकभुशुण्डि को काल के जाल से बचने की युक्ति बताते हुए भी राम निरंतर सुमिरन-भजन के अभ्यास में लगे रहने का ही उपदेश देते हैं:

कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही॥

मानस, 7.87 (ख).1

राम के प्रमुख सेवक हनुमान भी भजन-सुमिरन न कर पाने को ही जीवन की महान विपत्ति मानते हैं:

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥

मानस, 5.31.2

सुग्रीव भी राम से यही प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! अब तो बस यही कृपा कीजिए कि सब कुछ छोड़कर दिन-रात भजन के अभ्यास में ही लगा रहूँ:

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

मानस, 4.6.11

भजन-सुमिरन से रहित जीव

तुलसीदास जी भजन-सुमिरन की साधना से विमुख जीवों की दशा का बड़ा मार्मिक चित्र उपस्थित करते हैं। वह कहते हैं कि जिस मुख में हरिनाम का सुमिरन नहीं है, वह मुख केवल एक बिल या सुराख़ के समान है जिसमें जीभरूपी सर्पिणी बैठी हुई है। वह हृदय मानों पत्थर है जो भावविभोर होकर प्रभु के नाम का सुमिरन नहीं करता। रामनाम के सुमिरन को छोड़कर व्यर्थ के बकवाद में लगी हुई जीभ केवल टर-टर का शोर मचानेवाली मेंढक की जीभ के समान है। जो पुलकित शरीर होकर सजल आँखों के साथ अपने हृदय में प्रभु के नाम का सुमिरन नहीं करता, उसका हृदय फट जाना चाहिए, उसकी आँखें फूट जानी चाहिएँ तथा उसका बदन जल जाना चाहिए। उस मनुष्य का जीवन व्यर्थ

है जो रणभूमि में जानेवाले सच्चे सूरमे की तरह सच्ची लगन के साथ गुरु के समीप नहीं जाता और नाम का सुमिरन करते समय पुलकित और प्रेमविह्वल नहीं होता। इसी तरह तुलसीदास जी कहते हैं कि जिसका हृदय प्रभु का गुणगान सुनकर नहीं पिघलता, वह मनुष्य सचमुच वज्र के समान कठोर हृदयवाला है तथा प्रभु की महिमा सुनकर जिसकी आँखों में आँसू नहीं आते उसका अंधा बना रहना ही ठीक है:

रसना[1] साँपिनि बदन[2] बिल जे न जपहिं हरिनाम।
तुलसी प्रेम न राम सों ताहि बिधाता बाम॥

दोहावली 40

हिय फाटहुँ फूटहुँ नयन जरउ सो तन केहि काम।
द्रवहिं स्रवहिं पुलकइ नहीं तुलसी सुमिरत राम॥

दोहावली 41

रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पायँ।
तुलसी जिन्हहि न पुलक तनु ते जग जीवत जायँ[3]॥

दोहावली 42

हृदय सो कुलिस[4] समान जो न द्रवइ हरिगुन सुनत।
कर न राम गुन गान जीह सो दादुर जीह सम॥

दोहावली 43

जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र[5] अहिभवन[6] समाना॥

मानस, 1.112.1

स्रवै न सलिल सनेहु तुलसी सुनि रघुबीर जस।
ते नयना जनि[7] देहु राम! करहु बरु आँधरो॥

दोहावली 44

1. जीभ 2. मुँह 3. **जीवत जायँ**=व्यर्थ ही जीते हैं 4. वज्र
5. **श्रवन रंध्र**=कान का सुराख़ 6. साँप का बिल 7. मत

सुमिरन और भजन ही प्रभु की सच्ची सेवा है और यही सेवा अंत में हमें सच्चे साहिब से मिलाती है। भजन-सुमिरन के इस अनमोल लाभ को जानकर भी जिसके हृदय में उसके लिए ललक पैदा नहीं होती, उसकी हानि तो फिर निश्चित ही है। तुलसीदास जी बड़ी स्पष्टता के साथ कहते हैं कि रामनाम के भजन का अभ्यास किए बिना मन को सपने में भी विश्राम नहीं मिल सकता और न कभी जीव का कल्याण ही हो सकता है। भजन के बिना जो निर्वाणपद की आशा रखता है, वह मनुष्य ज्ञान के रहते हुए भी पशु के समान है। भजन का अभ्यास किए बिना संसार-सागर को कभी पार नहीं किया जा सकता। तुलसीदास जी बड़े ज़ोरदार शब्दों में कहते हैं कि पानी के मथने से भले ही घी उत्पन्न हो जाए, बालू को पेरने से भले ही तेल निकल आए पर हरिनाम के भजन के बिना अर्थात् अंतर्मुख होकर शब्द-धुन को सुने बिना संसार-सागर को पार नहीं किया जा सकता:

सुमिरन सेवा राम सों साहब सों पहिचानि।
ऐसेहु लाभ न ललक[1] जो तुलसी नित हित हानि॥

दोहावली 97

श्री रघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान[2]।
ते मतिमंद जे राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन॥

दोहावली 129

तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोकधाम तजि काम[3]॥

दोहावली 131

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान[4]॥

मानस, 7.78(क)

1. प्रबल इच्छा 2. पत्थर 3. **तजि काम**=कामनाओं को त्यागकर 4. सींग

मसकहि[1] करइ बिरंचि[2] प्रभु अजहि मसक ते हीन[3]।
अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहिं प्रबीन॥

मानस, 7.122(ख)

बारि[4] मथें घृत होइ बरु सिकता[5] ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल[6]॥

मानस, 7.122(क)

तुलसीदास जी के अनुसार जब तक जीव नाम की साधना नहीं करता, तब तक वह काल का शिकार बना रहता है। नाम के अमृत को छोड़ विषयों के विष को पीने में लगे रहनेवाले जीव को सूअर, कुत्ते आदि की नीच योनियों में जन्म लेकर घोर कष्ट भोगना पड़ता है। तुलसीदास जी बड़े साफ़ शब्दों में कहते हैं कि नाम का सहारा लिए बिना जो जीव अपना परमार्थ सिद्ध करना चाहता है, वह मानों पानी की बरसती बूँद को पकड़कर आकाश में चढ़ना चाहता है। नाम के अभ्यास के बिना परमार्थ की साधना हो ही नहीं सकती:

कठिन काल कराल सिर पर, करि अचानक घात रे।
नाम बिन जमदंड त्रासन, कोई न दैहै हाथ रे॥

बारहमासी, पृ. 1

तुलसिदास हरिनाम-सुधा[7] तजि, सठ हठि पियत बिषय-बिष माँगी॥
सूकर-स्वान-सृगाल-सरिस जन, जनमत जगत जननि-दुख लागी[8]॥

विनय-पत्रिका 140

राम नाम अबलंब बिनु परमारथ की आस।
बरषत बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास॥

दोहावली 20

1. मच्छर 2. ब्रह्मा 3. **अजहि...हीन**=ब्रह्मा को मच्छर से भी हीन
4. पानी 5. बालू 6. अटल 7. प्रभु-नामरूपी अमृत
8. **जननि-दुख लागी**=माता को दुःख देने के लिए

भक्ति

बारि[1] मथें घृत होइ बरु सिकता[2] ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव[3] तरिअ यह सिद्धांत अपेल[4]॥

मानस, 7.122(क)

पानी को मथने से भले ही घी उत्पन्न हो जाए, बालू को पेरने से भले ही तेल निकल आए पर यह सिद्धांत अटल है कि परामात्मा के भजन अर्थात् शब्द की साधना के बिना संसार-सागर को पार नहीं किया जा सकता।

भक्ति ही प्रभुप्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन

प्रारंभ में ही यह समझ लेना आवश्यक है कि भक्ति से तुलसीदास जी का तात्पर्य बाहरी पूजा-पाठ करना, भक्ति के गीत गाना, कीर्तन करना, तिलक लगाना, तीर्थों में जाना, व्रत-उपवास करना या अन्य बाहरमुखी क्रियाओं में लगना नहीं है। तुलसीदास जी तथा अन्य संतों का भक्ति से अभिप्राय एक निश्चित प्रकार के अंतर्मुखी अभ्यास या साधना से है जिसका पूरा भेद भक्ति में पूर्णता प्राप्त किए हुए किसी पूर्ण संत से प्राप्त किया जाता है। ऐसे पूर्ण संत या महात्मा को, जो भक्ति में लीन होकर परमात्मा का ही रूप बन गए होते हैं, सतगुरु कहा जाता है। 'सतगुरु' के अध्याय में

1. पानी 2. बालू 3. संसार 4. अटल

इस विषय पर पूरी चर्चा की जा चुकी है। वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि बिना सतगुरु के सच्ची भक्ति, जिसे नाम-भक्ति या नाम की साधना या अभ्यास कहते हैं, का भेद प्राप्त नहीं हो सकता। 'नाम' के अध्याय में इस नाम की विस्तारपूर्वक व्याख्या की जा चुकी है।

तुलसीदास जी ने भक्ति को प्रभुप्राप्ति का सुगम और सर्वश्रेष्ठ साधन कहा है। इसका कारण यह है कि भक्ति आत्मा के परमात्मा के प्रति स्वाभाविक आकर्षण और उसके मूलभूत प्रेम संबंध पर आधारित है और भक्ति की साधना में योग, वैराग्य, तपस्या तथा अनेक प्रकार के हठकर्मों के समान शरीर को नाहक़ कष्ट देने की आवश्यकता नहीं होती। पर भक्ति के अभ्यास यानी साधना को पूरी लगन के साथ पूरा करना भक्त के लिए अत्यंत आवश्यक है। इन बातों को अच्छी तरह समझते हुए सभी सद्ग्रंथ और संत-महात्मा भक्ति का ही उपदेश देते हैं। भक्ति और प्रेम के बिना किसी भी अन्य उपाय से हम परमात्मा को नहीं पा सकते और न हम कभी सुखी हो सकते हैं। तुलसीदास जी ने स्वयं राम के मुख से भक्ति को प्रभुप्राप्ति का सुगम साधन कहलवाया है:

भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
मानस, 3.15.3

प्रभुप्राप्ति का सुगम और सर्वोत्तम साधन होने के कारण ही सभी ज्ञानी महात्मा इसकी याचना करते हैं तथा इसकी महिमा गाते हैं। जिसे भक्ति का यह सुगम साधन नहीं सुहाता, वह सचमुच अज्ञानी है:

अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी[1]॥
मानस, 7.115(ख).4

असि हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥
मानस, 7.118(ख).5

1. **सुख खानी**=सुखों की खान

करम बचन मन छाड़ि छलु जब लगि जनु न तुम्हार।
तब लगि सुखु सपनेहुँ नहीं किएँ कोटि उपचार॥
मानस, 2.107

तुलसीदास जी कहते हैं कि हमें यह बात अच्छी तरह अपने हृदय में बिठा लेनी चाहिए कि केवल प्रभुभक्ति या प्रभुप्रेम द्वारा ही हम इस लोक और परलोक दोनों में सुख पा सकते हैं तथा अपने सच्चे स्वार्थ को सिद्ध कर सकते हैं:

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा॥
मानस, 7.95(ख).1

सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥
मानस, 2.92.3

इसलिए तुलसीदास जी कहते हैं कि जब स्वार्थ और परमार्थ सभी एक प्रभु राम की ओर से ही सुलभ हैं, तब किसी दूसरे के दरवाज़े पर दीनता दिखाना उचित नहीं। रामरूपी कल्पवृक्ष को छोड़कर दूसरे की सेवा में लगना निष्फल है:

स्वारथ परमारथ सकल सुलभ एक ही ओर।
द्वार दूसरे दीनता उचित न तुलसी तोर॥
दोहावली 54

राम कामतरु परिहरत सेवत कलि तरु ठूँठ।
स्वारथ परमारथ चहत सकल मनोरथ झूँठ॥
दोहावली 76

साधु-संतों के समाज में वही मनुष्य आदर पाता है जिसका चित्त राम के प्रेमरस से सराबोर हो। साधु-संतों के समाज में जिसका कोई स्थान नहीं

और प्रभुभक्तों में जिसकी गिनती नहीं, वह मानों पृथ्वी का भार बनकर जीता है। वास्तव में वही माता पुत्रवती है जिसका पुत्र प्रभुभक्त हो:

राम सनेह सरस[1] मन जासू। साधू सभाँ बड़ आदर तासू॥

मानस, 2.276.2

साधु समाज न जाकर लेखा। राम भगत महुँ जासु न रेखा॥
जायँ जिअत जग सो महि भारू[2]।

मानस, 2.189.4

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥

मानस, 2.74.1

भक्ति द्वारा किस तरह परमात्मा की प्राप्ति होती है, इसे तुलसीदास जी ने बड़े स्पष्ट ढंग से समझाया है। उनके अनुसार सच्ची भक्ति, जो प्रभुप्राप्ति का सरल और श्रेष्ठ साधन है, प्रभु की कृपा से ही किसी बिरले जन को प्राप्त होती है। जब प्रभु की कृपा होती है, तब वह किसी विशुद्ध अर्थात् सच्चे या पूर्ण संत से हमारा मिलाप करा देता है। संत के चरण-कमलों में दृढ़ प्रेम लगाने, उनका सत्संग सुनने और उनके उपदेश के अनुसार मन, वचन और कर्म से नियमपूर्वक भजन करने से भक्ति दृढ़ हो जाती है और परमात्मा हमारे हृदय में प्रकट हो जाता है। इस प्रकार संत की संगति और प्रभुभक्ति द्वारा हम इस झूठे संसार के जंजाल से मुक्त होकर परमात्मा में समा जाते हैं। संत की संगति और प्रभुभक्ति के बिना आवागमन का भय कभी दूर नहीं होता:

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥

मानस, 3.15.1

1. **सनेह सरस**=प्रेम से सरस 2. **महि भारू**=पृथ्वी पर भार

सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। राम कृपाँ काहूँ एक पाई॥

मानस, 7.125(ख).4

अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहिं मारग सोई॥

मानस, 7.128.2

जब द्रवै[1] दीनदयालु राघव, साधु-संगति पाइये।
जेहि दरस-परस-समागमादिक[2] पापरासि[3] नसाइये॥

विनय-पत्रिका 136.10

संत बिसुद्ध[4] मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥

मानस, 7.68(ख).4

बिनु सतसंग भगति नहिं होई। ते तब मिलैं द्रवै जब सोई॥

विनय-पत्रिका 136.10

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥

मानस, 5.6.2

पुन्य पुंज[5] बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति[6] कर अंता॥

मानस, 7.44.3

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला[7]॥

मानस, 3.15.2

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं नि:काम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

मानस, 3.15.5, 3.16

1. कृपा करते हैं 2. दर्शन, स्पर्श और समागम आदि से 3. पापों का भंडार
4. निर्मल 5. **पुन्य पुंज**=पुण्यों के समूह 6. जन्म-मरण का सिलसिला
7. प्रसन्न

तुलसिदास सब बिधि प्रपंच[1] जग, जदपि झूठ श्रुति गावै।
रघुपति-भगति संत-संगति बिनु, को भव-त्रास[2] नसावै॥

विनय-पत्रिका 121

आत्मा और परमात्मा के बीच भक्ति और प्रेम का ही संबंध है। इसलिए आत्मा भक्ति और प्रेम के द्वारा सहज ही परमात्मा को प्राप्त कर लेती है। जो प्रभु चराचर विश्व में व्याप्त है, वह प्रेम के द्वारा भक्त के हृदय में उसी तरह प्रकट हो जाता है जैसे काठ में छिपी रहनेवाली आग काठ से रगड़ने पर अपने आप प्रकट हो जाती है। तुलसी ने शबरी-राम संवाद में स्वयं राम के मुख से यह कहलवाया है कि प्रभु केवल भक्ति का ही नाता मानता है। भक्तिहीन मनुष्य का जीवन पानी न बरसाने वाले बादल के समान थोथा और निष्फल है। जाति-पाँति, कुल-परिवार, धन-संपत्ति और सांसारिक मान-बड़ाई का भक्ति और प्रेम के मार्ग में कोई महत्त्व नहीं, बल्कि संतजन इन्हें प्रभुभक्ति के बाधक मानते हैं। ये सब माया के रूप हैं, परमार्थ के नहीं:

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

मानस, 2.136.1

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
अग[3] जगमय[4] सब रहित बिरागी[5]। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

मानस, 1.184.3-4

कह रघुपति सुनु भामिनि[6] बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन[7] गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद[8] देखिअ जैसा॥

मानस, 3.34.2-3

1. जंजाल 2. संसार का भय 3. न चलनेवाले 4. चलनेवाले
5. विरक्त 6. स्त्री (शबरी) 7. कुटुंब 8. बादल

सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥
ए सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक[1]॥
सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत[2] परमारथ नाहीं॥

मानस, 4.6.8-9

जब संसार की निस्सारता की समझ आती है, तब जीव परमात्मा से यही विनती करता है कि हे प्रभु! अब ऐसी कृपा करें कि सबकी ममता को त्यागकर मैं दिन-रात भजन में ही लीन रहूँ:

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

मानस, 4.6.11

अंत में तुलसीदास जी बड़े ज़ोरदार शब्दों में कहते हैं कि प्रभुभक्ति यानी प्रभुभजन (शब्द-अभ्यास) के बिना किसी अन्य साधन से जीव की आंतरिक मैल कभी दूर नहीं हो सकती और न कभी उसे प्रभु की प्राप्ति हो सकती है। वह कहते हैं कि कछुए की पीठ पर भले ही बाल उग जाएँ, बंध्या का पुत्र भले ही किसी को मार डाले (बंध्या का पुत्र हो ही नहीं सकता क्योंकि यदि पुत्र हुआ तो उस स्त्री को बंध्या नहीं कहा जा सकता), मृग-मरीचिका (तेज़ धूप की लहर) से भले ही प्यास बुझ जाए, ख़रगोश के सिर पर भले ही सींग निकल आए, अंधकार भले ही सूर्य का नाश कर दे, बर्फ़ से भले ही आग निकलने लगे, पानी को मथने से भले ही घी निकल आए और बालू को पेरने से भले ही तेल निकल आए पर नाम-भक्ति यानी भजन के सिवाय किसी भी अन्य साधन से जीव कभी संसार-सागर को पार नहीं कर सकता और न कभी वह सुख ही प्राप्त कर सकता है:

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥

मानस, 7.61.1

1. **पद अवराधक**=चरणों के आराधक 2. माया के बनाए हुए

छूटइ मल कि मलहि के धोएँ। घृत कि पाव कोइ बारि बिलोएँ[1]॥
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर[2] मल कबहुँ न जाई॥

मानस, 7.48.3

कमठ[3] पीठ जामहिं बरु बारा। बंध्या सुत बरु काहुहि मारा॥
फूलहिं नभ बरु बहुबिधि फूला। जीव न लह[4] सुख हरि प्रतिकूला॥
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना[5]। बरु जामहिं सस सीस बिषाना[6]॥
अंधकार बरु रबिहि[7] नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै॥
हिम[8] ते अनल[9] प्रगट बरु होइ। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥
बारि[10] मथें घृत होइ बरु सिकता[11] ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल[12]॥

मानस, 7.121(ख).8-10, 7.122(क)

भक्ति की श्रेष्ठता के कारण

तुलसीदास जी ज्ञान, वैराग्य, योग, भक्ति आदि साधनों पर विचार करके भक्ति को प्रभुप्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन सिद्ध करते हैं। अन्य साधनों की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता बताते हुए वह कहते हैं कि ज्ञान, वैराग्य, योग आदि साधन पुरुष वर्ग के हैं जिन्हें मायारूपी नारी अपने लुभावने रूप से आसानी से विचलित कर देती है। इस तरह इन साधनों में लगा साधक सहज ही पथभ्रष्ट हो जाता है। पर भक्ति माया के ही समान नारी वर्ग की है और एक नारी दूसरी नारी को लुभा नहीं सकती। इसके अतिरिक्त माया घर-घर नाचनेवाली नर्तकी है और भक्ति पवित्र पतिव्रता नारी है। यह भक्तिरूपी पतिव्रता नारी परमात्मा को अत्यंत प्रिय है। इसलिए भक्ति को देखकर माया सकुचाती है और उससे सदा डरती रहती है। यही कारण है कि विवेकशील मुनिजन और महात्मा भक्ति का ही वरदान

1. **बारि बिलोएँ**=पानी के मथने से 2. अपने अंदर का 3. कछुआ
4. पाना 5. **मृगजल पाना**=मृगतृष्णा के जल को पीकर 6. सींग
7. सूर्य को 8. बर्फ़ 9. आग 10. पानी 11. बालू 12. अमिट

माँगते हैं। इस रहस्य को कोई आसानी से समझ नहीं पाता पर प्रभु की कृपा से जिसे इसकी समझ हो जाती है, वह भक्ति को अपनाकर सदा के लिए मोहजाल से मुक्त हो जाता है:

ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना[1]॥
पुरुष त्यागि सक नारिहि जो बिरक्त मति धीर[2]।
न तु कामी बिषयाबस[3] बिमुख जो पद रघुबीर॥
सोउ मुनि ग्याननिधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि[4]।
बिबस होइ हरिजान[5] नारि बिष्नु माया प्रगट॥
मोह न नारि नारि कें रूपा। पन्नगारि[6] यह रीति अनूपा॥
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि बर्ग जानइ सब कोऊ॥
पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥
भगतिहि सानुकूल[7] रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥
राम भगति निरुपम[8] निरुपाधी[9]। बसइ जासु उर सदा अबाधी[10]॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥
अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी॥
यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि[11] न जानइ कोइ।
जो जानइ रघुपति कृपाँ सपनेहुँ मोह न होई॥

मानस, 7.114(ख).8-116(क)

भक्ति का मार्ग सरल, सुलभ और सब तरह से सुखदायक है। यह तीनों प्रकार के दु:ख (दैहिक, दैविक और भौतिक) तथा संसार के भय को दूर करनेवाला है। इसमें न यज्ञ आदि करने की सामग्री इकट्ठी करनी पड़ती है और न योग, तपस्या, उपवास आदि करने का कष्ट उठाना पड़ता है।

1. गरुड़ 2. **मति धीर**=धीर बुद्धि वाले 3. विषयों के ग़ुलाम
4. **बिधु...निरखि**=मुखरूपी चंद्रमा को देखकर 5. गरुड़ 6. सर्पों के शत्रु, गरुड़
7. **भगतिहि सानुकूल**=भक्ति से प्रसन्न 8. उपमा रहित 9. विशुद्ध
10. बिना किसी रुकावट के 11. जल्दी

बस केवल सरल भाव से मन के कपट को छोड़कर संतोष के साथ भक्ति की जा सकती है और प्रभु के चरण-कमलों में विश्वास जम जाने पर मनुष्य बिना कष्ट उठाए आसानी से संसार-सागर को पार कर जाता है:

रघुपति-भगति सुलभ, सुखकारी। सो त्रयताप[1]-सोक-भय-हारी॥

विनय-पत्रिका 136.10

कहहु भगति पथ[2] कवन प्रयासा[3]। जोग न मख[4] जप तप उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥

मानस, 7.45.1

उपजइ राम चरन बिस्वासा। भव निधि तर नर बिनहिं प्रयासा॥

मानस, 7.54.5

भक्ति अपने आप में सब तरह से परिपूर्ण है। यह आंतरिक साधना है और इसमें जप-तप, पूजा-पाठ, दान-पुण्य और तीर्थ-व्रत आदि किसी भी बाहरी साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसी लिए इसे स्वतंत्र और निरपेक्ष साधन माना जाता है। सभी ज्ञान-विज्ञान भक्ति के अधीन हैं और यह समस्त सुखों का भंडार है। सभी पुण्य कर्म या सदाचार भक्ति को सुदृढ़ बनाए रखने के लिए ही किए जाते हैं और सभी शुभ कर्मों का फल भक्ति में अपने आप ही आ जाता है:

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी[5]। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥

मानस, 7.44.3

सो सुतंत्र अवलंब न आना[6]। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥

मानस, 3.15.2

1. तीनों प्रकार के दु:ख 2. **भगति पथ**=भक्ति के मार्ग पर
3. **कवन प्रयासा**=परिश्रम क्या है? 4. यज्ञ 5. भंडार
6. कोई दूसरा

जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव[1] नाना सुभ कर्मा॥
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन[2]। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥
आगम निगम[3] पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥
तव पद पंकज[4] प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥

मानस, 7.48.1-2

जप तप मख सम[5] दम[6] ब्रत दाना। बिरति[7] बिबेक जोग बिग्याना॥
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा[8]॥

मानस, 7.94.(ख).3

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई[9]॥
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥

मानस, 7.125(ख).2-4

भक्ति के बिना सभी साधन निष्फल हैं क्योंकि प्रभुभक्ति यानी प्रभुप्रेम के बिना परमात्मा कभी मिल नहीं सकता। इसलिए जो लोग संत-महात्माओं द्वारा बताए गए भक्तिमार्ग पर नहीं चलते, वे मोह के वश होकर अनेक प्रकार की मनमानी साधना में उलझ जाते हैं और इस प्रकार अपना जीवन बरबाद कर डालते हैं:

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥

मानस, 7.61.1

संजम, जप, तप, नेम, धरम, ब्रत बहु भेषज-समुदाई[10]।
तुलसिदास भव-रोग[11] रामपद-प्रेम-हीन नहिं जाई॥

विनय-पत्रिका 81

1. **श्रुति संभव**=वेदों से उत्पन्न 2. स्नान करना 3. **आगम निगम**=शास्त्र और वेद
4. कमल 5. मन को रोकना 6. इंद्रियों को वश में करना 7. वैराग्य
8. कल्याण 9. कुशलता 10. औषधियों का समूह 11. संसाररूपी रोग

तुलसिदास ब्रत-दान, ग्यान-तप सुद्धिहेतु श्रुति गावै।
राम-चरन-अनुराग-नीर बिनु[1] मल अति नास न पावै॥

विनय-पत्रिका 82

कठिन काल मल कोस धर्म न ग्यान न जोग जप।
परिहरि सकल भरोस रामहि भजहिं ते चतुर नर॥

मानस, 3.6(ख)

श्रुति संमत[2] हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक[3]।
तेहिं न चलहिं नर मोह बस कल्पहिं[4] पंथ अनेक॥

मानस, 7.100(ख)

तुलसी श्री रघुबीर तजि करै भरोसो और।
सुख संपति की का चली नरकहुँ नाहीं ठौर॥

दोहावली 64

प्रभु ने ही माया की रचना की है और माया प्रभु के अधीन है। जैसे नट के इशारे पर नटी नाचती है, वैसे ही प्रभु के इशारे पर माया संसार की लीला रचाती है। इसलिए जिस पर प्रभु प्रसन्न हो जाता है वह कभी माया के भ्रमजाल में नहीं फँसता। जब तक भक्ति से प्रसन्न होकर प्रभु कृपा नहीं करते, तब तक माया से उत्पन्न दोषों का विनाश नहीं होता और उनके विनाश हुए बिना सांसारिक दु:खों का अंत और सुख-शांति की प्राप्ति नहीं होती। पर प्रभुभक्ति को अपना लेने पर प्रभु की कृपा से प्रभु की महिमा का बोध हो जाता है तथा उन पर पूरी प्रीति और प्रतीति हो जाती है, जिनसे भक्ति में दृढ़ता आ जाती है और दृढ़ भक्ति के द्वारा सहज ही परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। इसे स्पष्ट करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं:

1. **राम...बिनु**=प्रभु-चरणों के प्रेमरूपी जल के बिना
2. **श्रुति संमत**=जिसे वेद मानते हैं।
3. **संजुत...बिबेक**=विवेक और वैराग्य से युक्त 4. कल्पना करना

हरि माया कृत[1] दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं।
भजिअ राम तजि काम सब अस बिचारि मन माहिं॥

मानस, 7.104(क)

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहुँ न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥

मानस, 7.71(ख).1

सो नर इंद्रजाल[2] नहिं भूला। जा पर होइ सो नट[3] अनुकूला॥

मानस, 3.38(ख).2

तुम्ह कृपाल जा पर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिबिध भव सूला[4]॥

मानस, 5.46.3

हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या॥

मानस, 7.78(ख).1

राम कृपा बिनु सुनु खगराई[5]। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥
जानें बिनु न होइ परतीती[6]। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई[7]॥

मानस, 7.88(ख). 3-4

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह[8] बिश्रामु॥

मानस, 7.90(क)

1. **माया कृत**=माया द्वारा रचे हुए 2. संसार के धोखे 3. बाज़ीगर
4. **त्रिबिध...सूला**=तीनों प्रकार के सांसारिक दु:ख 5. पक्षिराज 6. विश्वास
7. **जल...चिकनाई**=जल पर चिकनाई नहीं ठहरती 8. पाना

तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोक धाम तजि काम[1]॥

मानस, 5.46

भक्ति की साधना से प्रभु शीघ्र प्रसन्न होते हैं और उनके प्रसन्न होते ही उनके प्रताप से आंतरिक आकाश प्रकाश से जगमगा उठता है मानों किसी अत्यंत प्रबल सूर्य का उदय हो गया हो। जिस तरह सूर्य के उदय होने से रात्रि का अंधकार मिट जाता है तथा बहुत-से जीव प्रसन्न हो उठते हैं और बहुत-से दु:खी हो जाते हैं, ठीक उसी तरह इस आंतरिक प्रकाश के प्रकट होने पर अविद्यारूपी रात्रि का अंत हो जाता है, तीनों आंतरिक लोक (पिंड, अंड और ब्रह्मांड) प्रकाश से भर जाते हैं, पापरूपी उल्लू ग़ायब हो जाते हैं, काम-क्रोध रूपी कुमुद मुरझा जाते हैं और मान, मोह, मद और मत्सररूपी चोर अपनी कला नहीं दिखा पाते तथा उसके साथ ही परमार्थी तालाब में ज्ञान-विज्ञान रूपी कमल खिल जाते हैं और सुख, संतोष, विवेक और वैराग्यरूपी चकवे शोक रहित हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में वे सभी सद्गुण जिनका उल्लेख पीछे किया गया है (धर्म, ज्ञान, विज्ञान, सुख, संतोष, विवेक और वैराग्य), विकसित हो जाते हैं और वे सभी दुर्गुण जिनका उल्लेख पहले हुआ है (अविद्या, पाप, काम, क्रोध आदि) नष्ट हो जाते हैं। भक्त के त्रिकुटी पद पर पहुँचने पर सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा काल, प्रकृति और तीनों गुणों के प्रभाव का उसी प्रकार अंत हो जाता है जिस प्रकार दिन के प्रकाश में चंद्रमा के न दिखाई देने से चकोर की ख़ुशी का अंत हो जाता है। इन बातों का संकेत करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं:

जब ते राम प्रताप खगेसा[2]। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा[3]॥
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका[4]। बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका॥

1. **तजि काम**=कामना छोड़ 2. पक्षिराज (गरुड़) 3. सूर्य
4. **तिहुँ लोका**=तीनों लोक—पिंड, अंड और ब्रह्मांड

जिन्हहि सोक ते कहउँ बखानी। प्रथम अबिद्या निसा[1] नसानी॥
अघ उलूक[2] जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव[3] सकुचाने॥
बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ[4]। ए चकोर सुख लहहिं न काऊ॥
मत्सर[5] मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर[6] न कवनिहुँ ओरा॥
धरम तड़ाग[7] ग्यान बिग्याना। ए पंकज बिकसे बिधि नाना॥
सुख संतोष बिराग बिबेका। बिगत सोक ए कोक[8] अनेका॥
यह प्रताप रबि जाकें उर जब करइ प्रकास।
पछिले बाढ़हिं प्रथम जे कहे ते पावहिं नास॥

मानस, 7.30.1-4, 7.31

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि अनेक दुष्ट तभी तक जीव के हृदय में अपना घर बनाए रहते हैं तथा हृदय के अंदर ममता यानी आपाभाव की अँधियारी तभी तक छाई रहती है, जब तक प्रभु का प्रतापरूपी सूर्य अंदर प्रकट नहीं होता। बाहरी सूर्य, चंद्रमा, पहाड़ों पर लगनेवाली भीषण जंगली आग या तारागण हृदय के अँधेरे को कभी दूर नहीं कर सकते। केवल प्रभु की कृपा से यानी प्रभु के प्रतापरूपी सूर्य के उदय होने पर ही यह अँधेरा दूर होता है, काम, क्रोध आदि दुष्टों का नाश होता है, आवागमन के मूल कारण अविद्या का अंत होता है और जीव का क्लेश सदा के लिए मिट जाता है:

तब लगि हृदयँ बसत खल[9] नाना। लोभ मोह मच्छर[10] मद[11] माना॥
ममता तरुन तमी अँधिआरी[12]। राग द्वेष उलूक सुखकारी॥
तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि[13] नाहीं॥

मानस, 5.46.1-2

1. रात 2. **अघ उलूक**=पापरूपी उल्लू 3. कुमुद 4. स्वभाव 5. ईर्ष्या
6. कला 7. तालाब 8. चकवा पक्षी 9. दुष्ट 10. मत्सर (ईर्ष्या)
11. अहंकार 12. **ममता...अँधिआरी**=आपाभाव रूपी अँधेरी रात 13. सूर्य

राकापति षोडस[1] उअहिं तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव[2] लाइअ[3] बिनु रबि राति न जाइ॥
ऐसेहिं हरि बिनु भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥
हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या॥

मानस, 7.78(ख), 1

भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल[4] अबिद्या नासा॥

मानस, 7.118(ख).4

क्रोध मनोज[5] लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम कीं दाया॥

मानस, 3.38(ख).2

इसलिए उस जीव की दशा सचमुच ही शोचनीय है जो छल-कपट छोड़कर प्रभु का भक्त नहीं बन जाता। ऐसा मनुष्य जीते हुए भी मुर्दे के समान है। यदि वह ब्रह्मा जैसा भी शरीर पा ले, तब भी वह प्रशंसा का पात्र नहीं बन सकता। पर भक्ति में लगा मनुष्य यदि अत्यंत निम्न वर्ग का भी हो, तब भी वह प्रभु को प्राणों के समान प्यारा होता है:

सोचनीय[6] सबहीं बिधि सोई। जो न छाड़ि छलु हरि जन[7] होई॥

मानस, 2.172.2

जिन्ह हरि भगति हृदयँ नहिं आनी। जीवत सव[8] समान तेइ प्रानी॥

मानस, 1.112.3

राम बिमुख लहि बिधि[9] सम देही। कबि कोबिद[10] न प्रसंसहिं तेही॥

मानस, 7.95(ख).2

1. **राकापति षोडस**=सोलह कलाओं वाला यानी पूर्णिमा का चंद्रमा
2. जंगल की आग 3. लगा दी जाए 4. **संसृति मूल**=संसार चक्र की जड़
5. काम 6. चिंताप्रद 7. प्रभुभक्त 8. मुर्दा 9. ब्रह्मा 10. ज्ञानी

भगतिवंत[1] अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

मानस, 7.85(ख).5

जो जीव प्रभु से विमुख रहता है उसके लिए माता मृत्यु के समान, पिता यमराज के समान, अमृत विष के समान, मित्र सैकड़ों शत्रुओं के समान, गंगा वैतरणी (यमपुरी की नदी) के समान और सारा संसार अग्नि से भी अधिक दाहक हो जाता है:

मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥
मित्र करइ सत रिपु कै करनी। ता कहँ बिबुधनदी बैतरनी॥
सब जगु ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥

मानस, 3.1.3-4

पर जिस पर प्रभु प्रसन्न हो जाता है उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। प्रभु की कृपा से रूई भी जो तुरंत जल जानेवाली चीज़ है, समुद्र की आग को जला सकती है अर्थात् जिस पर प्रभु की कृपादृष्टि हो जाती है, उसके लिए असंभव भी संभव हो जाता है। उसके लिए विष भी अमृत हो जाता है, शत्रु भी मित्रता करने लगते हैं, समुद्र गाय के खुर के बराबर हो जाता है, अग्नि में शीतलता आ जाती है और सुमेरु पर्वत भी धूल के समान बन जाता है। इसलिए वे जीव धन्य हैं जो जड़ को चेतन और चेतन को जड़ बनानेवाले प्रभु के भजन अर्थात् नाम की साधना में लगे हुए हैं:

ता कहुँ प्रभु कछु अगम नहिं जा पर तुम्ह अनुकूल।
तव प्रभावँ बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल॥

मानस, 5.33

1. भक्ति करनेवाला

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥
गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही॥

मानस, 5.4.1-2

जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य॥

मानस, 7.119(ख)

ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता

ज्ञानमार्गी विचारधारा के अनुसार ज्ञान को ही बंधन से छुटकारा पाने का एकमात्र साधन माना जाता है। तुलसीदास जी इस विचारधारा से भलीभाँति परिचित थे। इसलिए उन्होंने जीव के बंधन में पड़ने के कारण और उससे छुटकारा पाने के उपाय पर गहराई से विचार करते हुए ज्ञान और भक्ति के साधनों की तुलना की है और यह दिखाया है कि किस प्रकार भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है।

जीव के बंधन में पड़ने का कारण बताते हुए वह कहते हैं कि यह जीव जो परमात्मा का अंश और स्वभावत: अविनाशी, चेतन, निर्मल और सहज सुख का भंडार है, मायावश सांसारिक बंधन में पड़ा हुआ है। जब से यह चेतन जीव संसार में आया है, तब से यह जड़ माया के साथ बँधा हुआ है और इन दोनों के बीच की गाँठ अब इतनी अधिक उलझ गई है कि इसे सुलझाना बहुत ही कठिन है। जीव के हृदय में मोह का इतना घोर अंधकार छाया हुआ है कि उसे सूझता ही नहीं कि यह गाँठ कैसे बँधी है और इसे कैसे खोला जा सकता है। पर इस गाँठ को खोले बिना जीव कभी बंधन से छूट नहीं सकता:

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल[1] सहज सुख रासी[2]॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं बँध्यो कीर[3] मरकट[4] की नाईं॥

1. निर्मल 2. **सुख रासी**=सुख का भंडार 3. तोता 4. बंदर

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा[1] छूटत कठिनई[2]॥
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥
जीव हृदयँ तम[3] मोह बिसेषी। ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी॥

मानस, 7.116(ख).1-4

जब तक जीव के हृदय में प्रकाश नहीं होता तब तक जड़ और चेतन की गाँठ दिखाई नहीं देती। इसलिए उसे खोल पाना संभव नहीं है। ज्ञानमार्ग के अनुसार इस प्रकाश के लिए घी, दीया और बत्ती की आवश्यकता पड़ती है। अनेक यम, नियम, तप, व्रत आदि के द्वारा मन और इंद्रियों को वश में करके योगरूपी अग्नि को प्रकट किया जाता है। उस अग्नि में शुभ और अशुभ कर्मरूपी ईंधन को जला दिया जाता है। फिर जब ममता की मैल दूर हो जाती है तब बुद्धि को ज्ञानरूपी घी की प्राप्ति होती है। विज्ञानरूपिणी बुद्धि अर्थात् विशुद्ध ज्ञान से परिपूर्ण बुद्धि इस निर्मल ज्ञान के घी को चित्त के दीपक में भरकर समतारूपी दीवट (चिराग़दान) पर स्थिरता से रखती है। फिर जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की तीन अवस्थाओं और सत्त्व, रजस् और तमस् नामक तीन गुणों के कपास से तुरीयावस्था-रूपी रूई को निकालकर सुंदर मोटी बत्ती बनाई जाती है। तब हृदय के अंदर परम प्रकाशमय दीपक जलता है। इस प्रकाश में आत्मा को यह बोध होता है कि मैं परमात्मा का ही रूप हूँ (सोऽहमस्मि)। इस सुखमय अनुभव द्वारा द्वैत का भ्रम जो संसार का मूल कारण है, नष्ट हो जाता है। इस प्रचंड दीपशिखा के पास जाते ही मोह, मद आदि अविद्या के परिवार जल जाते हैं। तब विज्ञानरूपिणी बुद्धि हृदयरूपी घर के प्रकाश में स्थिरता से बैठकर जड़-चेतन की गाँठ को खोलने की कोशिश करती है। यदि वह गाँठ को खोलने में सफल हो जाती है तो जीव माया के बंधन से छूटकर कृतार्थ हो जाता है:

1. झूठ 2. बहुत कठिन है 3. अंधकार

जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै[1] ग्यान घृत[2] ममता मल जरि जाइ॥
तब बिग्यानरूपिनी बुद्धि[3] बिसद[4] घृत पाइ।
चित्त दिआ भरि धरै दृढ़ समता दिअटि[5] बनाइ॥
तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल[6] तुरीय[7] सँवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि॥
एहि बिधि लेसै[8] दीप तेज रासि[9] बिग्यानमय।
जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ[10] सब॥
सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा॥
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल[11] भेद भ्रम नासा॥
प्रबल अबिद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा॥
तब सोइ बुद्धि पाइ उँजिआरा। उर[12] गृहँ बैठि ग्रंथि निरुआरा[13]॥
छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तब यह जीव कृतारथ[14] होई॥

मानस, 7.117(क)-7.117(घ).1-3

माया कभी भी जीव को बंधन से छूटने देना नहीं चाहती। इसलिए गाँठ खोलते समय वह अनेक विघ्न खड़े करती है। बहुत-सी ऋद्धियों-सिद्धियों को भेजकर वह बुद्धि को लोभ दिखाती है। ये ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ अनेक कलाएँ दिखाकर और छल-बल के द्वारा साधक के पास जाकर अपने आँचल की हवा से ज्ञान के दीपक को बुझा देती हैं। कोई विरला साधक ही ऐसी सतर्क बुद्धिवाला होता है जो अपनी हानि का ख़याल करके इन ऋद्धियों-सिद्धियों की ओर नहीं देखता। यदि साधक इनसे बच निकलता है तो फिर देवता अनेक विघ्न डालते हैं। इंद्रियों के द्वार हृदयरूपी घर के मानों झरोखें हैं जिन पर इंद्रियों के देवता बैठे रहते हैं। वह विषयरूपी

1. ठंडा करना 2. घी 3. ठीक निर्णय करनेवाली 4. निर्मल
5. चिराग़दान 6. रूई 7. सहस्रदल-कँवल में पहुँचने की अवस्था
8. जलाना 9. **तेज रासि**=प्रकाश पुंज 10. पतंगे
11. **भव मूल**=संसार का मूल 12. हृदय 13. सुलझाना 14. कामयाब

हवा को आते देखकर हठपूर्वक इंद्रियों का द्वार खोल देते हैं। ज्यों ही यह तेज़ हवा इंद्रियों के द्वार से हृदय में पहुँचती है, त्यों ही ज्ञान का दीपक बुझ जाता है। दीपक के बुझ जाने से प्रकाश नष्ट हो जाता है और जड़-चेतन की गाँठ खुल नहीं पाती तथा बुद्धि विषय की आँधी से बावली हो जाती है। इंद्रियों के देवताओं को ज्ञान नहीं भाता। उनकी रुचि विषय-भोगों में होती है। जब विषयों की आँधी में पड़कर बुद्धि ही बावली बन जाती है, तब भला ज्ञान के दीपक को दोबारा कौन जलावे? जीव को तब संसार के जन्म-मरण के चक्कर में पड़कर अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। माया से पार पाना सचमुच ही बहुत कठिन है। ज्ञान कहने, समझने और साधना करने में भी कठिन है। कहीं संयोग से ज्ञान की प्राप्ति हो भी जाए तो इसे सँभाले रखने में अनेक विघ्न हैं। इस तरह ज्ञानमार्ग दुर्गम और विघ्नों से भरा हुआ है। इस कठिन साधना में मन को टिकाने का कोई आसरा भी नहीं मिलता। बहुत कष्ट उठाने के बाद यदि कहीं ज्ञान में टिके रहना संभव हो भी जाए तो भी भक्ति रहित होने के कारण यह प्रभु को प्रिय नहीं होता:

छोरत ग्रंथि जानि खगराया[1]। बिघ्न अनेक करइ तब माया॥
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई॥
कल[2] बल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात[3] बुझावहिं दीपा॥
होइ बुद्धि जौं परम सयानी[4]। तिन्ह तन चितव न अनहित[5] जानी॥
जौं तेहि बिघ्न बुद्धि नहिं बाधी[6]। तौ बहोरि[7] सुर[8] करहिं उपाधी[9]॥
इंद्रीं द्वार झरोखा[10] नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना[11]॥
आवत देखहिं बिषय बयारी[12]। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥
जब सो प्रभंजन[13] उर गृहँ जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई॥

1. पक्षिराज (गरुड़) 2. कला 3. **अंचल बात**=आँचल की हवा से
4. होशियार 5. हानि 6. रोकना 7. फिर 8. देवता 9. उपद्रव
10. छोटी खिड़की 11. स्थान 12. बिषय बयारी=विषयों की हवा
13. प्रबल वायु

ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा[1]॥
इंद्रिन्ह सुरन्ह[2] न ग्यान सोहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई॥
बिषय समीर[3] बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी[4]॥
तब फिरि जीव बिबिधि बिधि पावइ संसृति[5] क्लेस।
हरि माया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहगेस[6]॥
कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय[7] जौं पुनि प्रत्यूह[8] अनेक॥

मानस, 7.117 (घ).3-8, 7.118(क),(ख)

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भक्ति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥

मानस, 7.44.2

इस प्रकार ज्ञानमार्ग के संबंध में अपना निष्कर्ष देते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि यह तलवार की धार के समान है जिस पर चलना अत्यंत ही कठिन है और जहाँ से गिरते भी देर नहीं लगती। जो इस मार्ग को निर्विघ्न निबाह ले जाता है, वही मोक्ष के दुर्लभ पद को प्राप्त करता है। पर प्रभु के नामभजन में लगे जीव के पास यह दुर्लभ पद बिना इच्छा किए ही अपने आप हठपूर्वक आ जाता है:

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस[9] होइ नहिं बारा[10]॥
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई[11]। सो कैवल्य परम पद लहई॥

1. हवा 2. **इंद्रिन्ह...सुरन्ह**=इंद्रियों के देवता 3. हवा
4. **दीप...बहोरी**=दीपक को फिर से कौन जलाए? 5. सांसारिक जन्म-मरण
6. पक्षियों के राजा (गरुड़) 7. **घुनाच्छर न्याय**=संयोगवश हो जाना
8. बाधा 9. हे गरुड़ 10. **होइ...बारा**=देर नहीं लगती
11. निबाह ले जाता है

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद[1]॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं अनइच्छित आवइ बरिआई[2]॥

मानस, 7.118(ख).1-2

ज्ञान का सिद्धांत समझाकर तुलसीदास जी भक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि प्रभु की भक्ति द्वारा भक्त के हृदय में एक सुंदर चिंतामणि प्रकट हो जाता है। चिंतामणि सभी अभिलाषाओं को तुरंत पूर्ण करनेवाला एक परम प्रकाशमय रत्न है। अपने प्रकाश के लिए उसे किसी दीपक, घी और बत्ती की आवश्यकता नहीं होती और न इसे लोभरूपी हवा कभी बुझा सकती है। यह चिंतामणि अविद्या के घोर अंधकार को दूर कर देता है और सभी मानस-रोगों को हटा देता है जो जीवों को दु:खी बनाए रहते हैं। जिसके हृदय में यह भक्तिरूपी चिंतामणि बस जाता है, उसके निकट काम, क्रोध आदि दुष्ट फटकने नहीं पाते और उसे कभी सपने में भी दु:ख नहीं होता। उसके लिए विष भी अमृत हो जाता है और शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। इस भक्तिरूपी चिंतामणि के बिना कोई भी सुखी नहीं हो सकता। इसलिए वही व्यक्ति सबसे अधिक बुद्धिमान है जो इस मणि को प्राप्त करने के लिए भरपूर प्रयत्न करता है। यह मणि कहीं दूर नहीं है। यह सदा सबके पास ही है पर प्रभु की कृपा के बिना इसे कोई पा नहीं सकता। इसे पाने का उपाय भी सुगम ही है पर जो मनुष्य अभागे हैं, वे इसे ठुकरा देते हैं:

कहेउँ ग्यान सिद्धांत बुझाई। सुनहु भगति मनि कै प्रभुताई[3]॥
राम भगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर॥
परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात[4] नहिं ताहि बुझावा॥

1. कहना 2. ज़बरदस्ती 3. महिमा 4. **लोभ बात**=लोभरूपी हवा

प्रबल अबिद्या तम[1] मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ[2] समुदाई॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं॥
गरल[3] सुधासम[4] अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥
ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी॥
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥
सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई॥
सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहिं भटभेरे[5]॥

मानस, 7.119(ख).1-6

भक्तिरूपी चिंतामणि के पाने का उपाय बताते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि पारमार्थिक सद्ग्रंथ मानों पवित्र पर्वत हैं जिनमें प्रभुभक्ति के उपदेश की खानें भरी पड़ी हैं। संतजन इन भक्तिरूपी खानों के रहस्य को जाननेवाले हैं। संतजनों के संपर्क से उत्पन्न सुबुद्धि ही मानों खानों को खोदनेवाली कुदाल है और उनके उपदेश से प्राप्त ज्ञान और वैराग्य मानों दो आँखें हैं। इन्हें पाकर जो जीव प्रेम के साथ भक्ति के प्रयत्न यानी अभ्यास में लगता है, वह अवश्य ही भक्तिरूपी चिंतामणि को पा लेता है जो सभी सुखों का भंडार है। यद्यपि परमात्मा का निवास सबके हृदय के अंदर है, फिर भी संतजनों की सहायता के बिना कोई उसे पा नहीं सकता क्योंकि संतजनों की सहायता के बिना कोई परमात्मा की सच्ची भक्ति कर ही नहीं सकता। इसी लिए तुलसीदास जी कहते हैं कि परमात्मा के सेवक (संतजन) परमात्मा से भी बढ़कर हैं:

पावन पर्बत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥

1. **अबिद्या तम**=माया का अँधेरा 2. पतंगे
3. विष 4. अमृत के समान 5. **देहिं भटभेरे**=ठुकरा देते हैं।

भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥
मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

मानस, 7.119(ख). 7-8

भक्तिरूपी चिंतामणि को पाने में संतजनों की सहायता की कितनी अधिक आवश्यकता है, इसे बताते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि परमात्मा मानों समुद्र है और संतजन समुद्र से निकले हुए बादल हैं। जब तक समुद्र बादल का रूप बनकर वर्षा नहीं बरसाता, तब तक समुद्र के पानी को न कोई पी सकता है और न इससे धरती ही हरी हो सकती है।

एक और उपमा देते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि परमात्मा मानों चंदन-वृक्ष है और संतजन इसकी सुगंध को बिखेरकर आसपास के वृक्षों को चंदन बना देनेवाली हवा हैं। संतजनरूपी हवा के बिना परमात्मारूपी चंदन-वृक्ष की सुगंध किसी दूसरे वृक्षरूपी मनुष्य को प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए जो मनुष्य किसी संत की शरण लेकर उनके सत्संग का लाभ उठाते हैं, वे प्रभुभक्तिरूपी चिंतामणि को सहज ही प्राप्त कर लेते हैं। अन्य सभी साधन इस प्रभुभक्ति के उत्तम फल के लिए ही किए जाते हैं पर संत की सहायता के बिना कोई भी इस उत्तम वस्तु को पा नहीं सकता:

राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥
सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा[1]॥

मानस, 7.119(ख).9-10

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि तुलसीदास जी ने अन्य संतों के ही समान भक्ति को प्रभुप्राप्ति का सर्वोच्च साधन माना है तथा भक्ति की

1. गरुड़

साधना द्वारा प्राप्त होनेवाले उस चिंतामणि का वर्णन किया है जो बिना दीया, बत्ती और घी के अपने आप सदा प्रकाशित रहता है। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यह सदा प्रकाशित रहनेवाला मणि केवल संत या सतगुरु की सहायता से ही मिल सकता है।

स्वामी जी महाराज ने भी बड़े स्पष्ट रूप से भक्ति को सच्चा मार्ग या गुरुमत कहा है और बाक़ी मतों को सार्थक नहीं कहा है। उन्होंने भी यह कहा है कि संत या सतगुरु के बिना कोई भी भक्ति करके उस परमपद को प्राप्त नहीं कर सकता जिसे अनादि और अनंत माना गया है। वह कहते हैं:

भक्ति महात्म सुन मेरे भाई। सब संतन ने किया बखान॥
यही मता गुरु-मत पहिचानो। और मते सब झूठ भुलान॥
बिना भक्ति थोथे सब मानो। छिलका है मींगी की हान॥
वह भंडार प्रेम का भारी। जाँ का आदि न अंत दिखान॥
बिना संत पहुंचे नहिं कोई। सतगुरु संत किया अस्थान॥

सारबचन संग्रह, 12:1.1-3, 15-16

पलटू साहिब भी कहते हैं:

एक भक्ति मैं जानौं और झूठ सब बात॥

पलटू साहिब की बानी, भाग 1, कुं. 56

साहिब के दरबार में केवल भक्ति पियार॥

पलटू साहिब की बानी, भाग 1, कुं. 218

बिना तेल और बत्ती के जलनेवाले भक्ति के दीपक का उल्लेख कबीर साहिब ने भी किया है। वह कहते हैं:

हम बासी उस देस के, जहाँ ब्रह्म का खेल।
दीपक देखा गैब का, बिन बाती बिन तेल॥

कबीर साखी-संग्रह, पृ. 112

पलटू साहिब भी बिना तेल-बत्ती के सदा जलते रहनेवाले और केवल सतगुरु की सहायता से प्राप्त किए जानेवाले आंतरिक चिराग़ का वर्णन करते हुए कहते हैं:

उलटा कूवा गगन में तिस में जरै चिराग॥
तिस में जरै चिराग बिना रोगन बिन बाती।
छः रितु बारह मास रहत जरतै दिन राती॥
सतगुरु मिला जो होय ताहि की नजर में आवै।
बिन सतगुरु कोउ होय नहीं वा को दरसावै॥

पलटू साहिब की बानी, भाग1, कुं. 169

ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता का एक और कारण बताते हुए तुलसीदास जी ने स्वयं राम के मुख से कहलाया है कि प्रभु अपने भक्तों की सँभाल उसी तरह से करता है जिस तरह माता अपने छोटे बच्चे की रखवाली करती है। यदि नादान बच्चा आग या सर्प को पकड़ने के लिए दौड़ता है तो माता स्वयं इन संकटों से उसे अलग करके बचा लेती है। पर जब लड़का जवान हो जाता है तो माता का प्रेम रहता तो ज़रूर है पर पिछली बात तब नहीं रह जाती। भक्त छोटे बच्चे के समान है जिसे केवल अपनी माँ का ही बल और भरोसा होता है। पर ज्ञानी जवान पुत्र के समान है,जिसे अपने बल का भरोसा होता है। दोनों के लिए काम, क्रोध आदि शत्रु हैं। पर प्रभु पर भरोसा रखनेवाले भक्त का इन शत्रुओं से बचाव प्रभु की कृपा से सहज ही हो जाता है जब कि ज्ञानीजन बहुधा इन शत्रुओं के चंगुल में पड़कर पथभ्रष्ट हो जाते हैं। यही सोचकर विवेकी मनुष्य ज्ञान होने पर भी भक्ति का कभी त्याग नहीं करते। ज्ञान के अभिमान में मतवाले होकर जो सांसारिक भय

को दूर करनेवाली भक्ति का आदर नहीं करते, वे देव-दुर्लभ ऊँचे पद को पाकर भी नीचे गिरते देखे जाते हैं। पर जो सबकी आशा छोड़कर एकमात्र प्रभु पर विश्वास करके उसके भक्त बन जाते हैं, वे नाम का सुमिरन करके बिना विशेष परिश्रम किए ही संसार-सागर को पार कर जाते हैं:

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा[1]। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥
गह सिसु बच्छ[2] अनल[3] अहि[4] धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई[5]॥
प्रौढ़[6] भएँ तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता॥
मोरें प्रौढ़ तनय[7] सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी[8]॥
जनहि[9] मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु[10] आही॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहूँ ग्यान भगति नहिं तजहीं॥

मानस, 3.42(ख). 2-5

जे ग्यान मान बिमत्त[11] तव भव हरनि[12] भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि[13] परत[14] हम देखत हरी॥
बिस्वास करि सब आस परिहरि[15] दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव[16] नाथ सो समरामहे[17]॥

मानस, 7.12 (ग).छन्द 3

भक्ति को सभी साधनों से ऊँचा बताते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि हज़ारों मनुष्यों में कोई एक धार्मिक आचरण वाला होता है। करोड़ों धर्मात्माओं में विषयों को छोड़कर वैराग्यभाव धारण करनेवाला कोई एक

1. हर्ष के साथ 2. छोटा बच्चा 3. आग 4. सर्प 5. अलग करके
6. सयाना 7. पुत्र 8. अभिमान न करनेवाले 9. भक्त को 10. शत्रु
11. **ज्ञान...बिमत्त**=ज्ञान के अभिमान में मतवाले होकर 12. **भव हरनि**=जन्म-मरण को हरनेवाली 13. पद पाकर भी 14. गिर जाते हैं 15. त्यागकर
16. संसार 17. सुमिरन करते हैं

ही होता है। करोड़ों विरक्तों में यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करनेवाला कोई एक होता है। करोड़ों ज्ञानियों में जीवन-मुक्त अर्थात् अनासक्त भाव से जीवन बितानेवाला कोई एक ही होता है। वैसे हज़ारों मनुष्यों में कोई एक दुर्लभ ब्रह्मपद तक पहुँचने वाला होता है। इन सबसे बढ़कर और सबसे दुर्लभ पद का अधिकारी वह मनुष्य होता है जो अभिमान और माया से ऊपर उठकर प्रभु की भक्ति में लीन हो जाता है:

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी[1]। कोउ एक होइ धर्म ब्रतधारी॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिराग रत होई॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई[2]॥
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी॥
धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर[3] प्रानी॥
सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥

मानस, 7.53.1-4

भक्ति की श्रेष्ठता को स्थापित करके तुलसीदास जी उन जीवों को 'अभागी' (भाग्यहीन) कहते हैं जो भक्तिरूपी कामधेनु को छोड़कर किसी दूसरी साधना को अपनाते हैं। प्रभुप्राप्ति के लिए भक्ति को छोड़कर ज्ञान की साधना में लगना वैसा ही है जैसे दूध के लिए कामधेनु को छोड़कर आक या मदार के पौधे को खोजते फिरना अथवा अथाह समुद्र को पार करने के लिए जहाज़ को छोड़कर तैरकर पार करने की मूर्खता करना:

कहु खगेस[4] अस कवन अभागी। खरी[5] सेव सुरधेनुहि[6] त्यागी॥

मानस, 7.109 (घ).4

1. शिव 2. पाना 3. ब्रह्मलीन 4. गरुड़ 5. गधी
6. मनचाहा फल देनेवाली स्वर्ग की गाय

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़[1] कामधेनु गृहँ त्यागी। खोजत आक[2] फिरहिं पय[3] लागी॥
सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि[4] पार चाहहिं जड़ करनी[5]॥

मानस, 7.114(ख).1-2

मुक्ति भक्ति की चेरी

भक्ति को छोड़ ज्ञान, योग, वैराग्य आदि सभी साधनों का अंतिम लक्ष्य मुक्ति ही है। पर प्रभुभक्ति में लगे भक्त के पीछे उसकी इच्छा के बिना ही मुक्ति स्वयं दौड़ी आती है। प्रभुभक्ति ही मुक्ति का आधार है। जिस प्रकार करोड़ों उपाय करने पर भी बिना किसी स्थल का आधार पाए जल ठहर नहीं सकता, ठीक उसी प्रकार मुक्ति भी भक्ति का आधार पाए बिना नहीं मिल सकती। इसलिए भक्तजन मुक्ति को ठुकराकर प्रभुभक्ति में ही मग्न रहते हैं। भक्ति की साधना से अपने आप सहज भाव से ही आवागमन के मूल कारण अविद्या का नाश हो जाता है और मुक्ति प्राप्त हो जाती है। जैसे भोजन किया तो जाता है अपनी तृप्ति के लिए, पर जठराग्नि उसे अपने आप ही पचा डालती है। ठीक वैसे ही भक्ति की तो जाती है प्रभुप्रेम रस से तृप्त होने के लिए, पर इससे मुक्ति अपने आप ही प्राप्त हो जाती है। भक्ति के लिए तप, व्रत, उपवास, प्राणायाम आदि शरीर को कष्ट देनेवाले साधनों को नहीं अपनाना पड़ता। इसलिए भक्ति जैसे सुगम और सुखदायी साधन को न अपनानेवाले जीव सचमुच ही अज्ञानी हैं:

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम[6] आगम[7] बद[8]॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं अनइच्छित आवइ बरिआईं[9]॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥

1. मूर्ख 2. अकवन, मदार 3. दूध 4. तैरकर
5. **जड़ करनी**=मूर्खता का काम करनेवाले 6. वेद 7. शास्त्र 8. कहना
9. ज़बरदस्ती

तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई[1]। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई[2]॥
अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा[3]। संसृति[4] मूल अबिद्या नासा॥
भोजन करिअ तृपिति हित लागी। जिमि सो असन[5] पचवै जठरागी[6]॥
असि हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥

मानस, 7.118(ख). 2-5

प्रभुभक्ति की ऐसी महिमा है कि जो भी प्रभु की भक्ति करता है, वह मुक्ति (मोक्ष) के सबसे ऊँचे पद को अर्थात् प्रभु से मिलकर उनसे एकाकार होने की अवस्था को प्राप्त कर लेता है जो संतों का लक्ष्य है। मुक्ति का वास्तविक अर्थ है आत्मा का मन-माया के संसार से छुटकारा पाकर अपने आदि स्रोत परमात्मा में मिल जाना। पर पूर्ण गुरु से उपदेश न मिलने के कारण अनेक साधकों को परमात्मा की सच्ची जानकारी नहीं हो पाती और वे निचले आध्यात्मिक मंडलों में पहुँचकर ही यह मान बैठते हैं कि उन्हें मुक्ति प्राप्त हो गई। उदाहरण के लिए प्राणायाम की साधना करनेवाले साधक, प्राणों के चिदाकाश में लीन हो जाने के कारण, उस प्रथम आध्यात्मिक अवस्था को ही परमात्मा की प्राप्ति या मुक्ति की अवस्था मान लेते हैं। योगेश्वर ज्ञानी या वेदांती ब्रह्म को अपना इष्ट मानते हैं जो दूसरे आध्यात्मिक मंडल का धनी है। इसलिए वे ब्रह्मप्राप्ति को ही परमात्मा की प्राप्ति या मुक्ति मानते हैं। ब्रह्मपद में मन जो ब्रह्म का ही अंश है, ब्रह्म में समा जाता है। इसलिए केवल आत्मा ही अकेली सतगुरु के निर्देशन में परमार्थी यात्रा में आगे बढ़ती है। इसलिए इस ब्रह्मपद को, जब केवल आत्मा ही अकेली (मन के पंजे से छूटकर अपने शुद्ध रूप में) होती है, कैवल्य पद कहा जाता है। यहाँ पहुँचना भी आसान नहीं है। पर संत इस दूसरे आध्यात्मिक मंडल से बहुत आगे पाँचवें आध्यात्मिक

1. पक्षिराज (गरुड़) 2. छोड़कर 3. कोशिश
4. जन्म-मरण का चक्र 5. भोजन 6. पेट की आग

मंडल में जाते हैं जिसे सतलोक या सचखंड कहते हैं। यहाँ पहुँचकर आत्मा सत्पुरुष यानी सच्चे परमात्मा में समाकर सदा के लिए सच्चे अर्थ में मुक्त हो जाती है। तुलसीदास जी का संकेत संतों के इसी उच्चतम पद की ओर है। नाम-भक्ति के अभ्यास के द्वारा प्रभुभक्ति में लगे सभी जीवों के लिए यह सुख सुलभ है। इस भक्ति के बिना अन्य साधनों से प्राप्त जितने भी लाभ या सुख हैं वे सभी वैसे ही फीके हैं जैसे बिना नमक के अनेक प्रकार की साग-सब्ज़ियाँ:

राम भगति रत[1] नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥
मानस, 7.20.2

भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन[2] जैसे॥
मानस, 7.83(ख).3

इसी लिए तुलसीदास जी बार-बार अपने विभिन्न पात्रों से सब कुछ छोड़कर केवल प्रभुभक्ति की ही याचना कराते हैं। उदाहरण के लिए आदर्श भक्त के रूप में चित्रित भरत जी अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—इन चारों पदार्थों को छोड़ एकमात्र प्रभुभक्ति का ही वरदान माँगते हैं। भक्त को इस बात की परवाह नहीं होती कि उसे मुक्ति नहीं मिलेगी या फिर कहीं उसे जन्म लेना पड़ेगा। यदि उसे बार-बार भी जन्म लेना पड़े, तब भी वह प्रभुप्रेम की ही भीख माँगेगा और उसी में मग्न रहेगा। तभी तो भरत जी के माध्यम से तुलसीदास जी कहते हैं:

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान[3]।
जनम जनम रति[4] राम पद यह बरदानु न आन[5]॥
मानस, 2.204

1. लीन 2. अच्छा भोजन 3. मुक्ति 4. प्रेम 5. दूसरा

स्वयं राम को शिक्षा देनेवाले वसिष्ठ जी भी भक्ति की इसी मर्यादा का निर्वाह करते हुए राम से जन्म-जन्म तक केवल प्रभु के ही चरण-कमलों का प्रेम माँगते हैं:

नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥
मानस, 7.49

अन्य संतों ने भी मुक्ति को ठुकराकर केवल भक्ति का ही सदा भरोसा रखा है। मुक्ति को सबसे ऊँचा मानना ज्ञान-मार्गियों का केवल भ्रम है। संतों के इस विचार को पलटू साहिब ने इस प्रकार प्रकट किया है:

संत न चाहैं मुक्ति को नहीं पदारथ चार॥
नहीं पदारथ चार मुक्ति संतन की चेरी।
ऋद्धि सिद्धि पर थूकैं स्वर्ग की आस न हेरी॥...
ना चाहैं बैकुंठ न आवागवन निवारा।
सात स्वर्ग अपबर्ग तुच्छ सम ताहि बिचारा॥
पलटू चाहै हरि भगति ऐसा मता हमार।
संत न चाहैं मुक्ति को नहीं पदारथ चार॥
पलटू साहिब की बानी, भाग1, कुं. 57

आदि ग्रन्थ में भी गुरु रामदास जी ने कहा है:

सुरग मुकति बैकुंठ सभ बांछह नित आसा आस करीजै॥
हर दरसन के जन मुकति न मांगह मिल दरसन त्रिपत मन धीजै॥
आदि ग्रन्थ, पृ. 1324

स्वामी जी महाराज ने भी स्पष्ट रूप से कहा है कि मुक्ति को सबसे बढ़कर माननेवाले ज्ञान-मार्गी धोखे में पड़े हुए हैं:

मुक्ति पदारथ बढ़ कर जाना। ज्ञानी ऐसा धोखा खाया॥
कोई काल मुक्ती रस भोगा। फिर नर देही आन बँधाया॥
काल जाल से कोई न बाचा। निज घर अपने कोई न आया॥

सारबचन संग्रह, 23:1:10-11,14

सच्ची भक्ति संतों की संगति या सत्संग द्वारा प्राप्त होती है। इसलिए स्वयं तुलसीदास जी संसार के हितकारी, सरल-हृदय और प्रेम के साकार रूप संत की शरण लेकर उनसे बालक की तरह निश्छल भाव से प्रभुभक्ति की भिक्षा माँगते हुए कहते हैं:

संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु[1]।
बालबिनय सुनि करि कृपा राम चरन रति[2] देहु॥

मानस, 1.3(ख)

शिवजी के माध्यम से भी तुलसीदास जी अचल भक्ति और सत्संग का ही वरदान माँगते हैं:

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग[3]।
पद सरोज[4] अनपायनी[5] भगति सदा सतसंग॥

मानस, 7.14(क)

भुशुण्डिजी की भी यही विनती है:

भगत कल्पतरु प्रनत हित[6] कृपा सिंधु सुख धाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥

मानस, 7.84(ख)

1. **जानि...सनेहु**=स्नेह और स्वभाव को जानकर 2. प्रेम 3. प्रभु
4. **पद सरोज**=चरण-कमलों में 5. अचल
6. **प्रनत हित**=शरणागतों का कल्याण करनेवाले

सेवक स्वामी भाव

परमार्थ के सभी साधनों का एकमात्र लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति है। पर परमात्मा उसी को मिलता है जो अपनी सेवा-भक्ति से उसे प्रसन्न कर लेता है। परमात्मा को सेवक अत्यंत प्रिय हैं, वह सदा अपने सेवकों की इच्छा पूरी करता है और उन्हें बड़ाई देता है। यहाँ तक कि वह अपने सेवकों के वश में हो जाता है। सेवा और भक्ति के समान परमात्मा को रिझाने का और कोई साधन नहीं है और परमात्मा के समान सेवक पर ममता और प्रीति रखनेवाला और कोई स्वामी नहीं है। यहाँ हमें याद रखना चाहिए कि तुलसीदास जी की दृष्टि में सतगुरु और परमात्मा के बीच कोई अंतर नहीं है। इसलिए परमात्मा और उसके सेवक के संदर्भ में जो बातें कही गई हैं, वे सतगुरु और शिष्य के संबंध में भी उसी प्रकार लागू हैं। संतों ने अपनी रचनाओं में भक्ति के इस रूप को सेवक भाव यानी दास्य भाव के रूप में प्रकट किया है। इस प्रकार तुलसीदास जी कहते हैं कि जो लोग ऐसे समर्थ और उदार स्वामी (सतगुरु) की सेवा नहीं करते अर्थात् पूरी तरह उनकी आज्ञा में रहकर उनके आदेश के अनुसार भजन-सुमिरन नहीं करते, वे निरे अभागे हैं:

सुनु सुरेस[1] उपदेसु हमारा। रामहि सेवकु परम पिआरा॥

मानस, 2.218.1

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥

मानस, 5.6.3

राम सदा सेवक रुचि राखी[2]। बेद पुरान साधु सुर साखी[3]॥

मानस, 2.218.4

संतत दासन्ह देहु बड़ाई। तातें मोहि पूँछेहु रघुराई॥

मानस, 3.12.7

1. देवताओं के राजा इंद्र 2. **रुचि राखी**=इच्छा पूर्ण की 3. प्रमाणित करते हैं

बहुरि बिचारि परस्पर कहहीं। रघुपति भगत भगति बस अहहीं[1]॥

मानस, 2.264.2

आन[2] उपाउ न देखिअ देवा। मानत रामु सुसेवक सेवा॥

मानस, 2.264.4

कहहु कवन प्रभु कै[3] असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीति॥
जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी। ग्यान रंक नर मंद अभागी॥

मानस, 3.44.1-2

तुलसीदास जी ने स्वयं राम द्वारा भी बार-बार इस बात की पुष्टि कराई है कि परमात्मारूपी स्वामी (सतगुरु) को सेवक के समान और कोई प्रिय नहीं है। पर सेवक को अपने स्वामी पर दृढ़ विश्वास और पूरा भरोसा होना चाहिए। परमात्मा का सेवक होकर भी जो दूसरों से आशा रखता है, उस सेवक का भला क्या विश्वास किया जा सकता है? सेवक का परमात्मा पर जब पूरा विश्वास हो जाता है, तब परमात्मा सेवक के वश में हो जाता है और सेवक के लिए अपना सारा भंडार ही खोल देता है। उसे ऐसी कोई प्रिय चीज़ नहीं है जिसे वह सेवक को न दे डाले:

पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं[4]। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥

मानस, 7.85(ख).4

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

मानस, 7.42.3

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

1. **बस अहहीं**=वश में रहता है 2. दूसरा 3. **कवन...कै**=किस स्वामी की 4. **तोहि पाहीं**=तुम्हारे पास

सत्य कहउँ खग[1] तोहि सुचि[2] सेवक मम प्रानप्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥

मानस, 7.87(क), 87(ख)

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति[3] सोऊ॥

मानस, 4.2.4

सब कें प्रिय सेवक यह नीती। मोरें अधिक दास पर प्रीती॥

मानस, 7.15.4

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा[4] बिस्वासा॥
बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई॥

मानस, 7.45.2

सतगुरु अपने सेवक को कोई भी वस्तु देने में संकोच नहीं करते। इसका संकेत देते हुए तुलसीदास जी राम के मुख से कहलाते हैं:

जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ। जन[5] सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ॥
कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम्ह मागी॥
जन कहुँ कछु अदेय[6] नहिं मोरें। अस बिस्वास तजहु जनि भोरें[7]॥

मानस, 3.41.2-3

एकमात्र प्रभु पर भरोसा रखकर प्रभु के नामभजन में लीन रहनेवाले सेवक की रक्षा और सँभाल प्रभु उसी तरह से करता है जिस तरह माता अपने छोटे बच्चे की रखवाली करती है। यदि बच्चा कभी अज्ञानवश आग या सर्प को पकड़ने के लिए दौड़ता है तो माता तुरंत उसे पकड़कर बचा लेती है। यदि सेवक के मन में कभी अभिमान आ जाता है, जो सभी क्लेशों और जन्म-मरण रूप संसार का मूल कारण है तो प्रभु प्रेमवश

1. पक्षी (गरुड़) 2. पवित्र 3. दूसरे का भरोसा नहीं होता 4. क्या 5. भक्त 6. जो देने योग्य न हो 7. **तजहु...भोरें**=भूलकर भी मत छोड़ो

अपने सेवक के अभिमान को उसी तरह दूर कर देता है जिस तरह माता बच्चे के शरीर में फोड़ा होने पर कठोर बनकर उसे चिरा डालती है। तुलसीदास जी उन जीवों पर तरस खाते हैं जो सभी संशयों को छोड़कर ऐसे प्रभु का भजन नहीं करते:

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा[1]। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥
गह सिसु बच्छ[2] अनल[3] अहि[4] धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई[5]॥

मानस, 3.42(ख).2-3

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
संसृत मूल[6] सूलप्रद[7] नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥
ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी[8]॥
जिमि सिसु तन ब्रन[9] होइ गोसाईं मातु चिराव कठिन की नाईं॥
जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस[10] न भजहु भ्रम त्यागि॥

मानस, 7.73(ख).3-4, 7.74(क),(ख)

गुरु रामदास जी भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं:

जिउ जननी सुत जण पालती राखै नदर मझार॥
अंतर बाहर मुख दे गिरास खिन खिन पोचार॥
तिउ सतगुर गुरसिख राखता हर प्रीत पिआर॥

आदि ग्रन्थ, पृ.168

1. हर्ष के साथ 2. छोटा बच्चा 3. आग 4. सर्प
5. अलग करके 6. **संसृत मूल**=संसार चक्र की जड़ 7. दु:ख देनेवाला
8. **अति भूरी**=बहुत अधिक 9. फोड़ा 10. क्यों

सहजोबाई भी माता और बालक के संबंध को दिखाते हुए गुरु द्वारा शिष्य की सदा सँभाल किए जाने की बात बताती हैं:

हम बालक तुम माय हमारी। पल पल मोहिं करो रखवारी॥
निस दिन गोदी ही में राखो। इत वित बचन चितावन भाखो॥
बिषै ओर जाने नहिं देवो। ढुरि ढुरि जाउँ तो गहि गहि लेवो॥
मैं अनजान कछू नहिं जानूँ। बुरी भली को नहिं पहिचानूँ॥...
तुम्हरी रच्छा ही से जीऊँ। नाम तुम्हारो अमृत पीउँ॥
दिष्टि तिहारी ऊपर मेरे। सदा रहूँ मैं सरनैं तेरे॥
मारौ झिड़कौ तौ नहिं जाऊँ। सरकि सरकि तुमहीं पै आऊँ॥
चरनदास है सहजो दासी। हो रिच्छक पूरन अबिनासी॥

सहजो बाई की बानी, पृ.57-58

परमात्मारूपी स्वामी का हृदय इतना अधिक कोमल है कि वह अपने सेवकों के अवगुणों का कभी ख़याल ही नहीं करता। अपनी शरण में आए सेवकों के सभी अपराधों को भुलाकर वह उन्हें अपना बना लेता है। तुलसीदास जी नदी के किनारे के तुच्छ तृण का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि यदि कोई डूबता हुआ मनुष्य नदी के किनारे किसी तृण को पकड़ लेता है तो वह तृण बाँह पकड़ने की लाज के कारण या तो उस मनुष्य को बचा लेता है या उसके बचाने की चेष्टा में स्वयं उसके साथ बह जाता है। तब भला सर्वसमर्थ स्वामी अपने सेवकों की बाँह पकड़ने की लाज क्यों नहीं रखेगा?

जन[1] अवगुन प्रभु मान न काऊ[2]। दीन बंधु अति मृदुल[3] सुभाऊ॥

मानस 7, चौपाई 3

1. सेवक 2. कोई भी 3. कोमल

प्रनतपाल[1] रघुनायक करुना सिंधु खरारि[2]।
गएँ सरन प्रभु राखिहैं तव अपराध बिसारि॥

मानस, 5.22

तुलसी तृन जलकूल को[3] निरबल निपट निकाज[4]॥
कै राखै कै सँग चलै बाँह गहे की लाज॥

दोहावली 544

अपने सर्वसमर्थ गुरु अर्थात् स्वामी की सेवा कैसे करनी चाहिए और किस तरह सदा उनकी आज्ञा में रहना चाहिए, इसे समझाते हुए तुलसीदास जी ने अयोध्या कांड में राम और भरत के संवाद का आधार लेकर गुरु की सेवा की शिक्षा दी है। इस प्रसंग में भरत को सेवक और राम को गुरु के रूप में प्रस्तुत करते हुए वह कहते हैं कि लोग चाहे करोड़ों प्रकार से सेवक को बुरा कहते रहें, पर सेवक को सदा अपने स्वामी के हित का (न कि अपनी निंदा या अपने लाभ का) विचार करके उनकी सेवा में लगे रहना चाहिए। कहा जाता है कि सूर्य का सेवन पीठ से और आग का सेवन सामने से करना लाभदायक होता है। पर स्वामी का सेवन छल-कपट त्यागकर सभी प्रकार से करना चाहिए। इसी में सेवक की भलाई है। स्वामी की सेवा करते समय सेवक को अपने सुख और लाभ को बिलकुल भुला देना चाहिए। जो सेवक स्वामी को संकोच में डालकर अपना भला या लाभ चाहता है, वह तुच्छ बुद्धि वाला है। स्वामी की आज्ञा सुनकर जो उत्तर दे अर्थात् अपनी अक़्ल से कोई दूसरी बात कहे, ऐसे सेवक को देखकर लज्जा भी लजा जाती है। गुरु अपनी प्रसन्नता से जिसे जो आज्ञा दें, उसे सिर पर चढ़ाकर उसका पालन करने में ही सबका कल्याण है। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष – इन चारों पदार्थों में से किसी की भी चाह न रखकर निस्स्वार्थ और निश्छल भाव से प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करना ही परमार्थ का मूल है।

1. शरणागतों की रक्षा करनेवाले 2. दुष्टों के शत्रु
3. **तृन...को**=नदी के किनारे की लंबी घास 4. बिना किसी काम की

सच्ची सेवा उनकी आज्ञा के पालन द्वारा ही होती है। इसी लिए तुलसीदास जी उनकी आज्ञा में ही बने रहने की भीख माँगते हैं:

करइ स्वामि हित सेवकु सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥

मानस, 2.185.3

भानु[1] पीठि सेइअ उर[2] आगी। स्वामिहि सर्ब भाव छल त्यागी॥

मानस, 4.22.2

जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची[3]॥
सेवक हित साहिब सेवकाई। करै सकल सुख लोभ बिहाई॥

मानस, 2.267.2

उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई[4]। सो सेवकु लखि[5] लाज लजाई॥
अब कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइँ[6] न पावा॥

मानस, 2.268.3-4

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु[7] देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट[8] अवरेब[9]॥

मानस, 2.269

सहज सनेहँ स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई[10]॥
अग्या सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जन पावै देवा॥

मानस, 2.300.2

अपने सिद्धांत को स्पष्ट करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि सेवक-स्वामी भाव को अपनाकर स्वामी स्वरूप परमात्मा का भजन किए बिना कोई भी संसार-सागर को पार नहीं कर सकता:

1. सूर्य 2. हृदय 3. नीच 4. आज्ञा 5. देखकर
6. जिससे 7. आज्ञा 8. उपद्रव 9. कुटिल चाल
10. **फल...बिहाई**=अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष को छोड़कर

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि[1]।
भजहु राम पद पंकज[2] अस सिद्धांत बिचारि॥
मानस, 7.119(क)

अन्य संत भी कहते हैं कि सच्ची सेवा द्वारा सेवक अपने स्वामी को वश में कर लेता है, यहाँ तक कि स्वामी स्वयं ही सेवक की सेवा में लग जाते हैं। इसी लिए सभी संत प्रभु के सच्चे सेवक की सेवा-भक्ति करने और सदा उनकी आज्ञा में रहने पर ज़ोर देते हैं। उदाहरण के लिए दादू दयाल जी कहते हैं:

(दादू) सेवग साईं बस किया, सौंप्या सब परिवार।
तब साहिब सेवा करै, सेवग के दरबार॥
दादू दयाल की बानी, भाग1, परचा 273

(दादू) सिरजनहारा सबन का, ऐसा है समरत्थ।
सोई सेवग ह्वै रह्या, जहँ सकल पसारै हत्थ॥
दादू दयाल की बानी, भाग1, बेसास 23

आसिक[3] मासुक[4] ह्वै गया, इसक कहावै सोइ।
दादू उस मासूक का, अल्लहि आसिक होइ॥
दादू दयाल की बानी, भाग1, विरह 147

सेवा-भक्ति से परमात्मा को वश में करनेवाले सेवक की आज्ञा में ही सदा रहने का उपदेश देते हुए दादू जी कहते हैं:

अज्ञा माहैं बैसै ऊबै, अज्ञा आवै जाइ।
अज्ञा माहिं लेवै देवै, अज्ञा पहिरै खाइ॥
दादू दयाल की बानी, भाग1, निहकर्मी पतिव्रता 35

1. सर्पों के शत्रु (गरुड़) 2. **पद पंकज**=चरण-कमल 3. प्रेमी
4. प्रियतम

पतिव्रता गृह, आपणे, करै खसम[1] की सेव।
ज्यौं राखै त्यौं ही रहै, अज्ञाकारी टेव॥
दादू दयाल की बानी, भाग1, निहकर्मी पतिव्रता 37

स्वामी जी महाराज ने भी बड़े स्पष्ट रूप से कहा है:

अपनी उक्ति चतुरता त्यागो। संत बचन को करो प्रमाना॥
सारबचन संग्रह, 20:27:15

सुन गुरु बचन कहें जो तुझ से। कर परतीत मान हित चित से॥
सारबचन संग्रह, 22:11:1

गुरु बचन करो आधारा। गुरु दर्श निहारो सारा॥
सारबचन संग्रह, 18:4:2

1. स्वामी

प्रीति की रीति

संतों के अनुसार काम, क्रोध आदि को जीतकर तथा मन, वचन और कर्म से सरलता, निष्कपटता और सच्चरित्रता को अपनाकर एकमात्र प्रभु से प्रेम करना और केवल उन्हीं पर भरोसा रखना ही सच्ची प्रीति की रीति है। जब तक मन विषयों में आसक्त रहता है तब तक प्रभु से सच्ची प्रीति नहीं होती। पर एक बार जब सच्ची प्रीति की मिठास का स्वाद मिल जाता है, तब सांसारिक विषयों का स्वाद फीका लगने लगता है। परमात्मा में सच्ची प्रीति और प्रतीति हो जाने पर मनुष्य संसार की हारी हुई बाज़ी भी जीत लेता है और संसार-सागर को सहज ही पार कर जाता है। जैसा कि तुलसीदास जी कहते हैं:

प्रीति राम सों नीतिपथ[1] चलिय राग[2] रिस[3] जीति।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति॥

दोहावली 86.

सूधे मन सूधे बचन सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि रघुबर प्रेम प्रसूति[4]॥

दोहावली 152

1. सदाचार के मार्ग पर 2. आसक्ति 3. क्रोध
4. प्रेम प्रसूति=प्रेम उत्पन्न करनेवाली

बेष बिसद[1] बोलनि मधुर मन कटु करम मलीन।
तुलसी राम न पाइऐ भएँ बिषय जल मीन॥

दोहावली 153

तुलसी जौ लौं बिषय की मुधा[2] माधुरी मीठि।
तौ लौं सुधा[3] सहस्र सम राम भगति सुठि[4] सीठि[5]॥

दोहावली 83

तुलसी ममता राम सों समता सब संसार।
राग न रोष[6] न दोष दुख दास भए भव पार॥

दोहावली 94

रामहि डरु करु राम सों ममता प्रीति प्रतीति।
तुलसी निरुपधि[7] राम को भएँ हारेहूँ जीति॥

दोहावली 95

तुलसीदास जी कहते हैं कि परमात्मा से प्रेम करना तथा राग (काम या आसक्ति) और क्रोध को जीतकर सदाचार के मार्ग पर चलना ही संतों के मत के अनुसार भक्ति की रीति है। जो व्यक्ति मन, वचन और कर्म से सरल है, उसके अंदर परमात्मा का प्रेम उत्पन्न होना सभी प्रकार से सरल हो जाता है। बाहरी वेष भले ही साफ़-सुथरा (साधुओं जैसा) हो और बोली भी मीठी हो परंतु यदि मन में कड़ुवापन हो, करनी दूषित हो तथा मनरूपी मछली विषयरूपी जल में लीन हो तो परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब तक विषयों की झूठी मधुरता मीठी लगती है, तब तक रामभक्ति जो हज़ारों अमृत के समान मीठी है, फीकी ही मालूम पड़ती है। जिनकी ममता केवल प्रभु में है और सारे संसार के प्रति समता का भाव है तथा किसी के प्रति राग, द्वेष, दोष और दु:ख का भाव नहीं है, वे भक्त संसार-सागर

1. स्वच्छ 2. झूठी 3. अमृत 4. मधुर 5. फीकी
6. क्रोध 7. निष्कपट भाव से

को पार कर जाते हैं। इसलिए तुलसीदास जी कहते हैं कि परमात्मा से डरो और उनमें ही ममता, प्रेम और विश्वास रखो। जो निष्कपट भाव से प्रभु का अपना बन जाता है, वह जीवन की हारी हुई बाज़ी भी जीत लेता है।

सच्ची प्रीति करनेवाले को केवल अपने प्रियतम का ही बल और भरोसा होता है और वह केवल उन्हीं के आस और विश्वास पर जीता है। पपीहे का उदाहरण देते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि जिस तरह पपीहे को स्वाति बूँद के लिए सदा रट लगी रहती है, उसी तरह सच्ची प्रीति करनेवाले का अंतर्मन दिन-रात अपने प्रियतम से मिलने के लिए तड़पता रहता है। अपने प्रियतम को सब तरह से पूर्ण और दोष रहित समझने के कारण वह किसी भी दशा में अपने प्रियतम में दोष नहीं देखता और अपने सुख-दु:ख की परवाह न करते हुए सदा अपनी प्रीति बढ़ाता ही जाता है। ऐसी प्रीति करनेवाला संसार में कोई विरला ही होता है। तुलसीदास जी ने अपनी दोहावली में चातक के इस प्रेम को लेकर कई सुंदर दोहे लिखे हैं। इन दोहों से यह संकेत मिलता है कि सेवक का अपने सतगुरु के प्रति कैसा प्रेम होना चाहिए:

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित[1] चातक तुलसीदास॥
दोहावली 277

जौं घन बरषै समय सिर[2] जौं भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस॥
दोहावली 278

चातक तुलसी के मतें स्वातिहुँ पिऐ न पानि।
प्रेम तृषा[3] बाढ़ति भली घटें घटैगी आनि[4]॥
दोहावली 279

1. **राम...हित**=रामरूपी काले बादल के लिए 2. **समय सिर**=ठीक समय पर 3. प्यास 4. निष्ठा

रटत रटत रसना लटी तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग॥
दोहावली 280

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद[1] के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि[2] की ताते नाप न जोख॥
दोहावली 281

बरषि परुष[3] पाहन[4] पयद[5] पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिऐ चतुर चातकहि चूक॥
दोहावली 282

उपल[6] बरसि गरजत तरजि डारत कुलिस[7] कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥
दोहावली 283

तीनि लोक तिहुँ काल जस चातक ही कें माथ।
तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ॥
दोहावली 288

डोलत बिपुल[8] बिहंग[9] बन पिअत पोखरिन बारि[10]।
सुजस धवल[11] चातक नवल तुही भुवन दस चारि[12]॥
दोहावली 295

तुलसीदास जी कहते हैं कि मुझे तो बस एक ही बल, एक ही आशा और एक ही विश्वास है। मैं केवल एक परमात्मारूपी काले मेघ

1. बादल 2. समुद्र 3. कठोर 4. ओला 5. बादल
6. ओला 7. बिजली 8. बहुत-से 9. पक्षी 10. पानी
11. उज्ज्वल 12. **भुवन...चारि**=चौदहों लोकों में

के लिए पपीहा बना हुआ हूँ। यह प्रभुरूपी बादल चाहे ठीक समय पर बरसे (कृपा की वृष्टि करे), चाहे जन्म भर उदासीन रहे (कभी न बरसे); फिर भी इस चित्तरूपी पपीहे को बस केवल इसी का आसरा है। तुलसीदास जी के मत से तो पपीहे को स्वाति नक्षत्र में बरसा हुआ जल भी नहीं पीना चाहिए क्योंकि प्रेम की प्यास का बढ़ते रहना ही ठीक है। इसके घटने से तो प्रेम की निष्ठा (मर्यादा) में कमी आ जाएगी। अपने प्रियतम को रटते-रटते पपीहे की जीभ लड़खड़ा गई है और प्यास के मारे सारा अंग सूख गया है। फिर भी पपीहे के प्रेम का रंग और उसकी चाह नित्य नई होती जाती है। पपीहे के हृदय में अपने प्रियतम बादल के प्रति कभी दोष का भाव नहीं आता। इसलिए तुलसीदास जी कहते हैं कि प्रेम के समुद्र का कोई नाप-तोल नहीं हो सकता अर्थात् प्रेमरूपी अथाह समुद्र में किसी हिसाब-किताब से काम नहीं चल सकता। बादल कठोर ओले बरसाकर भले ही पपीहे के पंखों को टुकड़े-टुकड़े कर दे पर अपनी प्रेम की टेक निभाने में कुशल पपीहा अपनी ओर से कभी कोई कसर नहीं आने देता। बादल कड़क-कड़ककर भले ही ओले बरसाए या बिजली भी गिरा दे पर प्रेमी पपीहा क्या कभी बादल को छोड़कर किसी दूसरे की ओर देख सकता है? तीनों लोक और तीनों काल में यश तो केवल (अनन्य प्रेमी) पपीहे के ही भाग्य में है जिसकी दीनता किसी भी दूसरे स्वामी ने नहीं सुनी अर्थात् अपने प्रियतम को छोड़कर किसी दूसरे के सामने पपीहे ने कभी विनती नहीं की। वन में उड़ते फिरनेवाले बहुत-से पक्षी पोखरियों का पानी पीते हैं। परंतु हे नित्य नवीन प्रेमी पपीहे! अपने निर्मल यश से चौदहों लोकों को उज्ज्वल करनेवाला तो बस अकेला तू ही है।

पपीहे का उदाहरण देकर तुलसीदास जी यह भी समझाते हैं कि सच्ची प्रीति करनेवाला मरते दम तक भी कभी अपने प्रियतम को छोड़कर किसी दूसरे से अपनी आस पुराने की कोशिश नहीं करता, चाहे वह कितना भी पवित्र और महान क्यों न माना जाता हो:

चातक घन तजि दूसरे जिअत न नाई नारि[1]।
मरत न माँगे अर्द्धजल सुरसरिहु[2] को बारि[3]॥

तुलसी सतसई, 1:97

ब्याधा[4] बधो पपीहरा परो गंग जल जाय।
चोंच मूंदि पीवै नहीं धिक पीवन प्रण जाय॥

तुलसी सतसई, 1:98

बधिक[5] बधो परि पुन्य जल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट[6] मरत न लाई खोंच[7]॥

तुलसी सतसई, 1:99

चातक सुतहि सिखाव नित आन[8] नीर जनि लेहु।
यह हमरे कुल को धरम एक स्वाति सों नेहु॥

तुलसी सतसई, 1:100

तुलसी चातक देत सिख सुतहि[9] बारहीं बार।
तात न तर्पन[10] कीजिऐ बिना बारिधर[11] धार॥

दोहावली 304

सुनु रे तुलसीदास प्यास पपीहहि प्रेम की।
परिहरि चारिउ मास जो अँचवै जल स्वाति को॥

दोहावली 306

जाचै बारह मास पिऐ पपीहा स्वाति जल।
जान्यो तुलसीदास जोगवत[12] नेही मेह मन॥

दोहावली 307

---

1. **नाई नारि**=गर्दन झुकाना 2. गंगा जी 3. पानी 4. शिकारी
5. शिकारी 6. **प्रेम पट**=प्रेमरूपी वस्त्र 7. खरोंच 8. दूसरा
9. बेटे को 10. मरे हुए को जल देना 11. (स्वाति) के बादल की
12. सँजोना

उष्न काल[1] अरु देह खिन मग पंथी तन ऊख[2]।
चातक बतियाँ न रुचीं अन जल सींचें रूख[3]॥

दोहावली 310

एक अंग जो सनेहता[4] निसि दिन चातक नेह।
तुलसी जासों हित लगै वहि अहार वहि देह॥

दोहावली 312

पपीहे ने जीते-जी बादल को छोड़कर किसी दूसरे के सामने अपनी गर्दन नहीं झुकाई (याचना नहीं की) और मरते समय गंगा के जल में भी अर्द्धजली नहीं माँगी। (लोगों में यह विश्वास है कि मरते समय शरीर को आधा गंगाजी में और आधा बाहर रखने से मुक्ति मिलती है जिसे अर्द्धजली कहते हैं। पर पपीहे ने मुक्ति का भी निरादर कर दिया।) किसी शिकारी ने पपीहे का वध किया और पपीहा गंगा के जल में गिर पड़ा। पर उसने चोंच मूँद ली और गंगा का जल नहीं पीया। धिक्कार है वैसे जल को पीना जिसके पीने से प्रेम की टेक टूट जाए। शिकारी के मारने से पपीहा (गंगा के) पवित्र जल में गिरा पर उसने अपनी चोंच उलटकर ऊपर उठा ली। इस तरह पपीहे के प्रेमरूपी वस्त्र में मरते समय भी कोई खरोंच नहीं लगी। पपीहा अपने बेटे को रोज़ यही सिखाता है कि एक स्वाति के जल से प्रेम करना ही हमारे कुल का धर्म है। इसलिए किसी दूसरे जल को कभी ग्रहण नहीं करना। फिर वह बार-बार अपने बेटे को यह सीख देता है कि हे पुत्र! स्वाति के बादल की जलधारा के बिना (मरने पर) मेरा तर्पन न करना। तुलसीदास जी कहते हैं कि इसे सुन लो। पपीहे को केवल प्रेम की ही प्यास है (जल की नहीं)। इसी लिए वह बरसात के चारों महीनों के जल को छोड़कर केवल स्वाति नक्षत्र का ही जल पीता है। पपीहा बारहों महीने जल माँगता रहता है पर वह पीता है केवल स्वाति का ही जल। इससे यह जान पड़ता है कि

1. **उष्न काल**=ग्रीष्म काल 2. **तन ऊख**=शरीर में गर्मी होना
3. **अन...रूख**=दूसरे जल से सींचे हुए वृक्ष
4. **एक...सनेहता**=प्रेम का एकांगी रूप

वह सदा अपने प्रियतम के प्रेम को सँजोए रखने के लिए ही ऐसा करता है। गर्मी का मौसम था और शरीर से थका-माँदा पपीहा रास्ते में जा रहा था। उसका शरीर गरम हो रहा था। फिर भी उसे किसी वृक्ष पर विश्राम करने की बात अच्छी नहीं लगी क्योंकि वे वृक्ष स्वाति नक्षत्र के जल से सींचे हुए न होकर दूसरे ही जल से सींचे हुए थे। पपीहे का दिन-रात का प्रेम ही एकांगी प्रेम है (जिसमें प्रेमी यह नहीं देखता कि उसका प्रियतम बदले में प्रेम करता है या नहीं)। ऐसा प्रेम जिसके साथ लग जाता है, वही प्रेमी का आहार और देह बन जाता है अर्थात् अपने प्रियतम की याद में प्रेमी अपना खाना-पीना भूल जाता है तथा अपने शरीर की सुध-बुध भुलाकर प्रियतम के ही स्वरूप में तन्मय बना रहता है।

इसी प्रकार हिरन और मछली का उदाहरण देकर तुलसीदास जी कहते हैं कि जिस तरह हिरन राग के प्रेम में मस्त होकर अपने प्राणों तक को न्योछावर कर देता है तथा मछली पानी के बिना किसी भी उपाय से जी नहीं सकती, ठीक उसी तरह परमात्मा से सच्ची प्रीति लगानेवाला भी परमात्मा को पाए बिना कभी चैन से नहीं रह सकता:

आपु ब्याध को रूप धरि कुहौ[1] कुरंगहि[2] राग।
तुलसी जो मृग मन मुरै[3] परै प्रेम पट[4] दाग॥

दोहावली 314

देउ आपनें हाथ जल मीनहि[5] माहुर[6] घोरि।
तुलसी जिऐ जो बारि बिनु तौ तु देहि कबि खोरि[7]॥

दोहावली 317

मकर[8] उरग[9] दादुर[10] कमठ[11] जल जीवन जल गेह।
तुलसी एकै मीन को है साँचिलो सनेह॥

दोहावली 318

1. मारना 2. हिरण 3. मुड़ना 4. कपड़ा 5. मछली को
6. ज़हर 7. दोष 8. मगर 9. साँप 10. मेंढक 11. कछुआ

सुलभ प्रीति प्रीतम सबै कहत करत सब कोइ।
तुलसी मीन पुनीत ते त्रिभुवन बड़ो न कोइ॥

दोहावली 320

ज्यों जग बैरी मीन को आपु सहित बिनु बारि।
त्यों तुलसी रघुबीर बिनु गति आपनी बिचारि॥

दोहावली 56

राम प्रेम बिनु दूबरो राम प्रेमहीं पीन[1]।
रघुबर कबहुँक करहुगे तुलसिहि ज्यों जल मीन।

दोहावली 57

राग (बीन का मधुर स्वर) स्वयं शिकारी का रूप धारण कर हिरन को भले ही मार डाले पर यदि राग की ओर से हिरन का मन फिर जाए तो प्रेमरूपी वस्त्र में दाग़ लग जाएगा। इसी प्रकार जल चाहे स्वयं अपने हाथ से ज़हर घोलकर मछली को दे दे पर यदि मछली जल के बिना जीवित रह जाए तब तुम कवियों को दोष देना अर्थात् यदि एकांगी प्रेम का पालन करनेवाली मछली जल के बिना जीती रह जाए, तब तुम कह सकते हो कि कवियों ने मछली के एकांगी प्रेम की व्यर्थ ही कल्पना की है। घड़ियाल, पानी के साँप, मेंढक और कछुए आदि का जल ही जीवन और जल ही घर है। पर जल के साथ सच्चा प्रेम तो केवल मछली को ही है (क्योंकि और सब जलचर तो ज़मीन पर जीवित रह जाते हैं, केवल मछली ही जल के वियोग में जीवित नहीं रह सकती)। सभी कहते हैं कि प्रेम करना और प्रियतम को पाना आसान है और इसी भाव से सभी प्रेम भी करते हैं, पर सच्चे प्रेम की दृष्टि से मछली से बढ़कर पवित्र तीनों लोकों में कोई दूसरा नहीं है (दूसरे प्रियतम के वियोग में प्राण नहीं देते, पर मछली अपने प्रियतम जल के वियोग में प्राण त्याग देती है)। जैसे जल

1. पुष्ट

को छोड़कर सारा संसार मछली का वैरी है, यहाँ तक कि वह आप भी वैरी का काम करती है (जीभ के स्वाद के लिए काँटे में अपना मुँह फँसा लेती है), वैसे ही परमात्मा के बिना हमारी भी वही दशा है (हमारा मन वैरी बनकर हमें विषयों में फँसा देता है)। तुलसीदास जी कहते हैं कि जैसे मछली जल की कमी से दुबली हो जाती है और जल को पाकर पुष्ट (प्रसन्न) होती है वैसे ही हे प्रभु! आप कब ऐसा गहरा प्रेम प्रदान करेंगे कि मछली के समान मैं भी आपके प्रेमरूपी जल के बिना दु:ख का अनुभव करूँ और आपके प्रेम को पाकर आनंद में मग्न हो जाऊँ।

प्रभु से प्रीति लगने पर प्रेमी किस आतुरता के साथ अपने प्रियतम से कृपा की भीख माँगता है और किस विह्वलता के साथ उनकी शरण लेता है, इसका बड़ा ही मार्मिक रूप तुलसीदास जी ने नीचे के कुछ पदों में प्रस्तुत किया है:

माधव! अब न द्रवहु[1] केहि लेखे।
प्रनतपाल पन[2] तोर, मोर पर जिअहुँ कमलपद देखे॥
जब लगि मैं न दीन, दयालु तैं, मैं न दास, तैं स्वामी।
तब लगि जो दुख सहेउँ कहेउँ नहिं, जद्यपि अंतरजामी॥
तैं उदार, मैं कृपन[3], पतित मैं, तैं पुनीत, श्रुति गावै।
बहुत नात रघुनाथ! तोहि मोहि, अब न तजे बनि आवै॥
जनक-जननि[4], गुरु-बंधु, सुहृद-पति, सब प्रकार हितकारी।
द्वैतरूप तम-कूप[5] परौं नहिं, अस कछु जतन बिचारी॥
सुनु अदभ्र[6] करुना बारिजलोचन[7] मोचन भय भारी[8]।
तुलसिदास प्रभु! तव प्रकास बिनु, संसय टरै न टारी॥

विनय-पत्रिका 113

1. कृपा करना 2. प्रतिज्ञा 3. कंगाल 4. माता-पिता
5. **द्वैतरूप...कूप**=द्वैतरूपी अँधेरे कुएँ में 6. अपार 7. कमल के समान नेत्र वाले
8. **मोचन...भारी**=भारी भय को दूर करनेवाले

हे प्रभु! अब आप किस कारण कृपा नहीं करते? शरणागतों का पालन करना आपका प्रण है और मेरा प्रण है कि आपके चरण-कमलों को देखकर ही मैं जीऊँगा। जब तक मेरे और आपके बीच दीन और दयालु अथवा सेवक और स्वामी का नाता नहीं बना था, तब तक तो जो दु:ख मुझे सहने पड़े, उन्हें मैंने आपसे नहीं कहा, यद्यपि आप तो अंतर्यामी हैं (हृदय की बात जानते हैं)। पर अब तो मेरा और आपका संबंध हो गया है। आप उदार हैं और मैं दीन हूँ, आप पतित-पावन हैं और मैं पतित हूँ, ऐसा वेद भी कहते हैं। हे प्रभु! मेरे और आपके बीच बहुत-से संबंध हैं; अब आप मुझे त्याग नहीं सकते। आप ही मेरे पिता, माता, गुरु, भाई, मित्र, स्वामी और सब तरह से हित करनेवाले हैं। इसलिए कुछ ऐसा उपाय सोचें जिससे मैं द्वैतरूपी अँधेरे कुएँ में न गिरूँ। हे कमलनयन! आपकी अपार करुणा संसार के भारी भय को दूर करनेवाली है। तुलसीदास जी कहते हैं कि हे प्रभु! जब तक आपके स्वरूप का प्रकाश हृदय में नहीं आता, तब तक संसार का भ्रम कभी टाले नहीं टल सकता।

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत[1] नहिं आरतिहर[2] तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।
तात-मात, गुरु-सखा, तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जौ भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै॥

विनय-पत्रिका 79

1. दु:खी 2. दु:खों को दूर करनेवाले

हे प्रभु! यदि तू दीनों पर दया करनेवाला है तो मैं दीन हूँ; तू दानी है तो मैं भिखारी हूँ; तू पापों के समूह का नाश करनेवाला है तो मैं प्रसिद्ध पापी हूँ और यदि तू अनाथों का नाथ है तो मुझ-जैसा अनाथ भी और कौन है? मेरे समान कोई दु:खी नहीं है और तेरे समान कोई दु:खों को दूर करनेवाला नहीं है। यदि तू ब्रह्म है तो मैं जीव हूँ और यदि तू स्वामी है तो मैं सेवक हूँ। तू ही मेरा पिता, माता, गुरु, मित्र और सब प्रकार से हित करनेवाला है। तेरे मेरे अनेक नाते हैं, जो भी तुझे रुचे वही मान ले। हे कृपालु! जैसे भी हो यह तुलसी केवल तेरे चरणों की शरण पा जाए।

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे॥
कौने देव बराइ[1] बिरद-हित[2], हठि हठि अधम[3] उधारे।
खग, मृग, ब्याध, पषान, बिटप जड़, जवन कवन सुर तारे॥
देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज सब, माया-बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे॥

विनय-पत्रिका 101

तुम्हारे चरणों को छोड़ मैं और कहाँ जाऊँ? संसार में भला और किसका नाम 'पतित-पावन' है? किसे दीन अत्यंत प्यारे लगते हैं? और भला कौन ऐसा है जिसने अपने बाने को निभाने के लिए या अपने नाम की लाज रखने के लिए हठपूर्वक तुच्छ जीवों का उद्धार किया है? उदाहरण के लिए किस देवता ने पक्षी (जटायु), पशु (वानर-भालू), व्याध (शिकारी), पत्थर (अहल्या), जड़ वृक्ष (यमलार्जुन) और म्लेच्छों (राक्षसों) तक का उद्धार किया है? देवता, दैत्य, मुनि, नाग, मनुष्य आदि सभी बेचारे स्वयं माया के वश में पड़े हुए हैं। उनके हाथों अपने को सौंपकर हे प्रभु! यह आपका सेवक तुलसी क्यों अपने जीवन को हारे अर्थात् बरबाद करे?

1. बड़ाई 2. अपने यश की लाज रखने के लिए 3. पापी

भक्ति यानी प्रेम के मार्ग को सुगम इसलिए कहा गया है कि इसमें तीर्थ-व्रत, तप-उपवास आदि किसी बाहरी और शरीर को कष्ट देनेवाले साधनों की आवश्यकता नहीं है और भक्त सरल हृदय से प्रभु की भक्ति कर उन्हें सहज ही प्रसन्न कर सकता है। पर अपने सभी संशयों को मिटाकर सरल और एकांगी भाव से प्रभु की भक्ति कर पाना आसान नहीं है। जब तक हृदय शुद्ध नहीं होता तथा पूर्ण निष्कपट और निश्छल भाव से भक्ति नहीं की जाती, तब तक केवल बाहरी दिखावे से प्रभु को रिझाया नहीं जा सकता। नीचे के दो पदों में तुलसीदास जी ने अपने इन्हीं भावों को व्यक्त किया है:

रघुपति-भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई॥
जो जेहि कला कुसल ताकहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी।
सफरी[1] सनमुख जल-प्रवाह सुरसरी बहै गज भारी॥
ज्यों सर्करा[2] मिलै सिकता[3] महँ, बलतें न कोउ बिलगावै।
अति रसग्य सूच्छम पिपीलिका, बिनु प्रयास ही पावै॥
सकल दृश्य निज उदर मेलि, सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख, अतिसय द्वैत-बियोगी॥
सोक मोह भय हरष दिवस-निसि देस-काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यहि दसाहीन[4] संसय निरमूल न जाहीं॥

विनय-पत्रिका 167

प्रभु की भक्ति करने में कठिन है। कहने में तो यह आसान है पर इसके लिए अपार साधना करनी पड़ती है। इसकी कठिनाई को वही जानता है जिसने इसकी साधना पूरी की है। जो जिस कला में निपुण है, उसके लिए वह सदा सरल और सुखदायी है। जैसे मछली गंगा की

1. मछली 2. चीनी 3. बालू 4. अवस्था को प्राप्त किए बिना

जलधारा को सामने से तैर जाती है पर भारी हाथी उसमें बह जाता है। धूल में मिली हुई चीनी को कोई बलपूर्वक अलग नहीं कर सकता पर चीनी के रस को जाननेवाली छोटी-सी चींटी उसे आसानी से निकाल लेती है। इसी प्रकार सच्चा योगी (भक्ति की साधना का अभ्यासी) अज्ञान-निद्रा को त्यागकर तथा (अज्ञान के कारण) दिखाई देनेवाले समूचे संसार को भुलाकर शांतिपूर्वक समाधि में सोता है अर्थात् लीन रहता है। ऐसा भक्त परमात्मा के धाम पहुँचकर अंतर में परमसुख का अनुभव करता है और उसका द्वैत भाव (आत्मा और परमात्मा के भिन्न होने का भाव) बिलकुल मिट जाता है। वहाँ (उस परमपद में) दु:ख, सुख, मोह, भय, दिन, रात, देश और काल नहीं रहते। तुलसीदास जी कहते हैं कि जब तक ऐसी अवस्था प्राप्त नहीं होती, तब तक संशय का समूल नाश नहीं होता।

वेष सुबनाइ सुचि[1] बचन कहैं चुवाइ,
जाइ तौ न जरनि[2] धरनि-धन-धामकी।
कोटिक उपाय करि लालि पालिअत देह,
मुख कहिअत गति रामहीके नामकी॥
प्रगटैं उपासना, दुरावैं दुरबासनाहि,
मानस[3] निवासभूमि लोभ-मोह-कामकी।
राग-रोष-ईरिषा-कपट-कुटिलाईं भरे,
तुलसी-से भगत भगति चहैं रामकी॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 119

जो सुंदर वेष बनाकर बनावटी ढंग से प्रेम से परिपूर्ण पवित्र वचन बोलते हैं पर जिनके अंदर से ज़मीन-जायदाद और धन-धाम की तृष्णा दूर नहीं होती; जो करोड़ों उपाय करके शरीर का लालन-पालन करते

1. पवित्र 2. जलन 3. मन

रहते हैं पर मुख से केवल रामनाम का ही भरोसा करने की बात करते हैं; जो अपने पूजा-पाठ को तो प्रकट रूप से दिखाते हैं पर अपनी बुरी वासनाओं को छिपाए रखते हैं तथा जिनके मन में लोभ, मोह और काम अपना घर बनाए हुए हैं, वैसे क्रोध, आसक्ति, ईर्ष्या, कपट और दुष्टता से भरे मुझ तुलसी जैसे भक्त राम की भक्ति चाहते हैं! (अर्थात् जो ऐसे पाखंड या बाहरी दिखावे से परमात्मा को रिझाना चाहते हैं, वे भ्रम में हैं और अपने आप को तथा औरों को केवल धोखा दे रहे हैं।)

अंत में यह बताते हुए कि प्रभु की प्रीति की सदा से यही रीति रही है कि वह दीन-दुखियों पर विशेष कृपा करते हैं। तुलसीदास जी अपने जैसे दीन-हीन की सुधि लेने के लिए प्रभु से प्रार्थना करते हैं:

रघुबर! रावरि यहै बड़ाई।
निदरि[1] गनी[2] आदर गरीब पर, करत कृपा अधिकाई॥
थके देव साधन करि सब, सपनेहुँ नहिं देत दिखाई।
केवट कुटिल भालु कपि[3] कौनप[4], कियो सकल सँग भाई॥
मिलि मुनिबृंद फिरत दंडक बन, सो चरचौ न चलाई।
बारहि बार गीध सबरीकी बरनत प्रीति सुहाई॥...
यहि दरबार दीनको आदर, रीति सदा चलि आई।
दीनदयालु दीन तुलसीकी काहु न सुरति[5] कराई॥

विनय-पत्रिका 165

हे प्रभु! आपकी बड़ाई यही है कि आप धन-मान के अभिमानियों का निरादर कर, ग़रीबों को आदर देते हैं और उन पर विशेष कृपा करते हैं। देवता अनेक साधन करके थक गए लेकिन आपने स्वप्न में भी उन्हें दर्शन नहीं दिया पर केवट, भालू, बंदर और राक्षसवंशी विभीषण आदि

1. निरादर करके 2. धनी-मानी 3. बंदर 4. राक्षस
5. ध्यान

सबको आपने संग लगा लिया। दंडक वन में मुनियों के साथ मिलकर आप घूमते रहे पर उनकी कोई चर्चा नहीं चलाई; बार-बार जटायु और शबरी की प्रीति का बखान करना ही आपको अच्छा लगा। आपके इस दरबार में दीनों को आदर देने की रीति सदा से चली आ रही है। पर हे दीनदयालु! क्या इस दीन तुलसी का ध्यान आपको किसी ने नहीं दिलाया?

मन का नियंत्रण

कोटि कोटि उपाय कर मन, जीव जरनि न जाय रे।
पियौ अमृत नाम हरि को, तुरत तपति बुझाय रे॥

बारहमासी, पृ. 1

मन के कहने के अनुसार कोई करोड़ों उपाय क्यों न करता रहे, इनसे जीव की जलन कभी मिट नहीं सकती। पर प्रभु के नाम के अमृत को पी लेने पर यह जलन तुरंत बुझ जाती है।

मन की चंचलता और इसे रोकने का उपाय

जब परमात्मा की जीव पर कृपा होती है और जीव प्रभु की भक्ति में लगता है, तभी यह हठी मन अनर्थों की ओर से मुड़ता है और अपनी चंचलता को छोड़कर शांत और एकाग्र भाव से प्रभु के चरण-कमलों में लगकर भक्ति का अमृतभरा रस पीता है। भक्ति के निर्मल जल से इसके विकार धुल जाते हैं और यह आंतरिक अमृत को पीकर सदा के लिए तृप्त और शांत हो जाता है। इसलिए तुलसीदास जी एक ओर मन की मूर्खतापूर्ण हरकतों का उल्लेख कर, बार-बार जीव की दयनीय दशा की ओर प्रभु का ध्यान दिलाते हुए उनसे दया की भीख माँगते हैं और दूसरी ओर मन को सभी प्रकार की इच्छाओं को छोड़कर एकमात्र प्रभु की भक्ति में लगने की प्रेरणा देते हैं।

नीचे दिए गए पदों में उनके ये भाव बड़े हृदयग्राही रूप से व्यक्त हुए हैं:

सुनहु राम रघुबीर गुसाईं मन अनीति-रत[1] मेरो।
चरन-सरोज[2] बिसारि तिहारे, निसिदिन फिरत अनेरो[3]॥
मानत नाहिं निगम-अनुसासन[4], त्रास[5] न काहू केरो।
भूल्यो सूल करम-कोलुन्ह तिल ज्यों बहु बारनि पेरो॥
जहँ सतसंग कथा माधवकी, सपनेहुँ करत न फेरो।
लोभ-मोह-मद-काम-कोह-रत, तिन्हसों प्रेम घनेरो॥
पर-गुन सुनत दाह, पर-दूषन सुनत हरख बहुतेरो।
आप पापको नगर बसावत, सहि न सकत पर खेरो[6]॥
साधन-फल, श्रुति-सार नाम तव[7], भव-सरिता कहँ बेरो[8]।
सो पर-कर काँकिनी[9] लागि सठ, बेंचि होत हठि चेरो॥
कबहुँक हौं संगति-प्रभावतें, जाउँ सुमारग नेरो।
तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भटभेरो[10]॥
इक हौं दीन, मलीन, हीनमति, बिपतिजाल अति घेरो।
तापर सहि न जाय करुनानिधि, मनको दुसह दरेरो[11]॥
हारि परयो करि जतन बहुत बिधि, तातें कहत सबेरो।
तुलसिदास यह त्रास मिटै जब हृदय करहु तुम डेरो॥

विनय-पत्रिका 143

हे प्रभु! हे परमात्मा! सुनिए, मेरा मन आपके चरण-कमलों को भुलाकर दिन-रात अनर्थों में ही लगा रहता है। न तो यह वेदों द्वारा सुझाए

1. दुराचार में लगा हुआ 2. चरण-कमल 3. बेकार
4. वेद की आज्ञा 5. डर 6. छोटा गाँव
7. **श्रुति...तव**=आपका नाम वेदों का सार है। 8. नाव 9. कौड़ी
10. **देत...भटभेरो**=ज़ोर से धक्का देना 11. रगड़

गए आचरण पर चलता है और न इसे किसी का डर ही है। बहुत बार यह कर्मरूपी कोल्हू में तिल की तरह पेरा जा चुका है, फिर भी यह उस कष्ट को भूल गया है। जहाँ सत्संग होता है और परमात्मा के नाम की महिमा की जाती है, वहाँ यह सपने में भी नहीं जाता। पर काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार में लीन रहनेवालों के साथ यह ख़ूब प्रेम करता है। दूसरों के गुणों को सुनकर यह जल उठता है पर दूसरों के दोषों को सुनकर बहुत प्रसन्न होता है। अपने पापों का तो नगर बसाता है पर दूसरों के तनिक-से पाप को भी यह सहन नहीं करता अर्थात् दूसरों के बहुत छोटे-से पाप को सुनकर उनकी निंदा करने लगता है। हे प्रभु! आपका नाम ही सभी साधनों का फल, वेदों का सार और संसाररूपी नदी को पार करने के लिए नौका है परंतु इस नाम को यह दुष्ट हठपूर्वक दूसरों के हाथ कौड़ियों के दाम बेचकर उनका ग़ुलाम बना फिरता है अर्थात् इस अनमोल नाम का उपदेश अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए संसार के अनधिकारी या धनी-मानी लोगों को सुनाता और उनका मुहताज बना फिरता है। यदि कभी मैं सत्संग के प्रभाव से परमार्थ की ओर जाता भी हूँ तो यह मन क्रोध करके बुरे विचारों को मेरे साथ लगाकर बलपूर्वक मुझे उस ओर से हटा देता है। एक तो मैं वैसे ही दीन, पापी और बुद्धिहीन हूँ और विपत्तियों के जाल में बुरी तरह फँसा हुआ हूँ, उस पर से, हे दयानिधि, मन का यह असह्य आघात सहा नहीं जाता। मैं अनेक उपाय करके हार गया। इसलिए मैं बिना विलंब किए आपसे विनती कर रहा हूँ। मेरा यह (जन्म-मरण का) भय तभी दूर होगा जब आप मेरे हृदय में अपना घर कर लें अर्थात् मेरे हृदय में बिराजने लगें।

मेरो मन हरिजू! हठ न तजै।
निसिदिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि, करत सुभाउ निजै॥...
लोलुप[1] भ्रम गृहपसु[2] ज्यौं जहँ तहँ सिर पदत्रान[3] बजै।

1. लोभी 2. कुत्ता 3. जूता

तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै॥
हौं हार्‌यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै[1]।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥

विनय-पत्रिका 89

हे प्रभु! मेरा मन अपनी ज़िद नहीं छोड़ता। मैं दिन-रात इसे अनेक प्रकार से समझाता हूँ पर यह अपनी आदत के ही अनुसार काम करता है। लालची कुत्ता जहाँ जाता है, वहीं उसके सिर पर जूते पड़ते हैं (वहीं उसे दुत्कार मिलती है), तब भी वह नीच फिर उसी रास्ते जाता है। उस मूढ़ को कभी भी लज्जा नहीं आती (ऐसी ही दशा मेरे मन की है)। अनेक प्रकार के (बाहरमुखी) उपाय करके मैं थक गया। पर यह मन अत्यंत प्रबल है। इसे इस तरह जीता नहीं जा सकता। तुलसीदास जी कहते हैं कि यह तभी वश में आ सकता है जब सबको प्रेरणा देनेवाले प्रभु स्वयं कृपा करके इसे रोकें।

काहे को फिरत मूढ़ मन धायो।
तजि हरि-चरन-सरोज[2] सुधारस[3], रबिकर[4]-जल[5] लय[6] लायो॥
त्रिजग[7] देव नर असुर अपर[8] जग जोनि सकल भ्रमि आयो।
गृह, बनिता[9], सुत, बंधु भये बहु, मातु-पिता जिन्ह जायो[10]॥
जाते निरय-निकाय[11] निरंतर, सोइ इन्ह तोहि सिखायो।
तुव हित होइ, कटै भव-बंधन, सो मगु तोहि न बतायो॥
अजहुँ बिषय कहँ जतन करत, जद्यपि बहुबिधि डहँकायो[12]।
पावक-काम[13] भोग-घृत तें सठ, कैसे परत बुझायो॥
विषयहीन दुख, मिले बिपति अति, सुख सपनेहुँ नहिं पायो।

1. अजेय 2. प्रभु के चरण-कमल 3. अमृतरस
4. सूर्य की तेज़ किरणों से 5. दिखनेवाली झूठी जलधारा 6. प्रेम
7. पशु-पक्षी 8. दूसरे 9. स्त्री 10. उत्पन्न करना
11. नरकों का समूह 12. धोखा देना 13. कामनारूपी अग्नि

उभय प्रकार[1] प्रेत-पावक[2] ज्यों धन दुखप्रद श्रुति गायो॥
छिन-छिन छीन[3] होत जीवन, दुरलभ तनु बृथा गँवायो।
तुलसिदास हरि भजहि आस तजि, काल-उरग[4] जग खायो॥

विनय-पत्रिका 199

रे मूर्ख मन! तू किसलिए दौड़ा फिर रहा है? प्रभु के चरण-कमलों के अमृतरस को छोड़ तूने (विषयरूपी) मृगतृष्णा के (झूठे) जल से प्रेम लगाया है। पशु, पक्षी, देवता, मनुष्य, राक्षस और संसार की अन्य सभी योनियों में तू भटक आया है। इन योनियों में तेरे बहुत-से घर, स्त्री, पुत्र, भाई और तुझे उत्पन्न करनेवाले माता-पिता हो चुके हैं। पर इन्होंने तुझे वही (विषय-भोगों का प्रेम) सिखाया है जिससे तुझे बार-बार अनेक नरकों में जाना पड़ेगा। वह मार्ग इन्होंने तुझे नहीं बताया जिससे तेरा कल्याण हो और संसार का बंधन कट जाए। यद्यपि विषयों ने तुझे बहुत तरह से रुलाया है, फिर भी तू आज तक उन्हीं विषयों के लिए यत्न कर रहा है। अरे मूर्ख! कामनारूपी अग्नि में भोगरूपी घी डालने से वह भला कैसे बुझेगी? विषयों के न मिलने से तूने दु:ख उठाया और विषयों के मिलने पर भी तू भारी विपत्ति में पड़ा। इस तरह तू सपने में भी कभी सुख न पा सका। वेदों ने धन को दोनों प्रकार से प्रेत की आग के समान दु:खदायी बताया है। तेरा जीवन क्षण-क्षण घटता जा रहा है और तूने अपने दुर्लभ मनुष्य शरीर को व्यर्थ ही गँवा दिया है। तुलसीदास जी कहते हैं कि कालरूपी साँप संसार को खाए जा रहा है। इसलिए तू विषयों की आस छोड़कर प्रभु का भजन कर।

जौ निज मन परिहरै बिकारा।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख, संसय, सोक अपारा॥...

1. **उभय प्रकार**=दोनों तरह से 2. भूत की आग 3. घटना 4. कालरूपी साँप

रघुपति-भगति-बारि-छालित[1] चित, बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद-बिलास[2] जग बूझत बूझत बूझै॥

विनय-पत्रिका 124

यदि हमारा मन विकारों को छोड़ दे तो फिर द्वैत भाव से उत्पन्न संसार का जन्म-मरण का दु:ख, भ्रम और अपार शोक क्यों हो? (ये सब मन के विकारों के कारण ही तो होते हैं।) जब हमारा चित्त परमात्मा के भक्तिरूपी जल से धुलकर निर्मल हो जाता है, तब बिना प्रयत्न के ही उसे सब कुछ सूझने लगता है। तुलसीदास जी कहते हैं कि तब वह समझते-समझते समझ जाता है कि संसार चेतन परमात्मा की एक लीलामात्र है। (तब मन सांसारिक विषयों से अपने आप तटस्थ यानी उदासीन हो जाता है।)

सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरि-पद-बिमुख लह्यो[3] न काहु सुख, सठ! यह समुझ सबेरो॥...
छुटै न बिपति भजे बिनु रघुपति, श्रुति[4] संदेहु निबेरो[5]।
तुलसिदास सब आस छाँड़ि करि, होहु राम को चेरो॥

विनय-पत्रिका 87

ऐ मूर्ख मन! तू मेरी सीख सुन ले। प्रभु के चरणों से विमुख होकर किसी ने कभी सुख नहीं पाया—इस बात को जल्दी ही (विलंब होने या काम बिगड़ने से पहले) समझ ले। इसमें संदेह नहीं कि प्रभु के भजन के बिना विपत्ति (आवागमन की पीड़ा) कभी दूर नहीं होती। इस भ्रम को (कि प्रभु के भजन के बिना भी जन्म-मरण से मुक्ति मिल सकती है) वेदों ने दूर कर दिया है। इसलिए तुलसीदास जी कहते हैं कि अन्य सभी का आसरा छोड़कर बस तू प्रभु का सेवक बन जा।

1. प्रभुभक्ति के जल से धुला 2. चैतन्य स्वरूप प्रभु की माया 3. पाना
4. वेद 5. सुलझाना

मन के रोग और उनकी दवा

मन विषय-वासनाओं में पड़कर अनेक विकारों से भर जाता है और इन विकारों के कारण जीव को घोर कष्ट उठाना पड़ता है। मन के इन विकारों को तुलसीदास जी ने मानस रोग कहा है। माया या अज्ञान से उत्पन्न होनेवाला मोह सभी मानस रोगों का मूल है। इससे फिर दूसरे बहुत-से रोग उत्पन्न होते हैं। इनमें से कुछ प्रमुख मानस रोगों को गिनाते हुए और इनकी तुलना शारीरिक रोगों से करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि काम, क्रोध और लोभ ही प्रमुख वात, पित्त और कफ़ के रोग हैं। यदि इन तीनों का मेल हो जाए तो जीव मानों कठिन सन्निपात रोग का शिकार हो जाता है। नाना प्रकार के विषयों के मनोरथ ही अनेक प्रकार के शूल रोग हैं जिनके नाम नहीं गिनाए जा सकते। ममता और ईर्ष्या ये दोनों दाद और खुजली रूप हैं तथा मन की ख़ुशी और शोक इसके गलगंड और घेंघा नामक रोग हैं। दूसरों के सुख को देखकर जलना ही क्षय रोग है और मन की दुष्टता और कुटिलता कुष्ठ रोग है। अहंकार गठिया का अत्यंत दु:खद रोग है तथा दंभ, कपट, मद और मान नसों के अनेक रोग हैं। तृष्णा भारी जलोदर रोग है तथा पुत्र, धन और प्रतिष्ठा की प्रबल इच्छाएँ तिजारी रोग हैं। मत्सर और अविवेक को द्विविध ज्वर रोग कहा जाता है। वास्तव में मन के रोग इतने अधिक हैं कि उन सबको गिनाया नहीं जा सकता:

सुनहु तात अब मानस रोगा। जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा॥
मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला[1]॥
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई॥
बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥
ममता दादु कंडु[2] इरषाई। हरष बिषाद गरह[3] बहुताई[4]॥
पर सुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥

1. तीव्र पीड़ा 2. खुजली 3. गले के रोग 4. अधिकता

अहंकार अति दुखद डमरुआ[1]। दंभ कपट मद मान नेहरुआ[2]॥
तृस्ना उदरबृद्धि अति भारी। त्रिबिधि ईषना[3] तरुन[4] तिजारी[5]॥
जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका। कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका॥

मानस, 7.120(ख).14-19

तुलसीदास जी कहते हैं कि केवल एक रोग के वश होकर मनुष्य मर जाते हैं पर इस जीव को तो अनेक असाध्य रोग जकड़े हुए हैं। ऐसी स्थिति में इसे भला एकाग्रता या समाधि कैसे प्राप्त हो सकती है? इन रोगों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार आदि) की जानकारी होने से जीव को कुछ होश आता है और ये कुछ दब-से जाते हैं पर इनका नाश नहीं होता। नियम, धर्म, आचार, तप, ज्ञान, यज्ञ, दान आदि बाहरमुखी साधनों की औषधियाँ भी मन के जकड़े हुए इन रोगों को दूर करने में असफल ही सिद्ध होती हैं। विषयरूपी कुपथ्य को पाकर मुनियों के हृदय में भी ये रोग फिर से अंकुरित हो जाते हैं, साधारण मनुष्य की तो कोई बात ही नहीं:

एक ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि[6] बहु ब्याधि[7]।
पीड़हिं संतत[8] जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि॥
नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान[9]॥
एहि बिधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति बियोगी॥
मानस रोग कछुक मैं गाए। हहिं सब कें लखि बिरलेन्ह पाए[10]॥
जाने ते छीजहिं[11] कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी॥
बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदयँ का नर बापुरे[12]॥

मानस, 7.121(क), 7.121(ख). 1-2

1. गठिया 2. नसों का रोग 3. लालसा 4. प्रबल
5. तीन दिनों के अंतर वाला ज्वर 6. ठीक न हो सकनेवाला 7. रोग
8. सदा 9. विष्णु के वाहन गरुड़ 10. **लखि...पाए**=कोई विरले ही जान पाए हैं।
11. कम होना 12. बेचारे

परमपिता परमात्मा की कृपा से ही यह मन शांत होता है और इसके समस्त रोग (विकार) नष्ट होते हैं। प्रभु की कृपा होने पर हम मन के रोगों की दवा के लिए सतगुरुरूपी वैद्य की शरण में जाते हैं। सतगुरु के वचनों को सुनकर हमारे अंदर विश्वास पैदा होता है। तब सतगुरु हमें दवा, दवा खाने का अनुपान और संयम बताते हैं। सच्ची हरिभक्ति यानी नाम-भक्ति ही मन के रोगों की दवा है जिसे तुलसीदास जी 'सजीवन मूरी' (संजीवनी बूटी) कहते हैं। पूर्ण श्रद्धा से युक्त बुद्धि ही इस दवा के साथ ली जानेवाली वस्तु (अनुपान) है। इसलिए हरिभक्ति (नाम-भक्ति) का अभ्यास पूरी श्रद्धा और विश्वास के साथ किया जाना चाहिए। साथ ही सतगुरु विषय-वासनाओं से बचे रहने का संयम (परहेज़) भी बताते हैं। ऐसा करने पर ही मानस रोग नष्ट होते हैं, नहीं तो करोड़ों प्रयत्नों से भी ये नष्ट नहीं होते। वेदों में दान, पुण्य, जप, तप, नियम, धर्म आदि अनेक उपाय मन की शुद्धि के लिए बताए गए हैं पर इनसे ये रोग जड़-मूल से नहीं जाते। सतगुरु की बताई नामभक्ति यानी हरिभक्ति ही इन रोगों को समूल नष्ट करने की एकमात्र दवा है:

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा। जौं एहि भाँति बनै संयोगा॥
सदगुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान[1] श्रद्धा मति पूरी[2]॥
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहिं॥

मानस, 7.121(ख).3-4

तुलसिदास ब्रत-दान, ग्यान-तप, सुद्धिहेतु श्रुति गावै।
राम-चरन[3]-अनुराग-नीर[4] बिनु मल अति नास न पावै॥

विनय-पत्रिका 82

1. दवा के साथ लेनेवाली वस्तु 2. **श्रद्धा...पूरी**=पूरी श्रद्धा से युक्त बुद्धि
3. राम के चरणों के प्रति 4. प्रेमरूपी जल

संजम, जप, तप, नेम, धरम, ब्रत, बहु भेषज[1] समुदाई।
तुलसिदास भव-रोग[2] रामपद-प्रेम-हीन नहिं जाई॥

विनय-पत्रिका 81

सतगुरु की बताई दवा को उनके बताए अनुपान के साथ लेने और उनके उपदेश के अनुसार संयम से रहने पर मन का रोग धीरे-धीरे दूर होने लगता है। रोग के दूर होने के लक्षणों से हमें स्वयं ही निरोग होने का अनुभव होता है। तुलसीदास जी कहते हैं कि मन के निरोग होने की पहचान यह है कि हमारे हृदय में एक नया बल पैदा हो जाता है, विषयों के प्रति हमारे मन में उचाट (वैराग्य) उत्पन्न हो जाता है, बुद्धि की निर्मलता की भूख दिन-दिन बढ़ती जाती है और विषयों की आशारूपी दुर्बलता दूर हो जाती है। जब हम निर्मल-ज्ञानरूपी जल से स्नान करते हैं, तब हृदय प्रभु की भक्ति से भर जाता है और इस प्रकार मन का रोग सदा के लिए दूर हो जाता है। इसी लिए संतजन ही नहीं, ऋषि-मुनि और वेद-पुराण भी नाम-भक्ति के ही निश्चित सिद्धांत का उपदेश देते हैं:

जानिअ तब मन बिरुज[3] गोसाँई। जब उर बल बिराग अधिकाई॥
सुमति छुधा[4] बाढ़इ नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई॥
बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥
सिव अज[5] सुक[6] सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद[7]॥
सब कर मत खगनायक[8] एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा[9]॥
श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥

मानस, 7.121(ख). 5-7

1. दवा 2.संसार का रोग 3. निरोग 4. **सुमति छुधा**=निर्मल-बुद्धिरूपी भूख
5. ब्रह्मा 6. शुकदेव जी 7. **ब्रह्म...बिसारद**=ब्रह्मविचार में निपुण हैं।
8. पक्षिराज (गरुड़) 9. प्रेम

श्रुति सिद्धांत इहइ उरगारी। राम भजिअ सब काज बिसारी॥

मानस, 7.122 (ग).1

बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल[1] राम सनेहू[2]॥

मानस, 1.26.1

सांसारिक विषय-सुख की तलाश में दिन-रात बाहर भटकते रहनेवाला मन जब सच्ची हरिभक्ति (नाम-भक्ति) के द्वारा अंदर जाकर नाम का अमृत पी लेता है, तब यह सदा के लिए तृप्त होकर शांत हो जाता है और जीव की जलन सदा के लिए मिट जाती है। इस नाम को ही तुलसीदास जी रामनाम, हरिनाम, नामामृत, चिंतामणि, पारसमणि आदि नामों से पुकारते हैं। यह अमृत (चिंतामणि) हमारे शरीर के अंदर ही है पर परमात्मा की कृपा होने पर ही सतगुरु द्वारा हमें इसका बोध होता है। इस चिंतामणि को प्राप्त कर लेने पर मन फिर कभी सांसारिक विषय-वासनारूपी काँच को बटोरने में नहीं लगता। नाम के अमृत को पीकर यह सदा के लिए विश्राम पा जाता है:

कोटि कोटि उपाय कर मन, जीव जरनि न जाय रे।
पियौ अमृत नाम हरि को, तुरत तपति बुझाय रे॥

बारहमासी, पृ.1

ब्रह्म-पियूष[3] मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै।
तौ कत मृगजल-रूप बिषय[4] कारन निसि-बासर[5] धावै॥
जेहिके भवन बिमल चिंतामनि, सो कत काँच बटोरै।
सपने परबस परै जागि देखत[6] केहि जाइ निहोरै[7]॥

विनय-पत्रिका 116

1. **सुकृत फल**=सद्कर्मों का फल है 2. **राम सनेहू**=रामनाम में प्रेम होना
3. नामरूपी अमृत 4. सांसारिक सुख के पदार्थ 5. रात-दिन
6. **जागि देखत**=जागकर देखे 7.**केहि...निहोरै**=क्यों किसी से प्रार्थना करेगा?

मन और इंद्रियों के वश में पड़ने के कारण ही कई युगों से जीव की दुर्गति हो रही थी और इसे इस तरह परवश पड़े देखकर इंद्रियाँ इसकी हँसी उड़ा रही थीं। इसलिए तुलसीदास जी कहते हैं कि अब तक तो मैं बरबाद हुआ पर नामरूपी चिंतामणि को पाकर अब मैं अपने आप को बरबाद न होने दूँगा। प्रभु की कृपा से संसार की रात अब मेरे लिए ख़त्म हो गई है और अब मैं अज्ञान की नींद से जाग उठा हूँ। अब फिर मैं विषयों का बिछावन बिछाकर अज्ञान की नींद नहीं सोऊँगा। नामरूपी चिंतामणि को अब मैं सदा हृदय से लगाए रहूँगा। परमात्मा के स्वरूप के प्रकाश की सुंदर कसौटी पर अपने मनरूपी सोने को कसकर मैं इसकी निर्मलता की अच्छी तरह परख करूँगा अर्थात् मन को आंतरिक प्रकाश के ध्यान में सावधानी से एकाग्र किए रहूँगा। जो इंद्रियाँ मुझे परवश देखकर हँसती थीं, उन्हें वश में करके अब मैं अपनी हँसाई न होने दूँगा तथा मनरूपी भौंरे को दृढ़ता के साथ प्रभु के चरण-कमलों के रस में लीन करके सदा के लिए शांत कर दूँगा:

अब लौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम-कृपा भव-निसा[1] सिरानी[2], जागे फिरि न डसैहौं[3]॥
पायेउँ नाम चारु[4] चिंतामनि, उर कर तें[5] न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं॥
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन मधुकर[6] पनकै[7] तुलसी रघुपति-पद-कमल[8] बसैहौं॥

विनय-पत्रिका 105

1. संसाररूपी रात 2. बीत गई 3. बिस्तर बिछाऊँगा 4. सुंदर
5. **उर...तें**=हृदयरूपी हाथ से 6. **मन मधुकर**=मनरूपी भौंरे को
7. पक्का संकल्प करके 8. प्रभु के चरण-कमलों में

कर्मकांड, बाहरी आडंबर और जाति-पाँति

नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू।
बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू॥
मानस, 3.35 छन्द

हे मनुष्यो! नाना प्रकार के कर्मकांड अधर्म हैं। ये विभिन्न मतों के झगड़े हैं तथा दु:ख देनेवाले हैं। तुलसीदास जी कहते हैं कि इन सबको त्यागो और विश्वास करके प्रभु के चरणों में प्रेम लगाओ।

परमात्मा हमारे हृदय के अंदर है। इसलिए केवल सतगुरु की बताई नाम की अंतर्मुखी साधना द्वारा ही हम परमात्मा को पा सकते हैं। किसी भी अन्य बाहरमुखी साधना द्वारा हम परमात्मा को कभी नहीं पा सकते। वेद, पुराण आदि सद्ग्रंथों के होते हुए भी सतगुरु के बिना हम इनका वास्तविक मर्म नहीं समझ सकते। इनका वास्तविक मर्म न समझने के कारण हम मनमाने ढंग से इन ग्रंथों का केवल पाठ करने या तीर्थ, व्रत, दान, यज्ञ, तप, उपवास आदि अनेक बाहरमुखी साधनों में उलझ जाते हैं या फिर अनेक प्रकार की बाहरी वेशभूषा बनाकर घरबार को छोड़कर जंगलों और पहाड़ों में भटकने लगते हैं। इसलिए तुलसीदास

जी बाहरमुखी कर्मकांड और बाहरी आडंबर की व्यर्थता दिखाकर हमें प्रेमपूर्वक नाम-भक्ति में लगने का उपदेश देते हैं।

कर्मकांड की निरर्थकता

तुलसीदास जी के अनुसार बाहरमुखी क्रियाओं में पड़कर हम अपने आप को कर्मों के बंधन में और भी अधिक उलझा लेते हैं। जब तक प्रभु के प्रति गहरा आंतरिक प्रेम उत्पन्न नहीं होता, तब तक अनेक जन्मों तक ऐसी करोड़ों क्रियाओं के करने पर भी हमारी आंतरिक मैल कभी दूर नहीं हो सकती। केवल बाहरी पूजा-पाठ में लगे रहना तथा चारों वेदों, छहों शास्त्रों, नवों व्याकरणों और अठारहों पुराणों को पढ़ना या इनका बौद्धिक विवेचन करना कुकाठ को फाड़ने के समान व्यर्थ का परिश्रम है। कठिन तपस्या द्वारा शरीर को जलाकर और अनेक तीर्थों में भटकते रहकर हम अपने जीवन का बहुमूल्य समय यों ही बरबाद कर डालते हैं। इनसे हमारे आवागमन का संकट दूर नहीं होता। इसी लिए तुलसीदास जी इन बाहरमुखी क्रियाओं को 'फोकट' और 'झूठा' धर्म बताते हुए कहते हैं:

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥
मानस, 7.116(ख).3

संजम, जप, तप, नेम, धरम, ब्रत, बहु भेषज-समुदाई।
तुलसिदास भव-रोग रामपद-प्रेम-हीन नहिं जाई॥
विनय-पत्रिका 81

अर्थात् यद्यपि (भवसागर में बार-बार आने और जाने के रोग के लिए) संयम, जप, तपस्या, नियम, धर्म, व्रत आदि अनेक औषधियाँ बताई जाती हैं, परंतु तुलसीदास जी कहते हैं कि प्रभु-चरणों के प्रेम के बिना इस भवरोग से छुटकारा नहीं हो सकता:

मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास-निरत[1] चित, अधिक अधिक लपटाई॥...
तुलसिदास ब्रत-दान, ग्यान-तप, सुद्धिहेतु श्रुति गावै।
राम-चरन-अनुराग-नीर बिनु[2] मल अति नास न पावै॥

विनय-पत्रिका 82

कीबे[3] कहा, पढ़िबे को कहा फलु, बूझि न बेदको भेदु बिचारैं।
स्वारथको परमारथको कलि[4] कामद[5] रामको नामु बिसारैं॥
बाद-बिबाद बिषादु बढ़ाइ कै, छाती पराई औ आपनी जारैं।
चारिहुको, छहुको, नवको, दस-आठको[6] पाठु कुकाठु ज्यों फारैं॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 104

जप, तप, तीरथ, जोग, समाधी। कलिमति[7] बिकल[8] न कछु निरुपाधी[9]॥
करतहुँ सुकृत[10] न पाप सिराहीं[11]। रकतबीज जिमि बाढ़त जाहीं[12]॥

विनय-पत्रिका 128

नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत[13] सोकप्रद[14] सब त्यागहू।
बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू॥

मानस, 3.35 छन्द

तुलसीदास जी बड़े ज़ोरदार शब्दों में कहते हैं कि चाहे कोई जप, योग, वैराग्य, बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान, दान, दया, इंद्रिय-निग्रह आदि करोड़ों उपाय करे, मुनि, सिद्ध, इंद्र, गणेश और महेश जैसे देवताओं की अनेक जन्मों तक पूजा करते-करते मर जाए, वेद-शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त

1. साधना में लगना 2. **राम...बिनु**=प्रभु-प्रेमरूपी जल के बिना 3. कर्तव्य
4. कलिकाल में 5. कामनाओं को पूरा करनेवाला 6. अठारह पुराण
7. कलियुग में बुद्धि विघ्नरहित नहीं है। 8. स्थिर नहीं रहती 9. **न...निरुपाधी**=कोई साधन 10. पुण्य कर्म 11. अंत होना
12. **रकतबीज...जाहीं**=एक दैत्य जिसके शरीर से रक्त की जितनी बूँदें गिरतीं, उतने ही दैत्य के नए रूप बनते। 13. **अधर्म...मत**=विभिन्न मतों के झगड़े
14. दु:ख देनेवाले

करे और पुराणों को पढ़ता रहे, अनेक युगों तक तपस्या की अग्नि में अपने आप को जलाए, फिर भी प्रभुप्रेम के बिना उसका दु:ख कभी दूर नहीं हो सकता। इन बाहरमुखी साधनों में लोग नाहक़ ही पच-पचकर मरते हैं:

जप, जोग, बिराग, महामख-साधन[1], दान, दया दम[2] कोटि करै।
मुनि-सिद्ध, सुरेसु[3], गनेसु, महेसु-से सेवत जन्म अनेक मरै॥
निगमागम-ग्यान[4], पुरान पढ़ै, तपसानल[5] में जुगपुंज[6] जरै।
मनसों पनु रोपि कहै तुलसी, रघुनाथ बिना दुख कौन हरै॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 55

बाहरमुखी साधनों की व्यर्थता का कारण यह है कि हमारे अंदर निवास करनेवाला परमात्मा हमारे आंतरिक अज्ञान या मोह के कारण हमसे दूर बना हुआ है। जब तक अंतर्मुखी अभ्यास द्वारा हम इस आंतरिक अज्ञान या मोह के जाल को नष्ट नहीं करते, तब तक हम परमात्मा को प्रकट नहीं कर सकते और हमारे आवागमन का सिलसिला कभी समाप्त नहीं हो सकता। किसी भी बाहरमुखी साधन द्वारा हमारे अंदर का अज्ञान या मोह नष्ट नहीं हो सकता और हमारे मन की वासना कभी मर नहीं सकती। तुलसीदास जी ने अनेक उपमाओं द्वारा इस बात को स्पष्ट करते हुए बाहरमुखी साधनों की व्यर्थता दिखाई है। वह कहते हैं कि जिस तरह घी से भरे हुए कड़ाहे में दिखनेवाले चंद्रमा के प्रतिबिंब को बाहर से घी को सौ कल्पों तक ईंधन लगाकर आग से तपाने पर भी नष्ट नहीं किया जा सकता, ठीक उसी तरह बाहरमुखी साधनों द्वारा मन के अंदर रहनेवाली वासना और मोह को नष्ट नहीं किया जा सकता। पेड़ के कोटर के अंदर रहनेवाला पक्षी पेड़ को बाहर से काटने

1. बड़े-बड़े यज्ञ कर्म 2. इंद्रिय-निग्रह 3. इंद्र 4. वेद-शास्त्रों का ज्ञान
5. तपस्या की आग 6. अनेक युगों तक

पर नहीं मर सकता। बिल के अंदर घुसे हुए सर्प को बिल के ऊपर डंडे मारकर नहीं मारा जा सकता। इसी तरह विषय-वासनाओं से अपवित्र हुए मन को केवल बाहर से शरीर को मल-मलकर धोने से पवित्र नहीं किया जा सकता। अंतर्मुखी अभ्यास के बिना किसी भी बाहरी साधना से मन का आंतरिक विकार और मोह नहीं निकल सकता। परमात्मारूप सतगुरु की कृपा से जब हम आंतरिक अभ्यास में लगते हैं, तभी हमें निर्मल विवेक यानी ज्ञान प्राप्त होता है। इस विवेक के बिना कोई भी इस घोर संसार-सागर को पार नहीं कर सकता। जैसा कि तुलसीदास जी कहते हैं:

माधव! मोह-फाँस क्यों टूटै।
बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यंतर[1] ग्रन्थि न छूटै॥
घृतपूरन कराह अंतरगत ससि-प्रतिबिंब[2] दिखावै।
ईंधन अनल[3] लगाय कलपसत[4] औटत[5] नास न पावै॥
तरु कोटर महँ बस बिहंग[6] तरु काटे मरै न जैसे।
साधन करिय बिचार-हीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे॥
अंतर मलिन बिषय मन अति, तन पावन करिय पखारे।
मरइ न उरग[7] अनेक जतन बलमीकि[8] बिबिध बिधि मारे॥
तुलसिदास हरि-गुरु-करुना बिनु बिमल बिबेक न होई।
बिनु बिबेक संसार-घोर-निधि पार न पावै कोई॥

विनय-पत्रिका 115

नीचे दिए गए पदों में तुलसीदास जी ने कर्मकांड की व्यर्थता के कुछ अन्य कारणों पर प्रकाश डाला है। एक तो ज्ञान, वैराग्य, तप, तीर्थ, यज्ञ, योग आदि बाहरमुखी साधन हमें बाहर ही भटकाते रहते हैं, जबकि अपने अंदर निवास करनेवाले परमात्मा को हम केवल नाम की अंतर्मुखी

1. आंतरिक 2. चंद्रमा की परछाईं 3. आग 4. सैकड़ों कल्पों तक
5. उबलता रहे 6. पक्षी 7. साँप 8. बाँबी

साधना द्वारा ही प्रकट कर सकते हैं। दूसरे, कलिकाल के मनुष्यों में इतनी शक्ति या दृढ़ता नहीं है कि वे ज्ञान, वैराग्य, योग, तप आदि कठिन साधनों को कर सकें। फिर घोर कठिन परिश्रम करने पर भी ये साधन निष्फल ही सिद्ध होते हैं। इनके लिए हम नाहक़ परिश्रम करते हैं, इनसे हमें कुछ भी हाथ नहीं लगता। इसी लिए तुलसीदास जी इन्हें झूठ से भरा हुआ 'फोकट' धर्म कहते हैं। इसके अलावा यज्ञ, दान आदि साधन धन पर निर्भर करते हैं। इसलिए इन्हें केवल धनी लोग ही कर सकते हैं। तुलसीदास जी इन्हें केवल पुरोहितों के पेट पालने का साधन कहते हैं। इन बाहरमुखी साधनों से काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार नामक आंतरिक विकार कभी नष्ट नहीं होते, उलटे यज्ञ, दान, तीर्थ आदि करने का भारी अहंकार हमें और भी अधिक बंधन में जकड़ लेता है। इस प्रकार वह कहते हैं:

न मिटै भवसंकटु, दुर्घट[1] है तप, तीरथ जन्म अनेक अटो[2]।
कलिमें न बिरागु, न ग्यानु कहूँ, सब लागत फोकट[3] झूठ-जटो[4]॥
नटु ज्यों जनि पेट-कुपेटक कोटिक चेटक-कौतुक-ठाट ठटो।
तुलसी जो सदा सुखु चाहिअ तौ, रसनाँ निसि-बासर रामु रटो॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 86

बाहरमुखी साधनों से संसार का आवागमन-रूपी संकट नहीं मिट सकता; क्योंकि तप करना कठिन है और अनेक जन्मों तक तीर्थों में घूमते रहने से भी कुछ हाथ नहीं लगता। कलियुग में ज्ञान, वैराग्य आदि में कुछ सार नहीं है, सब फोकट (निरर्थक) हैं और झूठ से भरे हुए हैं। तुलसीदास जी कहते हैं कि नट के समान अपने पेटरूपी कुत्सित पिटारे से (केवल पेट पालने के बुरे रोज़गार के लिए) करोड़ों जादू के खेल का ठाठ (कपटभरा आडंबर का पसारा) मत रचो। यदि सदा सुख

1. कठिनाई से होना 2. चक्कर लगाना 3. निरर्थक 4. झूठ से भरा

चाहते हो तो रात-दिन अपनी आंतरिक जिह्वा से रामनाम के सुमिरन में लग जाओ।

दमु[1] दुर्गम[2], दान, दया, मख[3], कर्म, सुधर्म, अधीन सबै धनको।
तप, तीरथ, साधन, जोग, बिरागसों होइ, नहीं दृढ़ता तनको॥
कलिकाल कराल[4] में 'राम कृपालु' यहै अवलंबु बड़ो मनको।
'तुलसी' सब संजमहीन सबै, एक नाम-अधारु सदा जनको॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 87

दम अर्थात् इंद्रियों को रोकना कठिन है। दान, दया, यज्ञ आदि कर्म जो उत्तम धर्म माने जाते हैं—सभी धन के अधीन हैं अर्थात् केवल धनी लोग ही इन्हें कर सकते हैं। तप, तीर्थ, योग-साधन और वैराग्य के होने लायक़ शरीर में दृढ़ता नहीं है। इस कठिन कलिकाल में राम की दयालुता का ही एकमात्र भरोसा है। तुलसीदास जी कहते हैं कि सब लोग सब प्रकार के संयम से रहित हैं पर भक्तजन को सदा ही एक नाम का आधार है।

इसलिए तुलसीदास जी नाम-भक्ति के अंतर्मुखी साधन को ही अपनाते हैं और सभी बाहरमुखी साधनों को व्यर्थ मानते हैं। वह कहते हैं:

नाहिंन आवत आन भरोसो।
यहि कलिकाल सकल साधन तरु है स्रम-फलनि[5] फरो सो॥
तप, तीरथ, उपवास, दान, मख जेहि जो रुचै करो सो।
पायेहि पै जानिबो करम-फल भरि-भरि बेद परोसो॥
आगम-बिधि जप-जाग करत नर सरत[6] न काज खरो सो[7]।
सुख सपनेहु न जोग-सिधि-साधन, रोग-बियोग धरो सो[8]॥

1. इंद्रियों को वश में करना 2. कठिन है 3. यज्ञ 4. भयंकर
5.परिश्रमरूपी फल 6. सफल होना। 7. **काज...सो**=असली कार्य
8. पकड़ना

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह मिलि ग्यान बिराग हरो सो।
बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो[1]॥
बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सो॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि-फिरि पचि मरै मरो सो।
रामनाम-बोहित[2] भव-सागर चाहै तरन तरो सो॥

विनय-पत्रिका 173

प्रभु के नाम के सिवाय किसी दूसरे साधन पर मुझे भरोसा नहीं आता। इस कलियुग में सभी साधनरूपी वृक्षों में केवल परिश्रमरूपी फल ही फलते हैं अर्थात् उन साधनों को करने से केवल मेहनत ही हाथ लगती है, फल कुछ भी नहीं मिलता। तप, तीर्थ, उपवास, दान, यज्ञ आदि की बातें वेदों में ख़ूब बताई गई हैं। जिसे जो अच्छा लगे, करे पर इन कर्मों का फल मिलने पर ही पता चलेगा (कि वे किस तरह व्यर्थ हैं)। मनुष्य शास्त्रीय विधि से जप और यज्ञ करते हैं पर उनसे असली कार्य की तनिक भी सिद्धि नहीं होती। योग-सिद्धियों के साधन द्वारा स्वप्न में भी कभी सुख प्राप्त नहीं होता, उलटे रोग और वियोग का ही शिकार बनना पड़ता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार ने मिलकर ज्ञान और वैराग्य को ग़ायब कर दिया है और संन्यास लेने पर तो यह मन ऐसा बिगड़ जाता है जैसे पानी डालने पर कच्चा घड़ा गल जाता है। मुनियों के अनेक मत हैं और पुराणों ने अनेक पंथ बताए हैं जिनसे जहाँ-तहाँ विवाद होता रहता है। पर मुझे तो गुरु का बताया हुआ प्रभु के नाम के भजन का साधन ही राजमार्ग (सर्वोत्तम मार्ग) के रूप में प्रिय लगता है। इस मार्ग में विश्वास और प्रेम के बिना जिसे बार-बार पच-पचकर मरना हो, वह भले ही मरे पर संसार-सागर को पार करने के लिए नाम ही एकमात्र जहाज़ है। जो भी पार जाना चाहे, इसके सहारे पार हो जाए।

1. **जल...सो**=जल से कच्चा घड़ा गल जाता है। 2. रामनाम जहाज़ है।

अन्य संतों ने भी बाहरमुखी साधनों को व्यर्थ बताया है और हमें बार-बार इस धोखे से सावधान किया है। हाथरस के परमसंत तुलसी साहिब ने बहुत खोलकर कहा है:

तीरथ बरत नेम जग लागा। काहू मन धोखा नहिं भागा॥
नीमखार बद्री परधाना। तीरथ सब प्रयाग असनाना॥
चारौं धाम काम करि आवा। भरमि भरमि कहुँ मुक्ति न पावा॥
जुग जुग रहै चहै सोइ कासी। बिन चीन्हें भये जमपुर बासी॥...
धोखे सब जग पचि मुआ, पूजा नेम अचार।
तीरथ ब्रत बिधि भर्म से, भुगतत खानि मँझार॥

घट रामायण, भाग 2, पृ. 106

दादू दयाल जी भी कहते हैं:

(दादू) कोई दौड़े द्वारिका, कोई कासी जाहिं।
कोई मथुरा कौं चले, साहिब घट ही माहिं॥

दादू दयाल, की बानी, भाग1, साच 147

वह फिर कहते हैं:

दादू दुनिया दिवानी। पूजे पाहन पानी॥
गढ़ मूरत मंदर में थापी। नै नै करत सलामी॥
चंदन फूल अछत सिव ऊपर। बकरा भेंट भवानी॥
छपन भोग ठाकुर को लागें। पावत चेतन प्रानी॥
धाइ धाइ तीरथ को धावे। साध संगति नहिं मानी॥
ता ते पड़ा करम बस फंदा। भरमे चारों खानी॥
बिन सतसंग पार नहिं जावे। फिरि फिरि भरम भुलानी॥

तुलसी साहिब की शब्दावली, भाग1, पृ. 101

{तुलसी साहिब ने दादू जी के इस पद को अपनी शब्दावली, भाग1 (पृ. 101) में उद्धृत किया है।}

गुरु रविदास जी भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं:

काबे अरु कैलास महं जिह कूं ढूँढण जांह।
'रविदास' पिआरा राम तउ, बइठहिं मन मांह॥

रविदास दर्शन, साखी 16

इसी तरह दरिया साहिब कहते हैं:

जेहि कारन सठ तीरथ जाई। रतन पदारथ इंह वहि पाई॥

दरिया-ग्रन्थावली, भाग 2, दरिया सागर, चौपाई 556

ना कछु बोलै ना कछु खाई। ताके पूजै मिलै का भाई॥

दरिया-ग्रन्थावली, भाग 2, दरिया सागर, चौपाई 834

इसी भाव को पलटू साहिब भी हमारे सामने रखते हैं:

जल पषान बोलै नहीं, ना कछु पिवै न खाय।
पलटू पूजै संत को, सब तीरथ तरि जाय॥

पलटू साहिब की बानी, भाग 3, पृ. 79

वह फिर कहते हैं:

तीरथ ब्रत में फिरे बहुत चित लाइ कै।
जल पखान[1] को पूजि मुए पछिताइ कै॥
बस्तु न बूझी जाय[2] अपाने हाथ में[3]।
अरे हाँ पलटू जो कुछ मिलै सो मिलै संत के साथ में॥

पलटू साहिब की बानी, भाग 2, अरिल्ल 77

1. पत्थर 2. **न...जाय**=समझी नहीं जा सकती। 3. **अपाने...में**=अपने पास ही है।

स्वामी जी महाराज का भी यही उपदेश है:

जो तुम पिया से मिलना चाहो। तो भटको मत जग में॥
तीरथ बर्त कर्म आचारा। ये अटकावें मग में॥
जब लग सतगुरु मिलें न पूरे। पड़े रहोगे अघ[1] में॥...
पंडित क़ाज़ी भेख शेख़ सब। अटक रहे डग डग में॥
इन के संग पिया नहिं मिलना। पिया मिले कोइ साध समग[2] में॥

सारबचन संग्रह, 15:20:1-6

तुलसीदास जी की तरह आप भी बाहरमुखी क्रियाओं को 'फोकट धर्म' मानते हैं। इनमें लगकर व्यर्थ में जूझनेवाले जीवों के अभाग्य पर तरस खाते हुए वह कहते हैं:

फोकट धर्म पकड़ कर जूझे। बूझे न शब्द जुगत पारा॥
जीव अभाग कहूं मैं क्या क्या। बाहर भरमे भौ जारा॥
अंतरमुख जो शब्द कमाई। ता में मन को नहिं गारा॥

सारबचन संग्रह, 14:12:10, 12-13

बाहरी आडंबर और गृहत्याग की व्यर्थता

परमात्मा को अपने हृदय-मंदिर में बिठाने के लिए हृदय को विकार रहित और पवित्र बनाना आवश्यक है। पर केवल बाहरी सफ़ाई और दिखावटी साज-सजावट से हृदय पवित्र नहीं होता और न इनसे परमात्मा प्रसन्न होता है। बाहरी वेशभूषा से हम संसार को भले ही थोड़ी देर के लिए रिझा लें पर हम परमात्मा को धोखा नहीं दे सकते। अपने को साधु कहनेवाले अधिकांश लोग मोर के समान केवल बाहर से सुंदर वेशभूषा धारण कर लेते हैं और ऊपर से सुंदर बातें बनाकर कहते हैं पर जिस

1. पाप 2. संगति

तरह मोर विषैले साँपों को खा जाता है, उसी तरह वे विषरूपी विषयों के सेवन में लगे रहते हैं। उनका हृदय कपट से भरा होता है। बाहरी वेश और बनावटी वचन की ओट में किया गया कार्य कपट के खुल जाने पर अंत में बिगड़ जाता है। बगुला चाहे अपने पैर, चोंच और आँखों को रँगकर हंस की तरह बना ले और हंस की-सी चाल भी चलने लगे पर जब दूध और पानी को अलग-अलग करने का समय आएगा, तब आख़िर उसकी पोल खुल ही जाएगी। जब तक हमारा मन विकारों से भरा हुआ है, हम बुरे कर्म करते हैं और विषयरूपी जल में मछली के समान मग्न हैं, तब तक केवल पाखंडपूर्ण वचन और दिखावटी वेशभूषा द्वारा हम परमात्मा को नहीं पा सकते:

हृदयँ कपट बर बेष धरि[1] बचन कहहिं गढ़ि छोलि[2]।
अब के लोग मयूर ज्यों क्यों मिलिए मन खोलि॥

दोहावली 332

देखत चारु[3] मयूर बयन[4] सुभ बोलि सुधा इव सानी[5]।
सबिष उरग-आहार[6], निठुर अस, यह करनी वह बानी॥

विनय-पत्रिका 118

बचन बेष तें जो बनइ सो बिगरइ परिनाम[7]।
तुलसी मन तें जो बनइ[8] बनी बनाई राम[9]॥

दोहावली 154

1. **बर...धरि**=उत्तम पोशाक धारणकर 2. **बचन...छोलि**=गढ़कर बातें करना
3. सुंदर 4. वचन 5. अमृत में सना हुआ 6. **सबिष...अहार**=ज़हरीला साँप आहार है। 7. अंत में 8. **मन...बनइ**=सरल मन से करना
9. **बनी...राम**=राम की कृपा से बना-बनाया ही है।

चरन चोंच लोचन रँगौ चलौ मराली[1] चाल।
छीर[2] नीर बिबरन समय बक[3] उघरत तेहि काल॥

दोहावली 333

बेष बिसद[4] बोलनि मधुर मन कटु करम मलीन।
तुलसी राम न पाइऐ भएँ बिषय जल मीन॥

दोहावली 153

आज संसार में जो जितना अधिक डींग मारता है, वह उतना ही बड़ा पंडित गिना जाता है। अनेक प्रकार के आडंबर रचनेवाले, अपनी झूठी बड़ाई करनेवाले तथा नख और जटा आदि बढ़ाकर दूसरों का धन हड़पने वाले साधुओं की आजकल भरमार है और वही बड़े भारी आचारी कहलाते हैं। कुछ लोग अपनी स्त्री के मर जाने या घर की संपत्ति के नष्ट हो जाने पर सिर मुँडाकर या केश बढ़ाकर संन्यासी बन जाते हैं और लोगों को ठगते-फिरते हैं। तुलसीदास जी ऐसे पाखंडी योगियों, सिद्धों और साधुओं से हमें सावधान करते हुए कहते हैं:

मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ[5] दंभ रत[6] जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो परधन हारी[7]। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
जो कह झूँठ मसखरी जाना[8]। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥
असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ[9] जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

मानस, 7.97(ख).2-4, 7.98(क)

1. हंस जैसी 2. दूध 3. बगुला 4. साफ़-सुथरा 5. ढोंगी
6. **दंभ रत**=अभिमान में लीन 7. **परधन हारी**=पराया धन हड़पने वाला
8. **मसखरी जाना**=हँसी-मज़ाक करता है। 9. खाद्य-अखाद्य

नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाई होहिं सन्यासी॥

मानस, 7.99(ख).3

कुछ लोग परमात्मा की प्राप्ति के लिए घरबार छोड़कर जंगलों और पहाड़ों में चले जाते हैं। पर परमात्मा तो घट-घट वासी है, वह प्रत्येक जीव के अंतर में निवास करता है। उसे बाहर ढूँढ़ते फिरने की मूर्खता करना निष्फल है। तुलसीदास जी कहते हैं कि परमात्मा की प्राप्ति भक्ति और प्रेम द्वारा होती है, सिर मुँड़ाकर या किसी और प्रकार से साधु का स्वाँग रचकर भाँड़ की तरह इधर-उधर भटकते फिरने से नहीं। वह समझाते हैं कि गृहस्थी में उलझ जाने से हम अपने वास्तविक घर (परमधाम) से विमुख हो जाते हैं और घर छोड़ने (संन्यास लेने) से हमारा सांसारिक घर नष्ट हो जाता है। इसलिए घर और वन के बीच ही अर्थात् घर में ही अनासक्त भाव से रहते हुए हमें परमात्मा को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। परमात्मा की प्राप्ति के लिए हमें केवल अपने मन को बाहरी विषयों से हटाकर अपने अंदर शांत और एकाग्र करने तथा अपने आप को परमात्मा के चरणों में प्रेम और भक्ति के साथ समर्पित कर देने की आवश्यकता है। यह साधना अपना घर छोड़े बिना ही पूरी की जा सकती है। परमात्मा से सच्चा प्रेम होने पर घर और वन से कोई अंतर नहीं पड़ता। इसलिए तुलसीदास जी कहते हैं कि घर छोड़कर वन-वन फिरने से भला क्या लाभ है जबकि उससे कुछ बनता ही नहीं? घर-गृहस्थी में रहते हुए ही नियमित साधना द्वारा हम परमार्थ को प्राप्त कर लेते हैं:

घर कीन्हें घर जात है घर छाँड़े घर जाइ।
तुलसी घर बन बीचहीं राम प्रेम पुर छाइ[1]॥

दोहावली 256

1. **प्रेम...छाइ**=प्रेम का छा जाना

जे जन रूखे[1] बिषय रस चिकने राम सनेहँ[2]।
तुलसी ते प्रिय राम को कानन बसहिं[3] कि गेहँ[4]॥

दोहावली 61

जथा लाभ[5] संतोष सुख रघुबर चरन सनेह।
तुलसी जो मन खूँद[6] सम कानन बसहुँ कि गेह॥

दोहावली 62

तुलसी जौं पै राम सों नाहिन सहज सनेह।
मूँड़ मुड़ायो बादिहीं भाँड़[7] भयो तजि गेह॥

दोहावली 63

काह भयो बन बन फिरे जो बनि आयो नाहिं।
बनते बनते बनि गयो तुलसी घर ही माहिं॥

तुलसी सतसई, 4.68

नीचे दिए गए पद में तुलसीदास जी अपनी सहज विनम्रता के साथ अपना ही उदाहरण देकर यह बताते हैं कि कपट, पाखंड या बाहरी दिखावे से परमात्मा की भक्ति नहीं हो सकती:

वेष सुबनाइ सुचि[8] बचन कहैं चुवाइ
जाइ तौ न जरनि[9] धरनि-धन-धाम की।
कोटिक उपाय करि लालि पालिअत देह,
मुख कहिअत गति राम ही के नाम की॥
प्रगटैं उपासना दुरावैं दुरबासनाहि,
मानस[10] निवासभूमि लोभ-मोह-काम की।

1. उदासीन 2. **चिकने...सनेहँ**=प्रभुप्रेम के रसिक हैं।
3. **कानन बसहिं**=वन में बसें 4. **कि गेहँ**=चाहे घर में
5. **जथा लाभ**=जो कुछ मिले 6.बँध जाता है 7. हँसी-मज़ाक करनेवाला
8. पवित्र 9. जलन 10. मन

राग-रोष-ईरिषा-कपट-कुटिलाईं भरे
तुलसी-से भगत भगति चाहैं राम की॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 119

जो सुंदर वेष बनाकर (दिखावटी रूप से) प्रेमपूर्ण पवित्र वचन बोलते हैं पर जिनके अंदर से ज़मीन-जायदाद और धन-धाम की तृष्णा दूर नहीं होती; जो करोड़ों उपाय करके शरीर के लालन-पालन में लगे रहते हैं पर मुख से केवल राम-नाम के भरोसे रहने की बात कहते हैं; जो अपने पूजा-पाठ को तो प्रकट रूप से दिखाते हैं पर अपनी बुरी वासनाओं को छिपाए रखते हैं तथा जिनके मन में लोभ, मोह और काम अपना घर बनाए रहते हैं—वैसे आसक्ति, क्रोध, ईर्ष्या, कपट और दुष्टता से भरे मुझ तुलसी जैसे भक्त भला राम की भक्ति चाहते हैं! अर्थात् ऐसे कपट, पाखंड या बाहरी दिखावे से जो परमात्मा को रिझाना चाहते हैं, वे अपने आप को तथा औरों को केवल धोखा दे रहे हैं।

जाति-पाँति की निस्सारता

परमात्मा की प्राप्ति केवल भक्ति और प्रेम द्वारा ही होती है, इसमें जाति-पाँति का कोई विचार नहीं होता। जाति-पाँति का भेद मनुष्य द्वारा बनाया गया है, परमात्मा किसी की जाति-पाँति नहीं पूछता। रामचरितमानस के अनेक कथानकों के माध्यम से तथा अपनी अन्य रचनाओं द्वारा भी तुलसीदास जी ने बार-बार इस विचार को हमारे सामने रखा है।

राम, शबरी नामक भीलनी के घर जाकर उसका आतिथ्य स्वीकार करते हैं। जब शबरी अपने को निम्न जाति की स्त्री बताकर अपनी तुच्छता प्रकट करती है तो राम बड़ी स्पष्टता के साथ अपना विचार बताते हुए कहते हैं कि मैं केवल एक भक्ति का ही नाता मानता हूँ। भक्ति के बिना जाति-पाँति और कुल-परिवार का बड़प्पन, धन, बल और कुटुंब का अभिमान तथा अन्य गुण और चतुराई, पानी न देनेवाले बादल के समान निस्सार और व्यर्थ हैं:

पानि जोरि[1] आगें भइ ठाढ़ी। प्रभुहि बिलोकि[2] प्रीति अति बाढ़ी॥
केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़मति भारी॥
अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद[3] अघारी[4]॥
कह रघुपति सुनु भामिनी[5] बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन[6] गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

मानस, 3.34.1-3

अधम जाति सबरी जोषित[7] जड़[8], लोक-बेद तें न्यारी।
जानि प्रीति, दै दरस कृपानिधि, सोउ रघुनाथ उधारी॥

विनय-पत्रिका 166

इसी प्रकार जब राम को वन से लौटाने के ख़याल से अयोध्या वासियों के साथ मुनि वसिष्ठ वन में जाते हैं तो केवट (निषाद राज) उन्हें दूर से ही दंडवत् (प्रणाम) करता है। पर मुनिवर वसिष्ठ उसे उठाकर प्रेमपूर्वक हृदय से लगा लेते हैं मानों ज़मीन पर लोटते हुए प्रेम को उन्होंने समेट लिया हो। वह केवट से लक्ष्मण की भी अपेक्षा अधिक आनंद और प्रेम के साथ मिलते हैं। तुलसीदास जी ने यहाँ जाति-पाँति की निस्सारता और प्रेम-भक्ति की महानता को बड़े सुंदर ढंग से दरसाया है:

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि[9] लुठत[10] सनेह समेटा॥
रघुपति भगति सुमंगल मूला। नभ सराहि सुर[11] बरिसहिं फूला॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं॥

1. **पानि जोरि**=हाथ जोड़कर 2. देखकर 3. मंद बुद्धि वाली
4. हे पापों को नष्ट करनेवाले 5. स्त्री 6. कुटुंब 7. स्त्री
8. मूर्ख 9. ज़मीन 10. लोटते हुए 11. देवता

जेहि लखि लखनहु तें अधिक मिले मुदित[1] मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ॥

मानस, 2.242.3-4, 2.243

भरत जी और निषाद के मिलन के प्रसंग में भी तुलसीदास जी ने इसी प्रकार जाति-पाँति की निस्सारता दिखाई है। भरत जी यह सुनते ही कि निषाद राम का मित्र है, अपने रथ से उतर पड़ते हैं और निषाद को दंडवत् (प्रणाम) करते देखकर उसे इस तरह छाती से लगा लेते हैं जैसे स्वयं लक्ष्मण से भेंट हो गई हो। जिस निषाद को लोग सबसे निम्न जाति का मानते हैं और जिसकी छाया से छू जाने पर स्नान करके अपने को शुद्ध करते हैं, उसी निषाद से राम के भाई भरत प्रेम से पुलकित होकर गले लगकर मिलते हैं:

राम सखा सुनि संदनु[2] त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥
गाउँ जाति गुहँ नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारु[3] माथ महि लाई[4]॥
करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ[5]।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ॥
भेंटत भरतु ताहि अति प्रीति। लोग सिहाहिं[6] प्रेम कै रीती॥
धन्य धन्य धुनि मंगल मूला। सुर सराहि तेहि बरिसहिं फूला॥

मानस, 2.192.4, 2.193.1

तुलसीदास जी के अनुसार परमात्मा की नाम-भक्ति में लगा श्वपच (चांडाल) भी श्रेष्ठ और पूज्य है पर नाम-भक्ति से रहित उच्च कुल का व्यक्ति भी निम्न और तुच्छ है। नाम-भक्ति में लगे किसी भी दीन-हीन साधु से कोई भी कुलीन (ऊँचे कुल में पैदा हुआ व्यक्ति) बराबरी नहीं

1. आनंद के साथ 2. रथ 3. प्रणाम 4. **माथ...लाई**=ज़मीन पर माथा टेककर
5. **लीन्ह...लाइ**=हृदय से लगा लेना 6. ललचाना

कर सकता। कुलीनता के अभिमान में जलनेवाला व्यक्ति भला शांति के सरोवर में निमग्न साधु की बराबरी कैसे कर सकता है? वास्तव में जो जाति-पाँति, धन-धाम, संसार की बड़ाई आदि सबको छोड़कर हृदय से परमात्मा की भक्ति में लगा है, उसी के हृदय में परमात्मा प्रकट रूप से निवास करते हैं:

तुलसी भगत सुपच[1] भलो, भजै रैन दिन राम।
उँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम॥

वैराग्य-संदीपनी 38

धन्य धन्य माता पिता, धन्य पुत्र बर सोइ।
तुलसी जो रामहि भजे, जैसेहुँ कैसेहुँ होइ॥

वैराग्य-संदीपनी 36

जदपि साधु सबहीं बिधि हीना। तदपि समता के न कुलीना[2]॥
यह दिन रैन नाम उच्चरै। वह नित मान अगिनि मँह जरै॥

वैराग्य-संदीपनी 41

जाति पाँति धन धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन[3] सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई। तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई॥

मानस, 2.130.3

जाति-पाँति की कट्टरता और अंधपरंपरा से तंग आकर तुलसीदास जी कहते हैं कि मुझे कोई किसी भी जाति या कौम का कहे, मैं इसकी परवाह नहीं करता। चाहे कोई मुझे धूर्त (ठग) कहे या साधु कहे, राजपूत कहे या जुलाहा कहे, मुझे इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। जाति भेद को

1. चांडाल 2. ऊँचे कुल में जन्मा हुआ 3. घर

माननेवाले अपनी जाति बनाए रखें, मैं किसी की जाति बिगाड़ने नहीं जाता। मुझे किसी की बेटी से अपने बेटे की शादी नहीं करनी है। मैं तो बस केवल परमात्मा का गुलाम (दास या सेवक) हूँ। यह लोगों की अज्ञानता है कि वे यह नहीं समझते कि स्वामी या परमात्मा जिस जाति या गोत्र का होता है, जीव या सेवक भी उसी जाति या गोत्र का हो जाता है। जब परमात्मा की कोई जाति नहीं तो फिर भला जीवों की क्या जाति हो सकती है मुझे लोग साधु या असाधु, भला या बुरा—जो चाहें कहें, मुझे इसकी भला क्या चिंता है? क्या मैं किसी के दरवाज़े पर पड़ा हूँ? मैं जो कुछ भी हूँ, बस केवल परमात्मा का हूँ:

धूत[1] कहौ, अवधूत[2] कहौ, रजपूतु कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहूकी बेटीसों बेटा न ब्याहब, काहूकी जाति बिगार न सोऊ॥
तुलसी सरनाम[3] गुलामु है रामको, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 106

मेरें जाति-पाँति न चहौं काहूकी जाति-पाँति,
मेरे कोऊ कामको न हौं काहूके कामको।
लोकु परलोकु रघुनाथही के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसीके एक नामको॥
अति ही अयाने[4] उपखानो[5] नहि बूझैं लोग,
'साह[6] ही को गोतु[7] गोतु होत है गुलामको'॥
साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच[8], सोचु कहा,
का काहूके[9] द्वार परौं[10], जो हौं सो हौं रामको॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 107

1. धूर्त, कपटी 2. साधु 3. प्रसिद्ध 4. अनजाने 5. कहावत
6. स्वामी 7. गोत्र 8. बुरा 9. किसी के 10. द्वार परौं=द्वार पर जाऊँ

निष्कर्ष

यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार।
श्री रघुनाथ नाम तजि नाहिन आन अधार॥

मानस, 6.121(ख)

रे मन! विचार करके देख। यह कलिकाल पापों का घर है। इस समय परमात्मा के नाम को छोड़ दूसरा कोई आधार नहीं है।

नाम की प्राप्ति न होने के कारण ही जीव काल का शिकार बना रहता है और अपने अज्ञानवश प्रभु के नामरूपी अमृत को छोड़कर विषयरूपी विष का सेवन करता रहता है। तुलसीदास जी कहते हैं कि ऐसे मनुष्य का जीवन सूकर-कूकर जैसा ही निष्फल है। ऐसा मनुष्य व्यर्थ ही जन्म लेकर अपनी माता के दु:ख का कारण बनता है:

कठिन काल कराल सिर पर, करि अचानक घात रे।
नाम बिन जम दंड त्रासन, कोई न दैहै हाथ रे॥

बारहमासी, पृ. 1

तुलसिदास हरिनाम-सुधा तजि सठ हठि पियत बिषय-बिष माँगी।
सूकर-स्वान-सृगाल-सरिस[1] जन, जनमत जगत जननि-दुख लागी॥

विनय-पत्रिका 140

1. **सूकर...सरिस**=सूअर, कुत्ते, गीदड़ के समान

मनुष्य का जीवन सार्थक तभी हो सकता है जब वह अपने को नाम के अभ्यास में लगा दे। इस साधना में लगकर फिर उसे किसी दूसरे अच्छे या बुरे मार्ग के विषय में विचार करने की ज़रूरत नहीं है। एकमात्र नाम के अभ्यास के द्वारा ही उसके स्वार्थ और परमार्थ दोनों की सिद्धि हो जाती है। तुलसीदास जी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि यह प्रभु का नाम ही मुझ जैसे दीन-हीन के लिए सभी इच्छाओं को पूरा करनेवाला कल्पवृक्ष तथा कामधेनु है। यह मेरे जीवन का सर्वस्व है:

रामनाम मातु-पितु, स्वामि समरथ, हितु,
आस रामनामकी, भरोसो रामनामको।
प्रेम रामनाम ही सों, नेम रामनाम ही को,
जानौं ना मरम पद दाहिनो ना बामको॥
स्वारथ सकल परमारथ को रामनाम,
रामनाम हीन तुलसी न काहू कामको॥
राम की सपथ, सरबस मेरें रामनाम,
कामधेनु-कामतरु मोसे छीन-छाम[1] को॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 178

पहले कहा जा चुका है कि *मानस* में अनेक स्थानों पर नाम या रामनाम से तुलसीदास जी का तात्पर्य परमपिता परमात्मा के नाम से है। जहाँ रामनाम का भरोसा या रामनाम की भक्ति आदि शब्द आए हैं, वहाँ तुलसीदास जी का भाव परमात्मा के उस नाम की भक्ति से है जो नाम लिखने, पढ़ने और बोलने में नहीं आ सकता क्योंकि यह हर भाषा की वर्णमाला की पहुँच से परे है। इसी को संतों ने धुनात्मक नाम कहा है जो किसी पूर्ण गुरु के शिष्य के अंतर में प्रकट होता है। यह नाम ही प्रभुभक्त का माता, पिता, समर्थ स्वामी और सच्चा हितैषी है। ऊपर लिखे पद में

1. दीन-दुर्बल

तुलसीदास जी इसी रामनाम के प्रति अपने अंदर भक्ति पैदा करने की प्रेरणा देते हुए अभ्यासी को समझाते हैं कि रामनाम अर्थात् प्रभु के नाम से ही प्रेम करना चाहिए और इसका नियमपूर्वक अभ्यास करना चाहिए अर्थात् और कहीं मार्गदर्शन की तलाश नहीं करनी चाहिए। अभ्यासी को अपना लक्ष्य केवल नाम के अभ्यास की ओर ही रखना चाहिए।

इस नाम की ही साधना पर ज़ोर देते हुए तुलसीदास जी समझाते हैं कि इस विकराल संसार-सागर को पार करने के लिए रामनाम या परमात्मा का नाम ही एकमात्र जहाज़ है। अपने विचार को पूरी दृढ़ता और विश्वास के साथ प्रकट करते हुए वह कहते हैं कि मुझे अपने गुरु का बताया हुआ प्रभुभजन अर्थात् नाम-भक्ति का मार्ग ही पसंद है और यही मेरे लिए सबसे उत्तम राजमार्ग है। मैं किसी और मत-मतांतर के झगड़े में नहीं पड़ता। जिनको इसमें विश्वास नहीं है, वे भले ही जन्म-मरण के चक्र में पच-पचकर मरते रहें। पर भवसागर के पार जानेवालों के लिए नाम का जहाज़ लगा हुआ है। जो भी पार जाना चाहे, इस पर चढ़कर पार हो जाए:

बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो[1] सो॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि-फिरि पचि मरै मरो सो।
रामनाम-बोहित[2] भव-सागर चाहै तरन तरो सो॥

विनय-पत्रिका 173

1. राजमार्ग 2. राम-नामरूपी जहाज़

द्वितीय खंड

कुछ संकलित पद

कुछ संकलित पद

मानव जीवन

माया के वश होकर विषयों के लोभ में पड़ा जीव भ्रमवश अपना सारा मानव जीवन व्यर्थ ही खो देता है। परमात्मा से विमुख रहने के कारण उसे बार-बार अनेक योनियों में जन्म लेकर दु:ख भोगना पड़ता है। उसे सपने में भी कहीं सच्चा सुख नहीं मिलता और अंत में उसे सिर धुन-धुनकर पछताना पड़ता है। जीव के उद्धार का यही एक उपाय है कि वह प्रभु की शरण लेकर मन, वचन और कर्म से नाम के सुमिरन और भजन में लग जाए। जैसा कि तुलसीदास जी नीचे दिए गए पदों में कहते हैं:

कछु ह्वै न आई गयो जनम जाय।
अति दुरलभ तनु पाइ कपट तजि भजे न राम मन बचन-काय॥
लरिकाईं बीती अचेत चित, चंचलता चौगुने चाय[1]।
जोबन-जुर[2] जुबती कुपथ्य करि, भयो त्रिदोष भरि मदन[3] बाय[4]॥
मध्य बयस[5] धन हेतु गँवाई, कृषी बनिज नाना उपाय।

---

1. चाव 2. ज्वर 3. कामदेव 4. वायु 5. उम्र

राम-बिमुख सुख लह्यो न सपनेहूँ, निसिबासर तयौ तिहूँ ताय[1] ॥...
अब सोचत मनि बिनु भुअंग[2] ज्यों बिकल अंग दले जरा[3] धाय[4]।
सिर धुनि-धुनि पछितात मींजि कर, कोउ न मीत हित दुसह दाय[5] ॥
जिन्ह लगि निज परलोक बिगार्‌यो, ते लजात होत ठाढ़े ठाँय।
तुलसी अजहुँ सुमिरि रघुनाथहिं, तर्‌यो गयँद[6] जाके एक नाँय॥

विनय-पत्रिका 83

अर्थात् मुझसे कुछ भी नहीं बन पड़ा, जन्म यों ही बीत गया और बीता जा रहा है। अत्यंत दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर भी मैंने कपट छोड़कर तन, मन और वचन से प्रभु का भजन नहीं किया। लड़कपन चित्त की अज्ञानता में ही बीता। उस समय चौगुनी चंचलता की उमंग थी। जवानी का ज्वर चढ़ने पर कामरूपी वायु उभर आई और मैं मानों त्रिदोष (सन्निपात) का शिकार हो गया। बीच की अवस्था (प्रौढ़ अवस्था) खेती, व्यापार और अनेक उपायों से धन कमाने में खोई। इस तरह प्रभु से विमुख रहने के कारण मुझे सपने में भी कहीं सुख न मिला। मैं रात-दिन तीनों तापों (दैहिक, दैविक और भौतिक दु:खों) से जलता ही रहा। अब जबकि बुढ़ापे ने धावा बोलकर मुझे मसल डाला है और मेरा अंग-अंग व्याकुल हो उठा है, तब मैं सब कुछ खोकर उसी तरह सोच में पड़ा हूँ जैसे मणि को खोकर मणियारा सर्प बेचैन हो जाता है। अब मैं सिर धुन-धुनकर और हाथ मल-मलकर पछताता हूँ। अब मेरा कोई भी मित्र और हितैषी नज़र नहीं आता जो दावानल के इस दु:सह दु:ख से मुझे बचाए। जिनके लिए मैंने अपना लोक-परलोक बिगाड़ लिया, वे अब मेरे पास खड़े होने में भी शरमाते हैं। तुलसीदास जी कहते हैं कि तुम अब भी प्रभु के नाम का सुमिरन कर लो जिनके नाम का एक बार सुमिरन करके गजराज मुक्त हो गया।

1. **तयौ...ताय**=तीनों तापों से तपना 2. सर्प 3. बुढ़ापा 4. धावा बोलकर
5. **दुसह दाय**=असह्य जंगल की आग, दावानल 6. हाथी

काजु कहा नरतनु धरि सार्‌यो[1]।
पर-उपकार सार श्रुति[2] को जो, सो धोखेहु न बिचार्‌यो॥...
संसय-सिंधु नाम बोहित[3] भजि निज आतमा न तार्‌यो।
जनम अनेक विवेकहीन बहु जोनि भ्रमत नहिं हार्‌यो॥
देखि आनकी[4] सहज संपदा द्वेष-अनल[5] मन जार्‌यो।
सम[6], दम[7], दया, दीन-पालन, सीतल हिय हरि न सँभार्‌यो॥
प्रभु गुरु पिता सखा रघुपति तैं मन क्रम बचन बिसार्‌यो।
तुलसिदास यहि आस, सरन राखिहि जेहि गीध उधार्‌यो॥

विनय-पत्रिका 202

तूने मनुष्य शरीर धारण करके कौन-सा काम सिद्ध किया? जो परोपकार वेदों का सार है, उस पर तूने धोखे से भी विचार नहीं किया। संशयरूपी समुद्र को नामरूपी जहाज़ से पार किया जाता है पर तूने नामभजन द्वारा अपनी आत्मा का उद्धार नहीं किया। अनेक जन्मों तक ज्ञानहीन रहकर बहुत-सी योनियों में घूमता हुआ तू अब तक नहीं हारा। दूसरों की सहज अवस्थारूपी संपत्ति को देखकर तू द्वेषरूपी आग में अपने मन को जलाता रहा। पर सम, दम, दया और दीनों के उपकार द्वारा अपने हृदय को शांत कर तूने उस हृदय में परमात्मा को नहीं बसाया जिससे सहज सुख की संपत्ति प्राप्त होती है। तूने अपने मन, वचन और कर्म से उस परमात्मा को भुला दिया जो तेरा स्वामी, गुरु, पिता और मित्र है। (अभी भी तू उस परमात्मा की शरण में चला जा)। तुलसीदास जी कहते हैं कि अब यही एक आसरा है कि जिस प्रभु ने गीध (जटायु) तक का उद्धार कर दिया, वे तुझे शरण में रख लेंगे।

1. पूरा करना 2. वेद 3. नामरूपी जहाज़ 4. दूसरे की
5. द्वेषरूपी आग 6. मन को शांत करना 7. इंद्रियों को वश करना

तुलसीदास जी हमें बार-बार विषय-वासनाओं से बचने और इस दुर्लभ मनुष्य जीवन को प्रभुभक्ति में लगाने का उपदेश देते हैं। विषय-वासनाओं के वश में आकर हम काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकाररूपी डाकुओं के शिकार हो जाते हैं जो हमारा सब कुछ लूट लेते हैं। इसलिए तुलसीदास जी एक ओर तो दुष्ट मन को विषयों की ओर से हटाकर प्रभुभक्ति में लगने की चेतावनी देते हैं और साथ ही दूसरी ओर अपने प्रभु से बड़ी ही भावभक्ति के साथ यह प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! जब आपने अत्यंत कृपापूर्वक यह दुर्लभ मनुष्य जीवन हमें दे दिया है तो अब मन को विषयों से हटाकर अपनी भक्ति में लगाने की एक और कृपा करें। आख़िर यह हृदय तो आपका ही घर है। इसे यदि काम-क्रोध आदि डाकू लूटेंगे तो इससे आपकी ही बदनामी होगी। इसलिए आप इसकी सँभाल करें। नीचे दिए गए पदों में तुलसी के ये भाव बड़े ही सुंदर ढंग से व्यक्त हुए हैं:

हरि! तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों।
साधन-धाम बिबुध-दुरलभ[1] तनु, मोहि कृपा करि दीन्हों॥
कोटिहुँ मुख कहि जात न प्रभु के, एक एक उपकार।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौं, दीजै परम उदार॥
बिषय-बारि[2] मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
ताते सहौं बिपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक॥
कृपा डोरि बनसी पद अंकुस, परम प्रेम-मृदु-चारो।
एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक[3] राम तिहारो॥
हैं श्रुति-बिदित उपाय सकल सुर[4], केहि केहि दीन निहोरै।
तुलसिदास येहि जीव मोह-रजु, जेहि बाँध्यो सोइ छोरै॥

विनय-पत्रिका 102

1. देवताओं के लिए दुर्लभ 2. जल 3. खेल 4. देवता

हे परमात्मा! आपने बहुत दया की जो मुझे देवताओं के लिए भी दुर्लभ तथा परमार्थी साधनों का घर-रूप यह मनुष्य शरीर कृपापूर्वक दे दिया। यद्यपि आपका एक-एक उपकार करोड़ों मुखों से नहीं कहा जा सकता, फिर भी, हे नाथ! मैं कुछ और माँगता हूँ, आप परम उदार हैं, कृपा कर मुझे दे दीजिए। विषयरूपी जल से मछली जैसा मेरा मन एक क्षण के लिए भी अलग नहीं होता। इससे मैं अनेक योनियों में जन्म लेकर अत्यंत कठिन संकट झेल रहा हूँ। हे प्रभु! इस मनरूपी मछली को पकड़ने के लिए आप अपनी कृपा की डोरी बनाइए और अंकुश जैसे अपने चरण-चिह्न को वंशी का काँटा बनाइए तथा उसमें परम प्रेमरूपी कोमल चारा लगा दीजिए। इस मनरूपी मछली को बेधकर (तथा उसे विषयरूपी जल से बाहर निकालकर) मेरा दु:ख दूर कर दीजिए। आपके लिए तो यह एक मामूली खेल है (कोई कठिन बात नहीं)। यों वेद में बताए उपाय मुझे मालूम हैं और देवता भी बहुत-से हैं। पर यह दीन जीव किस-किस का निहोरा करता फिरे? तुलसीदास जी कहते हैं कि जिसने इस जीव को मोह की डोरी से बाँधा है, वही इसे छुड़ावेगा।

मैं केहि कहौं बिपति अति भारी। श्री रघुबीर धीर हितकारी॥
मम हृदय भवन[1] प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥
तम, मोह, लोभ, अहँकारा। मद, क्रोध, बोध-रिपु[2] मारा[3]॥
अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं[4] मोहि जानि अनाथा॥
मैं एक, अमित[5] बटपारा[6]। कोउ सुनै न मोर पुकारा॥
भागेहु नहिं नाथ! उबारा। रघुनायक, करहुँ सँभारा॥

1. घर 2. ज्ञान का शत्रु 3. कामदेव 4. कुचलना 5. असीम 6. डाकू

कह तुलसिदास सुनु रामा। लूटहिं तसकर[1] तव[2] धामा॥
चिंता यह मोहिं अपारा। अपजस नहिं होइ तुम्हारा॥

विनय-पत्रिका 125

मैं अपनी अत्यंत भारी विपत्ति किसको सुनाऊँ? हे प्रभु! केवल आप ही बिना उकताए सबका कल्याण करनेवाले हैं। हे प्रभु! मेरा हृदय तो आपका घर है। पर उसमें बहुत-से चोर आकर बस गए हैं। ये अत्यंत कठोर हैं और मुझसे ज़बरदस्ती करते हैं। ये मेरी विनती या निहोरा – कुछ भी नहीं सुनते। हे नाथ! अज्ञान, मोह, लोभ, अहंकार, मद, क्रोध और ज्ञान का शत्रु काम – ये सब बहुत ही उपद्रव करते हैं और मुझे अनाथ समझकर कुचल डालते हैं। मैं अकेला हूँ और ये लुटेरे बेशुमार हैं। मेरी पुकार तक कोई नहीं सुनता। हे नाथ! भागने पर भी इनसे पिंड नहीं छूटता (ये पीछे लगे ही रहते हैं)। हे प्रभु! अब आप ही मेरी सँभाल करें। तुलसीदास जी कहते हैं कि हे मेरे प्रभु! सुनिए, ये चोर आपका घर लूट रहे हैं। मुझे इस बात की अपार चिंता लगी है कि (आपके रहते आपका घर लुट जाने से) कहीं आपकी बदनामी न हो जाए।

सुन मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरि-पद-बिमुख लह्यो[3] न काहु सुख, सठ[4]! यह समझु सुबेरो॥...
छूटै न बिपति भजे बिनु रघुपति, श्रुति संदेहु निबेरो[5]।
तुलसिदास सब आस छाँड़ि करि, होहु रामको चेरो॥

विनय-पत्रिका 87

1. चोर 2. तुम्हारे 3. पाना 4. दुष्ट 5. निर्णय करना

ऐ मूर्ख मन! मेरी सीख सुन ले। प्रभु के चरणों से विमुख होकर किसी ने कभी सुख नहीं पाया, इस बात को जल्दी ही समझ ले। इसमें संदेह नहीं कि प्रभु के भजन के बिना विपत्ति कभी दूर नहीं होती। वेदों ने इस विषय में होनेवाले संदेह को दूर कर दिया है। इसलिए तुलसीदास जी कहते हैं कि सभी आशाओं को छोड़कर बस प्रभु का सेवक बन जा।

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु, करम बचन अरु ही[1] ते।
सहसबाहु, दसबदन[2] आदि नृप बचे न काल बली ते।
हम-हम करि धन-धाम सवारे, अंत चले उठि रीते[3]॥
सुत-बनितादि[4] जानि स्वारथरत, न करु नेह सबही ते।
अंतहुँ तोहि तजैंगे पामर[5]! तू न तजै अबही ते॥
अब नाथहिं अनुरागु[6], जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते।
बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ, बिषय-भोग बहु घी ते॥

विनय-पत्रिका 198

रे मन! अवसर बीत जाने पर तुझे पछताना पड़ेगा। इस दुर्लभ मनुष्य शरीर को पाकर कर्म, वचन और हृदय से प्रभु के चरण-कमलों का भजन कर। सहस्रबाहु, रावण जैसे प्रतापी राजा भी बलवान काल से नहीं बच सके। उन्होंने 'हमारा-हमारा' करते हुए ख़ज़ाने और महल सजाए थे पर अंत में उन्हें भी ख़ाली हाथ ही जाना पड़ा। पुत्र-स्त्री आदि को स्वार्थ में लीन समझो। इन सबके मोह में न फँसो। ऐ मूर्ख! ये सब तुझे अंत में छोड़ देंगे। तब तू इन्हें अभी से क्यों नहीं छोड़ देता? अर्थात् तू इनके प्रति आसक्ति अभी से क्यों नहीं त्याग देता? ऐ मूर्ख! जागो और प्रभु से प्रेम करो तथा

1. हृदय 2. दस मुख वाला (रावण) 3. ख़ाली
4. सुत-बनितादि=पुत्र-स्त्री आदि 5. पापी 6. प्रेम करो

अपने हृदय से (विषयों की) झूठी आशा निकाल दो। तुलसीदास जी कहते हैं कि विषय-भोगरूपी घी से कामनाओं की अग्नि कभी बुझ नहीं सकती।

इस सर्वश्रेष्ठ मानव जीवन के थोड़े-से समय को पारमार्थिक साधना में न लगाकर विषय-सुख की प्राप्ति में लगाना तथा राग, द्वेष और मोह का शिकार होकर भटकते फिरना भारी भूल है। इससे अंत में हमें पछताना पड़ेगा। हमारी चिंता तब तक दूर नहीं हो सकती जब तक हम प्रभुरूपी चिंतामणि को पहचान न लें। नीचे दिए गए पद इन्हीं भावों को व्यक्त करते हैं:

जनम गयो बादिहिं[1] बर[2] बीति।
परमारथ पाले न पर्‌यो कछु अनुदिन अधिक अनीति[3]॥
खेलत खात लरिकपन गो चलि, जौबन जुवतिन लियो जीति।
रोग-बियोग-सोग-श्रम-संकुल[4] बड़ि बय[5] बृथहि अतीति[6]॥
राग-रोष-इरिषा-बिमोह-बस रुची न साधु समीति[7]।
कहे न सुने गुनगन रघुबरके, भइ न रामपद-प्रीति॥
हृदय दहत पछिताय-अनल[8] अब, सुनत दुसह भवभीति[9]।
तुलसी प्रभु तें होइ सो कीजिय सुमझि बिरद की रीति॥

विनय-पत्रिका 234

श्रेष्ठ मनुष्य जीवन व्यर्थ ही बीत गया। कुछ भी परमार्थ पल्ले न पड़ा। दिनों-दिन दुराचार ही बढ़ता गया। बचपन खेलते-खाते बीत गया, जवानी को कामवासना ने जीत लिया और रोग, वियोग, शोक और परेशानी से भरा हुआ बुढ़ापा भी व्यर्थ चला गया। राग, क्रोध, ईर्ष्या और

1. व्यर्थ ही 2. श्रेष्ठ 3. दुराचार 4. भरा हुआ
5. **बड़ि बय**=बुढ़ापे की अवस्था 6. बीतना 7. सभा
8. पछतावे की आग 9.संसार का भय

मोह के कारण साधु-संतों की सभा अच्छी न लगी। इसलिए न प्रभु का गुणगान कह-सुन सका और न प्रभु के चरणों में प्रेम ही लगा सका। अब संसार के असहनीय भय को सुनकर हृदय पश्चात्ताप की आग में जला जा रहा है। तुलसीदास जी कहते हैं कि हे प्रभु! अब आप ही अपने विरद की रीति को विचारकर जो भी हो सके, कीजिए।

ऐसेहि जनम-समूह सिराने[1]।
प्राननाथ रघुनाथ-से प्रभु तजि सेवत चरन बिराने[2]॥
जे जड़ जीव कुटिल, कायर, खल, केवल कलिमल-साने।
सूखत बदन प्रसंसत तिन्ह कहँ, हरितें अधिक करि माने॥
सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पायँ पिराने[3]।
सदा मलीन पंथके जल ज्यों, कबहुँ न हृदय थिराने[4]॥
यह दीनता दूर करिबेको अमित जतन उर आने।
तुलसी चित-चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि[5] पहिचाने॥

विनय-पत्रिका 235

इसी प्रकार अनेक जन्म बीत गए। प्रियतम परमात्मा जैसे स्वामी को छोड़कर मैं दूसरों की ही चरण-सेवा में लगा रहा। जो मूर्ख जीव कुटिल, कायर, दुष्ट और कलियुग के पापों से सने हुए हैं, उनकी प्रशंसा करते-करते मेरा मुँह सूख गया और उन्हें मैं परमात्मा से भी अधिक मानता रहा। सांसारिक सुखों के लिए लगातार करोड़ों प्रयत्न करने में मेरे पैर नहीं दुखे। जैसे रास्ते का जल (पथिकों के हमेशा उसमें चलते रहने के कारण) सदा गँदला बना रहता है, वैसे ही मेरा हृदय काम, क्रोध आदि के उपद्रव से सदा मैला बना रहा और कभी भी स्थिर नहीं हुआ।

1. बीत गए 2.दूसरों के 3. पीड़ित होना 4. शांत होना
5. सभी अभिलाषाओं को पूरा करनेवाला रत्न

इस दीनता को दूर करने के लिए मैंने अपने हृदय में असंख्य उपाय सोचे। पर तुलसीदास जी कहते हैं कि चिंतामणिरूपी परमात्मा को पहचाने बिना चित्त की चिंता कभी मिट नहीं सकती।

नीचे दिए गए पदों में तुलसीदास जी ने बड़े ज़ोरदार शब्दों में कहा है कि संसार में सबसे अधिक रूप, गुण, शील, मान, बड़ाई और सुख पाकर भी यदि मनुष्य परमात्मा को नहीं जानता और उसके रंग में नहीं रँग जाता तो उसका जीवन व्यर्थ है। प्रभुप्रेम के बिना संसार के सभी साज़-सामान वैसे ही हैं जैसे बिना नमक के साग-सब्ज़ी:

कामु-से[1] रूप प्रताप दिनेसु-से[2], सोमु-से[3] सील गनेसु-से माने।
हरिचंदु-से साँचे, बड़े बिधि-से[4], मघवा-से[5] महीप[6] बिषै-सुख-साने॥
सुक-से मुनि, सारद-से[7] बकता, चिरजीवन लोमस तें अधिकाने।
ऐसे भए तौ कहा 'तुलसी' जो पै राजिवलोचन[8] रामु न जाने॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 43

यदि कोई कामदेव के समान रूपवाला, सूर्य के समान प्रतापी, चंद्रमा के समान शीलवान, गणेश के समान प्रतिष्ठित, हरिश्चन्द्र के समान सत्यवादी, ब्रह्मा के समान बड़ा, इंद्र के समान विषय-सुख में लिप्त राजा, शुकदेव जैसा मुनि, सरस्वती जैसा वक्ता और लोमश मुनि से भी अधिक चिरजीवी हो, फिर भी तुलसीदास जी कहते हैं कि ऐसा होने से भी क्या लाभ हुआ यदि उसने प्रभु को नहीं जाना?

1. कामदेव के समान 2. **दिनेसु-से**=सूर्य के समान 3. **सोमु-से**=चंद्रमा के समान
4. **बिधि-से**=ब्रह्मा के समान 5. **मघवा-से**=इंद्र के समान
6. राजा 7. सरस्वती के समान 8. कमल समान नेत्रों वाले

झूमत द्वार अनेक मतंग[1] जँजीर-जरे, मद अंबु[2] चुचाते।
तीखे तुरंग[3] मनोगति-चंचल पौनके गौनहु[4] तें बढ़ि जाते॥
भीतर चंद्रमुखी अवलोकति, बाहर भूप खरे न समाते।
ऐसे भए तौ कहा, तुलसी, जो पै जानकीनाथके रंग न राते॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 44

तुलसीदास जी कहते हैं कि भले ही द्वार पर ज़ंजीरों से जकड़े हुए और कनपटी से मद चुआते हुए अनेक मदमस्त हाथी झूमते हों, मन की गति के समान दौड़नेवाले घोड़े हों जो हवा की गति से अधिक तेज़ दौड़ते हों, घर में चंद्रमा के समान सुंदर मुख वाली स्त्री राह देखती हो और बाहर राजाओं की इतनी भीड़ खड़ी हो कि भीतर न समा सकते हों, फिर भी यदि मनुष्य परमात्मा के रंग में न रँगा गया तो इन सबके होने से भी क्या लाभ हुआ?

जो पै लगन रामसों नाहीं।
तौ नर खर[5] कूकर सूकर सम बृथा जियत जग माहीं॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, नींद, भय, भूख, प्यास सबहीके।
मनुज देह सुर-साधु सराहत सो सनेह सिय-पीके॥
सूर[6], सुजान[7], सुपूत, सुलच्छन[8] गनियत गुन गरुआई[9]।
बिनु हरिभजन इँदारुनके फल तजत नहीं करुआई[10]॥
कीरति[11], कुल, करतूति, भूति[12] भलि, सील, सरूप सलोने।
तुलसी प्रभु-अनुराग-रहित जस सालन साग अलोने[13]॥

विनय-पत्रिका 175

1. मतवाला हाथी 2. गंधयुक्त रस 3. घोड़ा 4. चाल 5. गधा
6. बहादुर 7. श्रेष्ठ ज्ञानी 8. सुंदर लक्षणों वाला 9. महिमा
10. कड़वापन 11. यश 12. वैभव 13. बिना नमक के

जिस मनुष्य ने परमात्मा से प्रेम नहीं किया, वह गधे, कुत्ते और सूअर के समान है। वह संसार में व्यर्थ ही जीता है। काम, क्रोध, अहंकार, लोभ, नींद, भय, भूख और प्यास तो सबके साथ लगे होते हैं। पर जिस बात के लिए देवता और संतजन मनुष्य शरीर की प्रशंसा करते हैं, वह प्रभुप्रेम ही है। वीर, अच्छे ज्ञानी, सुपुत्र, सुंदर लक्षणों वाले और उत्तम गुणों वाले मनुष्य – ये सब गिनती में आते हैं। पर प्रभुभजन के बिना ये सब इंद्रायन के फल के समान हैं जो (सुंदर लाल रंग का दिखाई देने पर भी) अपना कड़वापन नहीं छोड़ता। सुंदर यश, कुल, करनी और वैभव तथा सुंदर शील और मनोहर स्वरूप होने पर भी यदि मनुष्य प्रभुप्रेम से रहित है तो उसके सारे गुण वैसे ही हैं जैसे बिना नमक के साग-भाजी।

भक्ति

नीचे दिए गए पद में तुलसीदास जी सभी साधनों को छोड़कर एकमात्र प्रभु पर भरोसा करने और उनकी शरण लेकर सभी विपत्तियों से मुक्त होने का भाव व्यक्त करते हैं:

ताहि तें आयो सरन सबेरें।
ग्यान बिराग भगति साधन कछु सपनेहुँ नाथ! न मेरें॥
लोभ-मोह-मद-काम-क्रोध रिपु[1] फिरत रैनि-दिन[2] घेरें।
तिनहिं मिले मन भयो कुपथ-रत[3], फिरै तिहारेहि फेरें॥
दोष-निलय[4] यह बिषय सोक-प्रद[5] कहत संत श्रुति टेरें।
जानत हूँ अनुराग तहाँ अति सो, हरि तुम्हरेहि प्रेरें?॥

1. शत्रु 2. दिन-रात 3. कुमार्ग में लीन 4. पापों का घर
5. दु:ख देनेवाला

बिष पियूष[1] सम करहु अगिनि हिम[2], तारि सकहु बिनु बेरें[3]।
तुम सम ईस कृपालु परम हित पुनि न पाइहौं हेरें[4]॥
यह जिय जानि रहौं सब तजि रघुबीर भरोसे तेरें।
तुलसिदास यह बिपति बागुरौ[5] तुम्हहिं सों बनै निबेरें[6]॥

विनय-पत्रिका 187

हे नाथ! मुझे केवल आपका भरोसा है, इसी लिए मैं समय रहते ही आपकी शरण में आ गया हूँ। मेरे पास ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि साधनों का सपने में भी बल नहीं है। मुझे तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, और अहंकार रूपी शत्रु दिन-रात घेरे फिरते हैं। इन सबके साथ मिलकर यह मन कुमार्ग में लीन हो गया है। हे प्रभु! बस केवल आपके मोड़ने से ही यह मन मुड़ सकता है। वेद और संतजन पुकार-पुकारकर कहते हैं कि ये विषय दु:ख देनेवाले और पापों के घर हैं। मैं यह जानता हूँ। फिर भी मेरा प्रेम उनसे ही अधिक लगा हुआ है। हे प्रभु! क्या यह आपकी प्रेरणा से है ? जो हो, आप तो विष को भी अमृत के समान और अग्नि को भी बर्फ़ के समान बना सकते हैं तथा बिना नाव के ही संसार-सागर को पार करा सकते हैं। आपके समान दयालु और परम हितैषी स्वामी तो खोजने पर भी नहीं मिलेगा। इसे हृदय से जानकर, हे प्रभु! मैं सब कुछ छोड़कर केवल आपके ही भरोसे हूँ। तुलसीदास जी कहते हैं कि इस विपत्ति के जाल से केवल आप ही छुड़ा सकते हैं।

तुलसीदास जी प्रभु से यही विनती करते हैं कि मुझे सुख संपत्ति, मान-बड़ाई, सुबुद्धि या मुक्ति – किसी की भी चाह नहीं है। मैं केवल यही चाहता हूँ कि प्रभु के चरण-कमलों में मेरा प्रेम दिन-प्रतिदिन बढ़ता रहे:

1. अमृत 2. बर्फ़ 3. नाव 4. देखने या खोजने से 5. फंदा
6. उद्धार करना

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव-जड़ताई॥
चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि-सिधि, बिपुल[1] बड़ाई।
हेतु-रहित[2] अनुराग राम-पद, बढ़ै अनुदिन[3] अधिकाई॥
कुटिल[4] करम लै जाहिं मोहि, जहँ जहँ अपनी बरिआई[5]।
तहँ तहँ जनि छिन[6] छोह[7] छाँड़ियो, कमठ[8] अंडकी नाईं॥
या जगमें जहँ लगि या तनुकी, प्रीति प्रतीति सगाई[9]।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों, होहिं सिमिटि इक ठाईं[10]॥

विनय-पत्रिका 103

हे नाथ! मेरी यही विनती है कि इस जीव को दूसरे साधनों (ज्ञान, वैराग्य, देवी-देवता या कर्मकांड आदि) पर जो आशा, विश्वास और भरोसा है, उस मूर्खता को आप दूर कर दें। मैं मुक्ति, सुबुद्धि, धन-संपत्ति, ऋद्धि-सिद्धि, मान-प्रतिष्ठा की अधिकता आदि कुछ भी नहीं चाहता। मैं बस केवल यही चाहता हूँ कि दिनों-दिन प्रभु के चरण-कमलों में मेरा निस्स्वार्थ प्रेम अधिकाधिक बढ़ता रहे। अपने बुरे कर्मों के वश होकर मुझे जहाँ कहीं भी (जिस किसी योनि में भी) जाना पड़े, वहीं हे नाथ! जैसे कछुआ अपने अंडे का ध्यान नहीं छोड़ता, वैसे ही आप पल भर के लिए भी मुझसे अपना प्रेम न हटाएँ। तुलसीदास जी कहते हैं कि इस संसार में जहाँ तक इस शरीर का (स्त्री, पुत्र, परिवार आदि से) प्रेम, आसरा और संबंध है, वह सब एक जगह सिमटकर केवल प्रभु में ही लग जाए अर्थात् प्रभु के अतिरिक्त मुझे और कुछ भी प्यारा न लगे।

1. अधिक, बहुत 2. बिना कारण के ही 3. प्रतिदिन 4. बुरा
5. ज़बरदस्ती 6. पल भर भी 7. प्रेम 8. कछुआ 9. संबंध
10. जगह

तुलसीदास जी मूर्ख मन को यह सीख देते हैं कि ऐ मन! तू इस बात को भलीभाँति समझ ले कि प्रभु के चरणों से विमुख होकर कभी किसी ने सुख नहीं पाया है। प्रभु के भजन के बिना विपत्तियों का कभी नाश नहीं हो सकता। इसलिए तुलसीदास जी इस मन को संसार की सभी आशाओं को छोड़कर प्रभु का भक्त बन जाने का उपदेश देते हैं:

सुन मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरि-पद-बिमुख लह्यो[1] न काहु सुख, सठ[2]! यह समुझ सबेरो॥...
छूटै न बिपति भजे बिनु रघुपति श्रुति संदेहु निबेरो[3]।
तुलसिदास सब आस छाँड़ि करि, होहु राम को चेरो[4]॥

विनय-पत्रिका 87

जब तक यह मन प्रभुभक्ति को छोड़कर अन्य साधनों की आस लगाए रहता है तथा सांसारिक विषयों के पीछे दौड़ता रहता है, तब तक इसे सदा निराशा ही हाथ लगती है और इसे अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। नीचे दिए गए पद में तुलसीदास जी ने भक्ति से विमुख मन की बुरी दशा का बड़ा सजीव चित्र प्रस्तुत किया है:

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम-भगति-सुरसरिता[5],आस करत ओसकनकी॥
धूम-समूह निरखि चातक[6] ज्यों, तृषित[7] जानि मति घनकी[8]।
नहिं तहँ सीतलता न बारि[9], पुनि हानि होति लोचनकी॥
ज्यों गच-काँच बिलोकि सेन[10] जड़[11] छाँह आपने तनकी।

1. पाना 2. मूर्ख 3. निबटारा कर दिया 4. सेवक
5. प्रभु-भक्तिरूपी गंगा 6. पपीहा 7. प्यासा 8. बादल की 9. जल
10. बाज़ 11. मूर्ख

टूटत अति आतुर अहार बस, छति[1] बिसारि आननकी[2]॥
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि! जानत हौ गति जनकी।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पनकी[3]॥

विनय-पत्रिका 90

इस मन की ऐसी मूर्खता है कि यह प्रभु की भक्तिरूपी गंगा को छोड़कर ओस की बूँदों से तृप्त होने की आशा रखता है। प्यासा पपीहा धुएँ के समूह को देखकर उसे बादल समझ लेता है। पर वहाँ जाने पर न तो उसे शीतलता मिलती है और न जल ही प्राप्त होता है बल्कि धुएँ से उसकी आँखें फूट जाती हैं (यही दशा इस मन की होती है)। जैसे मूर्ख बाज़ काँच के फ़र्श में अपने ही शरीर की छाया देखकर भूख से व्याकुल हो उस पर टूट पड़ता है और यह भूल जाता है कि चोंच मारने से उसकी अपनी ही चोंच टूटेगी (वैसे ही यह मूर्ख मन अपने आचरण से होनेवाले कष्टों का ख़याल नहीं करता)। तुलसीदास जी कहते हैं कि हे कृपा के भंडार! मैं अपने बुरे आचरण का कहाँ तक वर्णन करूँ? आप तो जीवों की दशा को जानते ही हैं। इसलिए हे प्रभु! (भक्त-वत्सल होने के) अपने प्रण की लाज रखते हुए मेरे असह्य दु:ख को दूर कीजिए।

कुछ लोग थोड़ी-सी सेवा-भक्ति करके ही यह सोचने लग जाते हैं कि उन्हें स्वामी के दर्शन क्यों नहीं हुए? यह ठीक है कि स्वामी सेवक की सेवा से प्रसन्न होकर सेवक को दर्शन देते हैं और उसके वश में हो जाते हैं। पर स्वामी के चरणों में कम से कम उतना तो प्रेम होना चाहिए जितना अपने शरीर, घर, पुत्र, स्त्री और धन-धाम में होता है। यदि ऐसा प्रेम नहीं है तो अपने को सेवक कहलाना भी लज्जा की बात है। वैसे सेवक को स्वामी (परमात्मा) भला कैसे मिलें और उनसे मिलानेवाले

1. नुकसान 2. चोंच की 3. प्रण की

संतजन भला कैसे कृपा दिखाएँ? जो सेवक कल्पवृक्ष के समान मनचाहा फल देनेवाले परमात्मा की सेवा से जी चुराता है, वह सचमुच ही निकम्मे पत्थर जैसा है। सेवक की स्वामी के प्रति प्रीति तो ऐसी होनी चाहिए कि यदि स्वामी सेवक का त्याग भी कर दें, तब भी सेवक अपने स्वामी को छोड़कर कहीं और नहीं जाए; क्योंकि सच्चे सेवक को एकमात्र अपने स्वामी का ही आसरा होता है। अपने स्वामी के सिवाय उसे और ठिकाना ही कहाँ है? प्रभु की कृपा से ऐसे सेवक का कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। जिस सेवक को अपने स्वामी का बल है, उसे किसी का डर नहीं होता, वह सदा के लिए अभय हो जाता है। नीचे दिए गए पदों में तुलसीदास जी ने इन्हीं भावों को व्यक्त किया है:

जो मन लागै रामचरन अस।
देह-गेह-सुत-बित-कलत्र[1] महँ मगन होत बिन जतन किये जस॥
द्वंद्वरहित गतमान[2], ग्यानरत बिषय-बिरत खटाइ नाना कस[3]।
सुखनिधान सुजान कोसलपति ह्वै प्रसन्न, कहु, क्यों न होंहि बस॥

विनय-पत्रिका 204

यदि यह मन प्रभु के चरणों में वैसे ही लग जाए, जैसे बिना किसी प्रयत्न के शरीर, घर, पुत्र, धन और स्त्री में मग्न रहता है तो यह सुख-दु:ख आदि द्वंद्वों से रहित हो जाए, इसका अभिमान दूर हो जाए, यह ज्ञान में लीन हो जाए और यह विषयों के रस से उसी तरह विरक्त हो जाए जिस तरह खटाई पड़ने से काँसे या पीतल के बर्तन में रखे हुए रस इतने कड़वे हो जाते हैं कि उनसे मन हट जाता है। तब कहो तो भला सुख के धाम, सब कुछ जाननेवाले परमात्मा प्रसन्न होकर क्यों नहीं वश में हो जाएँगे?

1. **देह...कलत्र**=शरीर, घर, पुत्र, धन, स्त्री 2. अभिमान दूर होना
3. **खटाइ...कस**=काँसे में रखी खटाई का कड़वापन

लाज न लागत दास कहावत।
सो आचरन बिसारि सोच तजि, जो हरि तुम कहँ भावत॥
सकल संग तजि भजत जाहि मुनि, जप तप जाग[1] बनावत।
मो-सम मंद महाखल पाँवर, कौन जतन तेहि पावत॥
हरि निरमल, मलग्रसित हृदय, असमंजस मोहि जनावत।
जेहि सर[2] काक कंक[3] बक सूकर, क्यों मराल[4] तहँ आवत॥
जाकी सरन जाइ कोबिद[5] दारुन त्रयताप बुझावत।
तहूँ गये मद मोह लोभ अति, सरगहुँ मिटत न सावत[6]॥
भव-सरिता कहँ नाउ संत, यह कहि औरनि समुझावत।
हौं तिनसों हरि! परम बैर करि, तुम सों भलो मनावत॥
नाहिंन और ठौर मो कहँ, ताते हठि नातो लावत।
राखु सरन उदार-चूड़ामनि! तुलसिदास गुन गावत॥

विनय-पत्रिका 185

अपनी संत-सुलभ दीनता के साथ तुलसीदास जी अपने ही बारे में कहते हैं: हे हरि! आपका दास कहलाने में मुझे लज्जा भी नहीं आती! जो आचरण आपको अच्छा लगता है, उसे मैं बिना किसी सोच या पश्चात्ताप के छोड़ देता हूँ। मुनिजन सभी आसक्ति को छोड़कर जिसे भजते हैं और जिसके लिए वे जप, तप और यज्ञ करते हैं, उस प्रभु को मुझ जैसा मूर्ख, महादुष्ट और पापी कैसे पा सकता है? परमात्मा निर्मल है और मेरा हृदय मल से भरा है। इसलिए मुझे यह अड़चन दिखाई देती है कि जिस (हृदयरूपी) तालाब में (काम, क्रोध आदि) कौए, चील, बगुले और सूअर रहते हैं, उसमें परमात्मारूपी हंस भला कैसे आ सकते हैं? जिन संतों की शरण में जाकर ज्ञानीजन तीनों कठिन सांसारिक दु:खों को मिटा डालते हैं, वहाँ जाने पर भी मुझे घोर अभिमान, मोह और लोभ ही सताते हैं अर्थात् प्रेम उत्पन्न

1. यज्ञ 2. तालाब 3. चील, गीध 4. हंस 5. विद्वान
6. सौतिया डाह

नहीं होता जिससे अभिमान आदि का सौतियाडाह है। कहा जाता है कि स्वर्ग में भी सौतियाडाह नहीं छूटता। मैं दूसरों को यह कहकर समझाता हूँ कि संत ही संसार-समुद्र के पार जाने के लिए नौका हैं पर मैं स्वयं उनसे भारी बैर रखता हूँ और फिर भी आपसे मैं अपना कल्याण चाहता हूँ। (ऐसा होने पर भी मैं कहाँ जाऊँ?) मुझे कोई दूसरा ठिकाना तो है नहीं। इसलिए मैं हठ करके आपसे ही संबंध जोड़ता हूँ। हे परम उदार प्रभु! मैं आपकी उदारता का गुण गाता हूँ, आप मुझे अपनी शरण में रख लें।

ऐसेहू साहब की सेवा सों होत चोरु रे।
आपनी न बूझ, न कहै को राँडरोरु[1] रे॥
मुनि-मन-अगम[2], सुगम माइ-बापु सों।
कृपासिंधु, सहज सखा, सनेही आपु सों॥
लोक-बेद-बिदित बड़ो न रघुनाथ सों।
सब दिन सब देस, सबहिके साथ सों॥
स्वामी सरबग्य[3] सों चलै न चोरी चारकी[4]।
प्रीति पहिचानि यह रीति दरबार की॥
काय न कलेस-लेस, लेत मान मनकी।
सुमिरे सकुचि रुचि जोगवत जनकी॥
रीझे बस होत, खीझे देत निज धाम रे।
फलत सकल फल कामतरु नाम[5] रे॥
बेंचे खोटो दाम न मिलै, न राखे काम रे।
सोऊ तुलसी निवाज्यो[6] ऐसो राजाराम रे॥

विनय-पत्रिका 71

1. **न...राँडरोरु**=बिना काम का रोड़ा 2. मुनियों का मन भी नहीं पहुँच पाता।
3. सब कुछ जाननेवाले 4. सेवक की 5. **कामतरु नाम**=नामरूपी कल्पवृक्ष
6. कृपा करना

तू तो ऐसे स्वामी की सेवा से भी जी चुराता है! न तो तुझे अपनी ही समझ है और न तू दूसरे के कहने का ही कोई ख़याल करता है। तू तो मानों बिना किसी काम के रोड़े के समान है। जिस प्रभु के पास मुनियों का मन भी नहीं पहुँच पाता, वह भक्तों के लिए माता-पिता के समान सुगम हैं। वह कृपा के समुद्र हैं, स्वभाव से ही मित्र और अपने आप ही प्रेम करनेवाले हैं। लोक और वेद यह जानते हैं कि परमात्मा से बड़ा कोई नहीं है पर परमात्मा हर समय और हर स्थान में सबके साथ ही है। जो सब कुछ जाननेवाले हैं, उस स्वामी से सेवक की चोरी नहीं चल सकती। उनके दरबार की यह रीति है कि वहाँ केवल प्रेम की पहचान की जाती है। उनकी सेवा के लिए शरीर को तनिक भी कष्ट देना नहीं पड़ता, वह तो मन के प्रेमभाव को ही मान लेते हैं अर्थात् मन की केवल प्रेम भावना से ही प्रसन्न हो जाते हैं और सुमिरन करने पर सेवक की रुचि का ख़याल करके उसे मनचाही वस्तु देते हुए भी संकोच करते हैं (कि इसे कुछ भी नहीं दिया)। जिस पर प्रसन्न होते हैं, उसके तो वह वश में ही हो जाते हैं और जिस पर नाराज़ होते हैं, उसे भी वह अपने धाम में भेज ही देते हैं। उनके नामरूपी कल्पवृक्ष में सभी प्रकार के फल फलते रहते हैं। जिसको बेचने पर न एक खोटा पैसा मिलता है और जिसको रखने से न कोई काम निकलता है, ऐसे तुलसीदास को भी उन्होंने अपनी कृपा से निहाल कर दिया, ऐसे हैं मेरे प्रभु राम!

जो तुम त्यागो राम हौं तौ नहिं त्यागों। परिहरि[1] पाँय काहि अनुरागों॥
सुखद सुप्रभु तुम सो जगमाहीं। श्रवन-नयन मन-गोचर नाहीं॥
हौं जड़ जीव, ईस रघुराया। तुम मायापति, हौं बस माया॥

1. छोड़कर

हौं तो कुजाचक, स्वामी सुदाता। हौं कुपूत, तुम हितु-पितु-माता॥
जो पै कहुँ कोउ बूझत बातो। तौ तुलसी बिनु मोल बिकातो॥
विनय-पत्रिका 177

हे प्रभु! यदि आप मुझे त्याग भी दें तो मैं आपको नहीं छोड़ूँगा; क्योंकि आपके चरणों को छोड़कर मैं भला फिर किससे प्रेम करूँ? संसार में आपके समान सुखदायी और उदार प्रभु न तो कानों से सुना है, न आँखों से देखा है और न मन से अनुमान में ही आता है। हे प्रभु! मैं अज्ञानी जीव हूँ और आप ईश्वर हैं; आप माया के स्वामी हैं और मैं माया के वश में हूँ; मैं एक नीच भिखारी हूँ और आप, हे स्वामी! उदार दाता हैं। मैं कुपूत हूँ और आप हितैषी माता-पिता हैं (जो पुत्र के कुपूत होने पर भी सदा उसका हित ही किया करते हैं)। यदि कहीं कोई मेरी बात पूछनेवाला होता भी तो यह तुलसी बिना मोल उसके हाथों बिक जाता। (पर आपके सिवाय मुझ जैसे नीच को रखनेवाला कौन है? इसलिए मैं आपको अब नहीं छोड़ सकता।)

जो पै कृपा रघुपति कृपालुकी, बैर औरके कहा सरै[1]।
होइ न बाँको बार भगतको, जो कोउ कोटि उपाय करै॥
तकै नीचु जो मीचु[2] साधुकी, सो पामर तेहि मीचु मरै।
बेद-बिदित प्रहलाद-कथा सुनि, को न भगति-पथ पाउँ धरै?॥...
जोइ जोइ कूप[3] खनैगो परकहँ, सो सठ फिरि तेहि कूप परै।
सपनेहुँ सुख न संतद्रोही कहँ, सुरतरु[4] सोउ बिष-फरनि फरै॥
हैं काके द्वै सीस ईसके जो हठि जनकी सीवँ[5] चरै।
तुलसिदास रघुबीर-बाहुबल सदा अभय काहू न डरै॥
विनय-पत्रिका 137

1. कामयाब होना 2. मृत्यु 3. कुआँ 4. कल्पवृक्ष 5. सीमा

जिस पर कृपालु राम की कृपा है, उससे बैर करके कोई क्या कर सकता है? यदि कोई करोड़ों उपाय भी करे, तब भी भक्त का बाल बाँका नहीं हो सकता। जो नीच, साधु-संत की मौत का विचार करता है, वह पापी स्वयं उसी मौत से मरता है। वेदों में प्रसिद्ध प्रह्लाद की कथा सुनकर (हिरण्यकश्यप जो प्रह्लाद को मारना चाहता था, वह स्वयं ही नरसिंह अवतार द्वारा मारा गया।) भला कौन ऐसा होगा जो भक्ति के पथ पर क़दम नहीं रखेगा? जो दूसरे के लिए कुआँ खोदेगा, वह दुष्ट स्वयं उसी कुएँ में गिरेगा। संत से द्रोह करनेवाले को कभी सपने में भी सुख नहीं मिलता। उसके लिए कल्पवृक्ष में भी विष का ही फल फलता है। किसके दो सिर हैं जो प्रभु के भक्त की सीमा लाँघेगा अर्थात् प्रभु के भक्त का विरोध करेगा? तुलसीदास जी कहते हैं कि जिसके पीछे प्रभु की भुजाओं का बल है, वह किसी से नहीं डरता। वह सदा के लिए निर्भय हो जाता है।

नाम

तुलसीदास जी अपने को सब तरह से दीन-हीन और सभी धर्म-कर्मों से विहीन मानते हैं पर उन्हें इसकी कोई चिंता नहीं है। वह केवल नाम के भरोसे निश्चिंत हैं। नाम ही उनके लिए माता, पिता, स्वामी और सभी अभिलाषाओं को पूरा करनेवाला कल्पवृक्ष या कामधेनु है। नाम ही स्वार्थ और परमार्थ सबकी सिद्धि करानेवाला है। जिसे राम से भी अधिक नाम प्यारा है, उसका कल्याण सदा ही निश्चित है। इसलिए तुलसीदास जी प्रभु से एकमात्र यही वर माँगते हैं कि नाम से उनका प्रेम निभ जाए।

नीचे दिए गए पदों में तुलसीदास जी ने इन्हीं भावनाओं को व्यक्त किया है:

सब अंग हीन, सब साधन बिहीन,
मन-बचन मलीन, हीन कुल-करतूति हौं।
बुधि-बल-हीन, भाव-भगति-विहीन, हीन,
गुन, ग्यानहीन, हीन भाग हूँ बिभूति[1] हौं॥
तुलसी गरीब की गई-बहोर[2] रामनामु,
जाहि जपि जीहँ रामहू को बैठो धूति[3] हौं।
प्रीति रामनामसों प्रतीति रामनामकी,
प्रसाद रामनामकें पसारि पाय सूतिहौं॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 69

मैं (योग के आठों) अंगों से हीन, सभी साधनों से रहित, मन और वचन से मलिन तथा कुल और कर्मों से गया-बीता हूँ। मैं बुद्धि-बल से हीन, भाव-भक्ति से रहित, गुणहीन, ज्ञानहीन तथा भाग्य और धन-संपत्ति से भी रहित हूँ। इस ग़रीब तुलसी की बिगड़ी बनानेवाला तो केवल रामनाम है जिसका सुमिरन कर मैंने राम को भी ठग लिया है। मुझे केवल रामनाम से ही प्रीति है, रामनाम का ही विश्वास है और रामनाम की ही कृपा से मैं पैर पसारकर सोता हूँ अर्थात् निश्चिंत बना हुआ हूँ।

जोग न बिरागु, जप, जाग[4], तप, त्यागु, ब्रत,
तीरथ न धर्म जानौं, बेदबिधि किमि है।
तुलसी-सो पोच[5] न भयो है, नहिं ह्वैहै कहूँ,
सोचैं सब, याके अघ[6] कैसे प्रभु छमिहैं॥

1. वैभव 2. बिगड़ी हुई को बनानेवाला 3. ठग लेना 4. यज्ञ
5. नीच 6. पाप

मेरें तौ न डरु, रघुबीर! सुनौ, साँची कहौं,
खल अनखैहैं[1] तुम्हैं, सज्जन न गमिहैं[2]।
भले सुकृती[3] के संग मोहि तुलाँ तौलिए तौ,
नामकें प्रसाद भारु मेरी ओर नमिहैं॥

कवितावली, उत्तरकाण्ड 71

न तो मैं योग ही जानता हूँ और न मुझे वैराग्य, जप, यज्ञ, तप, त्याग, व्रत, तीर्थ या धर्म का ही ज्ञान है। मुझे तो यह भी मालूम नहीं कि वेद का क्या विधान है? तुलसी के समान नीच न तो कोई हुआ है और न कहीं होगा। सब यही सोचते हैं कि न जानें, इसके पापों को प्रभु कैसे क्षमा करेंगे। पर हे प्रभु! सुनें, मैं सच कहता हूँ कि मुझे इसका कोई डर नहीं है। (मुझ पापी को क्षमा करने से) दुष्ट लोग भले ही आपसे नाराज़ होंगे, पर सज्जनों को इससे दु:ख नहीं होगा, (क्योंकि वे जानते हैं कि) यदि आप मुझे किसी अच्छे पुण्यात्मा के साथ तराज़ू पर तोलेंगे तो नाम की कृपा से मेरी ओर का पलड़ा ही झुकेगा अर्थात् भारी होगा।

प्रिय रामनामतें जाहि न रामो।
ताको भलो कठिन कलिकालहुँ आदि-मध्य-परिनामो॥
सकुचत समुझि नाम-महिमा मद-लोभ-मोह-कोह-कामो।
राम-नाम-जप-निरत सुजन पर करत छाँह घोर घामो॥
नाम-प्रभाउ सही जो कहै कोउ सिला[4] सरोरुह[5] जामो।
जो सुनि सुमिरि भाग-भाजन भइ सुकृतसील[6] भील-भामो[7]॥...

1. नाराज़ होना 2. दु:खी होना 3. पुण्यात्मा 4. पत्थर 5. कमल
6. पुण्यवती, शीलवती 7. भीलनी (शबरी)

रामतें अधिक नाम-करतब, जेहि किये नगर-गत[1] गामो[2]।
भये बजाइ दाहिने[3] जो जपि तुलसिदाससे बामो[4]॥

विनय-पत्रिका 228

जिसे राम भी नाम से अधिक प्यारे नहीं लगते, उसी का इस घोर कलियुग में आदि, मध्य और अंत – तीनों काल में कल्याण होगा। नाम की महिमा के सामने काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार लज्जित होकर भाग जाते हैं। नाम के सुमिरन में लगे हुए भक्त पर कड़ी धूप भी छाया कर देती है अर्थात् महान से महान दु:ख भी सुखरूप बन जाता है। यदि कोई कहे कि नाम के प्रभाव से पत्थर पर कमल उग आया तो उसे सत्य समझना चाहिए। इसी नाम का सुमिरन करने और इसे अपने अंदर सुनने (भजन करने) से भीलनी शबरी का भी भाग्य खुल गया और वह पुण्यवती और शीलवती बन गई। नाम की शक्ति राम की शक्ति से भी अधिक है क्योंकि नाम का अभ्यास अपवित्र मनुष्यों को भी परम पवित्र महात्मा बना देता है। इस नाम को ही जपकर तुलसीदास जैसे बुरे व्यक्ति भी निश्चित रूप से महान बन गए।

रामनाम मातु-पितु, स्वामि समरथ, हितु,
आस रामनाम की, भरोसो रामनाम को।
प्रेम रामनाम ही सों, नेम रामनाम ही को,
जानौं ना मरम पद दाहिनो न बाम को॥
स्वारथ सकल परमारथ को रामनाम,
रामनाम हीन तुलसी न काहू काम को।

1. नगर निवासी 2. ग्रामीण 3. भले 4. बुरे

रामकी सपथ, सरबस मेरें रामनाम,
कामधेनु-कामतरु मोसे छीन छाम[1] को॥
कवितावली, उत्तरकाण्ड 178

नाम ही मेरी माता और मेरा पिता, मेरा समर्थ स्वामी और मेरा हितैषी है। मुझे केवल नाम की ही आस है और केवल नाम का ही भरोसा है। नाम से ही मेरा प्रेम है और नाम जपना ही मेरा नियम है। किसी और अनुकूल या प्रतिकूल मार्ग का रहस्य मैं नहीं जानता। नाम ही सभी स्वार्थ और परमार्थ को सिद्ध करनेवाला है और इस नाम के बिना तुलसी किसी भी काम का नहीं है। तुलसीदास जी राम की शपथ लेकर कहते हैं कि नाम ही मेरा सर्वस्व है और यही मेरे जैसे दीन-हीन के लिए कामधेनु और कल्पवृक्ष के समान है।

राम! रावरो नाम साधु-सुरतरु[2] है।
सुमिरे त्रिबिध घाम[3] हरत, पूरत काम,
सकल सुकृत[4] सरसिज[5] को सरु[6] है॥
लाभहूको लाभ, सुखहूको सुख, सरबस,
पतित-पावन, डरहूको डरु है।
नीचेहूको ऊँचेहूको, रंकहूको[7] रावहूको[8]
सुलभ, सुखद आपनो-सो घरु है॥
बेद हू, पुरान हू, पुरारि[9] हू पुकारि कह्यो,
नाम-प्रेम चारिफलहूको फरु है।
ऐसे राम-नाम सों न प्रीति, न प्रतीति मन,
मेरे जान, जानिबो सोई नर खरु[10] है॥

1. दीन-दुर्बल 2. साधुओं के लिए कल्पवृक्ष 3. **त्रिबिध घाम**=तीनों प्रकार के ताप
4. पुण्यरूपी 5. कमल 6. सरोवर 7. दरिद्र को 8. राजा को
9. शिव 10. गधा

नाम-सो न मातु-पितु, मीत-हित, बंधु-गुरु,
साहिब, सुधी[1], सुसील, सुधाकरु[2] है।
नामसों निबाह नेहु, दीनको दयालु! देहु,
दास तुलसीको, बलि[3], बड़ो बरु है॥
विनय-पत्रिका 255

हे प्रभु! आपका नाम साधुओं के लिए कल्पवृक्ष है। नाम के सुमिरन से तीनों ताप यानी दु:ख (दैहिक, दैविक और भौतिक) दूर हो जाते हैं और सारी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। नाम सभी पुण्यरूपी कमलों का सरोवर है। नाम लाभ का भी लाभ, सुख का भी सुख और (भक्तों का) सर्वस्व है। यह पतितों को पवित्र करनेवाला और डरावने (यमराज) को भी डरानेवाला है। यह नाम ऊँच-नीच और राजा-रंक, सभी के लिए सुलभ है (अर्थात् नाम का अभ्यास बिना किसी भेदभाव के सभी कर सकते हैं)। यह नाम अपने घर के समान सुख-आराम देनेवाला है। वेदों ने, पुराणों ने और शिव ने भी पुकार-पुकारकर कहा है कि नाम से प्रेम होना ही चारों (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) फलों से श्रेष्ठ फल है। तुलसीदास जी कहते हैं कि जिस मनुष्य का मन ऐसे रामनाम में प्रेम और विश्वास नहीं करता, वह मेरी समझ में भार ढोनेवाला पशु है। माता, पिता, मित्र, हितैषी, भाई, गुरुजन, स्वामी, विद्वान और सदाचारी – कोई भी नाम के समान अमृत प्रदान करनेवाला नहीं है। तुलसीदास जी कहते हैं कि हे दीनों पर दया करनेवाले! मैं आप पर बलिहारी जाता हूँ। मुझ दास को यही एक बड़ा वर दें कि नाम से मेरा नेह (प्रेम) निभ जाए।

तुलसीदास जी बार-बार इस बात की ओर हमारा ध्यान दिलाना चाहते हैं कि नाम ही परमार्थ का आधार और संसार-सागर को पार करने का

1. विद्वान 2. अमृत की वर्षा करनेवाला 3. बलिहारी जाना

एकमात्र साधन है। उनके अनुसार योग, वैराग्य, तप, तीर्थ, व्रत आदि बाहरमुखी साधनों द्वारा परमार्थ की प्राप्ति करना उसी प्रकार निष्फल है जिस प्रकार धूल के कणों की रस्सी बटकर मस्त हाथी को बाँधने की कोशिश करना। जैसे सूर्य के उगने से अंधकार दूर हो जाता है और प्रकाश फैल जाता है, ठीक उसी प्रकार नाम के सुमिरन से अज्ञान दूर हो जाता है और हृदय प्रकाश से भर जाता है। पर नाम का सुमिरन प्रेम के साथ किया जाना चाहिए। इससे होनेवाले अनंत लाभ का वर्णन करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि दृढ़ प्रेम और विश्वास के साथ नाम के अभ्यास में लगे हुए साधक पर कृपालु परमात्मा अवश्य ही एक न एक दिन कृपा करते हैं और साधक को पूरी तरह निहाल कर देते हैं।

नीचे दिए गए पदों में तुलसीदास जी ने बड़े सुंदर ढंग से इन भावों को व्यक्त किया है:

राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे[1]।
घोर भव-नीर-निधि[2] नाम निज नाव रे॥
एक ही साधन सब रिद्धि-सिद्धि साधि रे।
ग्रसे कलि-रोग जोग-संजम-समाधि रे॥
भलो जो है, पोच[3] जो है, दाहिनों जो, बाम रे।
राम-नाम ही सों अंत सब ही को काम रे॥
जग नभ-बाटिका रही है फलि फूलि रे।
धुवाँ कैसे धौरहर[4] देखि तू न भूलि रे॥
राम-नाम छाड़ि जो भरोसो करै और रे।
तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर[5] कौर रे॥

विनय-पत्रिका 66

1. पगले 2. संसार-समुद्र 3. नीच 4. महल 5. मूर्ख

ऐ पगले! रामनाम का सुमिरन करो। इस भयानक संसार-सागर (को पार करने) के लिए नाम ही सच्ची नाव है। इसी एक साधन के द्वारा तू सब ऋद्धि-सिद्धियों को भी प्राप्त कर सकता है। योग, संयम, समाधि आदि (हठकर्मों के साधनों) को कलिकालरूपी रोग ने ग्रस लिया है। भले-बुरे, सदाचारी-दुराचारी जो भी हैं, सबको अंत में एक रामनाम से ही काम पड़ता है अर्थात् एक नाम ही अंत में सबका निस्तार करता है। यह संसार आकाश में फले-फूले दिखाई देनेवाले बग़ीचे के समान (झूठा) है। धुएँ के महलों को देखकर (जो क्षण-क्षण में दिखाई देनेवाले और मिटनेवाले हैं) तू मत भूल। जो प्रभु के नाम को छोड़कर किसी दूसरे का भरोसा करता है, वह मूर्ख मानों सामने परोसे हुए भोजन को छोड़कर एक-एक कौर के लिए (कुत्ते की तरह) घर-घर माँगता फिरता है।

रुचिर रसना तू राम राम राम क्यों न रटत।
सुमिरत सुख सुकृत बढ़त, अघ-अमंगल घटत॥
बिनु श्रम[1] कलि-कलुषजाल[2] कटु कराल[3] कटत।
दिनकरके[4] उदय जैसे तिमिर-तोम[5] फटत॥
जोग, जाग, जप, बिराग, तप, सुतीरथ-अटत[6]।
बाँधिबेको भव-गयंद[7] रेनुकी[8] रजु बटत॥
परिहरि सुर-मनि[9] सुनाम, गुंजा लखि लटत[10]।
लालच लघु तेरो लखि, तुलसि तोहिं हटत[11]॥

विनय-पत्रिका 129

1. परिश्रम 2. कलियुग के पापों का जाल 3. भयानक 4. सूर्य के 5. अंधकार पुंज 6. श्रेष्ठ तीर्थों पर घूमना 7. संसाररूपी हाथी। 8. धूल की 9. देवताओं की मणि 10. लुभाना। 11. फटकारना

हे सुंदर रसना! तू नाम की रट क्यों नहीं लगाती? इस रामनाम के सुमिरन से सुख और सद्‌गुण बढ़ते हैं तथा पाप और अशुभ कर्म घटते हैं। नाम के सुमिरन द्वारा कलियुग के कठिन और भयानक पाप बिना परिश्रम के ही कट जाते हैं, जैसे सूर्य के उदय होने से अंधकार का समूह बिखर जाता है। नाम को छोड़ योग, यज्ञ, जप, तप, वैराग्य और तीर्थाटन करना वैसा ही है जैसे संसाररूपी हाथी को बाँधने के लिए धूल के कणों की रस्सी बटना। सुंदर नामरूपी चिंतामणि को छोड़कर विषयरूपी घुँघचियों या कौड़ियों के तुच्छ लोभ में तुझे पड़े हुए देखकर तुलसी तुझे फटकार रहा है।

राम राम जपु जिय सदा सानुराग[1] रे।
कलि न बिराग, जोग, जाग[2], जप, त्याग रे॥...
रामको बिसारिबो निषेध-सिरताज[3] रे॥
राम-नाम महामनि, फनि[4] जगजाल रे।
मनि लिये फनि जियै, ब्याकुल बिहाल[5] रे॥
राम-नाम कामतरु देत फल चारि रे।
कहत पुरान, बेद, पंडित, पुरारि[6] रे॥
राम-नाम प्रेम-परमारथको सार रे।
राम-नाम तुलसी को जीवन-आधार रे॥

विनय-पत्रिका 67

हे जीव! तू सदा प्रेम के साथ प्रभु के नाम का सुमिरन कर। इस कलिकाल में वैराग्य, योग, यज्ञ, तप और दान से कुछ नहीं बनता। नाम का सुमिरन

1. प्रेम के साथ 2. यज्ञ 3. सबसे बढ़कर मनाही वाला कर्म
4. साँप 5. बेचैन 6. शिव

शास्त्रों में विधान किए गए सभी कर्मों का राजा अर्थात् राज-विधि है और इस नाम के सुमिरन को भुलाना सबसे बढ़कर निषिद्ध कर्म है। नाम महामणि है और यह संसार का जाल साँप है। जैसे मणि को ले लेने से साँप व्याकुल और बेचैन होकर मरा हुआ-सा हो जाता है, वैसे ही नामरूपी मणि के ले लेने से यह संसार का जाल नष्टप्राय: हो जाता है। वेद, पुराण, ज्ञानीजन और शिव – सभी कहते हैं कि नाम वह कल्पवृक्ष है जो चारों फलों (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) को देनेवाला है। नाम ही प्रेम और परमार्थ का सार है और नाम ही तुलसी के जीवन का आधार है।

सुमिरु सनेहसों तू नाम रामरायको।
संबल[1] निसंबलको, सखा असहायको॥
भाग है अभागेहूको, गुन गुनहीनको।
गाहक गरीबको, दयालु दानि दीनको॥
कुल अकुलीन को, सुन्यो है बेद साखि[2] है।
पाँगुरेको[3] हाथ पाँय, आँधरेको आँखि है॥
माय-बाप भूखेको, अधार निराधारको।
सेतु[4] भव-सागर को, हेतु सुखसारको॥
पतितपावन राम-नाम सो न दूसरो।
सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो॥

विनय-पत्रिका 69

हे जीव! तुम प्रेम से प्रभु के नाम का सुमिरन करो क्योंकि राह-ख़र्च से रहित राहियों का यही राह-ख़र्च है अर्थात् बेसहारों का सहारा है तथा असहायों की सहायता करनेवाला साथी है। यह भाग्यहीनों का भाग्य और

1. सहारा, रास्ते का ख़र्च या खाना 2. गवाह 3. लँगड़ों-लूलों के 4. पुल

गुणहीनों का गुण है अर्थात् भाग्यहीनों को भाग्यशाली और गुणहीनों को गुणी बनानेवाला है। यह ग़रीबों का सम्मान करनेवाला ग्राहक और दीनों के लिए दयालु और दानी है। यह नाम कुलहीनों का उच्च कुल और लँगड़े-लूलों का हाथ-पैर तथा अंधों की आँख है – ऐसा मैंने सुना है और वेद भी इस सत्य की गवाही देता है। यह भूखों का माँ-बाप और निराधारों का आधार है। संसार-सागर को पार करने के लिए यह पुल है और सार सुख यानी परम आनंद का दाता है। नाम के समान पतितों का उद्धार करनेवाला कोई दूसरा नहीं है जिसके सुमिरन करने से ऊसर भूमि जैसा तुलसीदास भी सुंदर उपजाऊ भूमि बन गया अर्थात् तुलसीदास का भक्ति-प्रेम से ख़ाली जीवन भक्ति-प्रेम के पौधों से लहलहा उठा।

राम-नाम के जपे जाइ जियकी जरनि।
कलिकाल अपर[1] उपाय ते अपाय[2] भये,
जैसे तम नासिबेको चित्रके तरनि[3]॥
करम-कलाप परिताप पाप-साने सब,
ज्यों सुफूल फूले तरु[4] फोकट फरनि।
दंभ, लोभ, लालच, उपासना बिनासि नीके,
सुगति[5] साधन भई उदर भरनि॥...
मति[6] राम-नाम ही सों, रति[7] राम-नाम ही सों,
गति राम-नाम ही की बिपति-हरनि।
राम नामसों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक,
तुलसी ढरैंगे राम आपनी ढरनि॥

विनय-पत्रिका 184

1. दूसरे 2. नाश 3. सूर्य 4. वृक्ष 5. मुक्ति की बात
6. बुद्धि 7. प्रेम

प्रभु के नाम के जपने से ही मन की जलन मिटती है। इस कलिकाल में अन्य साधन उसी तरह व्यर्थ हैं जिस तरह अँधेरा दूर करने के लिए सूर्य का केवल बनावटी चित्र। सभी बाहरी कर्मकांड दु:ख और पाप में सने हैं। ये केवल लुभावने फूल फूलनेवाले, पर फल न देनेवाले वृक्ष के समान व्यर्थ हैं। दंभ, लोभ और लालच ने उपासना का भलीभाँति नाश कर दिया है और मुक्ति का उपदेश देना केवल पेट पालने का साधन हो गया है। इसलिए केवल नाम में ही अपनी बुद्धि को लगाना चाहिए अर्थात् नाम के सुमिरन-भजन से ही अपनी बुद्धि को शुद्ध करना चाहिए। प्रभु के नाम से ही प्रेम करना चाहिए और नाम ही की शरण लेनी चाहिए क्योंकि केवल नाम की साधना ही हमारी विपत्तियों को दूर कर सकती है। तुलसीदास जी कहते हैं कि हमें चाहिए कि नाम में ही प्रेम और विश्वास रखें। परमात्मा कभी तो अपनी मौज से दया करेंगे ही।

नीचे दिए गए पद में भी तुलसीदास जी ने इसी बात पर ज़ोर दिया है कि नाम के अभ्यास के बिना किसी भी तरह जीव का सांसारिक दु:खों से छुटकारा नहीं हो सकता:

राम राम राम जीह जौलौं तू न जपिहै।
तौलौं, तू कहूँ जाय, तिहूँ ताप तपिहै॥
सुरसरि-तीर बिनु नीर दुख पाइहै।
सुरतरु[1] तरे तोहि दारिद सताइहै॥
जागत, बागत[2], सपने न सुख सोइहै।
जनम-जनम, जुग जुग जग रोइहै॥
छुटिबेके जतन बिसेष बाँधो जायगो।

1. देवताओं का वृक्ष 2. घूमते-फिरते

ह्वैहै विष भोजन जो सुधा-सानि खायगो॥
तुलसी तिलोक, तिहूँ काल तोसे दीनको।
रामनाम ही की गति जैसे जल मीन को॥

विनय-पत्रिका 68

जब तक तुम प्रभुनाम का सुमिरन नहीं करते, तब तक कहीं भी जाओ, तीनों तापों (दैहिक, दैविक और भौतिक दु:खों) से जलते ही रहोगे। गंगा के किनारे भी तुम पानी बिना दु:खी रहोगे और कल्पवृक्ष के नीचे भी तुम्हें दरिद्रता ही सताएगी। जागते, घूमते-फिरते और सपने में भी तुम कहीं सुख की नींद नहीं सो सकोगे और तुम्हें युगों-युगों तक जन्म ले लेकर संसार में रोना पड़ेगा। नाम से विमुख होकर तुम संसार से छूटने के लिए जो भी यत्न करोगे, उससे तुम और भी अधिक बंधन में बँधते जाओगे और अमृत का भोजन भी तुम्हारे लिए विष का भोजन हो जाएगा। जैसे मछली के जीवन को केवल जल का ही आधार होता है, वैसे ही तुलसी जैसे दीन को भी तीनों लोकों और तीनों कालों में केवल रामनाम का ही आसरा है।